ऑर्किड (Orchids)

हिंदी विश्वकोश

खंड २

इलेक्ट्रानिकी से काहिरा तक
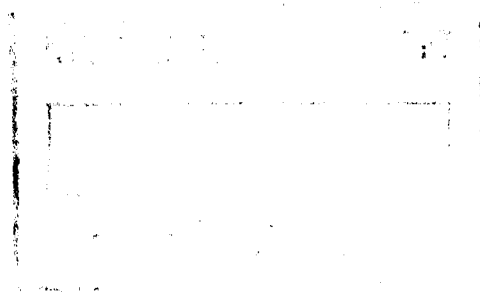
नागरीप्रचारिणी सभा
वाराणसी

संपादक

धीरेंद्र वर्मा : भगवतशरण उपाध्याय

गोरखप्रसाद (दिवंगत) : फूलदेवसहाय वर्मा

हिंदी विश्वकोश के संपादन एवं प्रकाशन का संपूर्ण व्यय
भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने वहन किया

मूल्य

साधारण संस्करण १२॥) विशेष संस्करण १५)

प्रथम संस्करण

शकाब्द १८८४ सं० २०१९ वि० १९६२ ई०

भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी
में मुद्रित

संपादकसमिति

डा० संपूर्णानंद (अध्यक्ष)
श्री कृष्णदयाल भार्गव (सदस्य; प्रतिनिधि, केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय)
श्री के० सच्चिदानंदम् (सदस्य; प्रतिनिधि, केंद्रीय अर्थ मंत्रालय)
श्री प्रधान संपादक (नियोज्य)
डा० भगवतशरण उपाध्याय (मानवतादि संपादक)
प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा (विज्ञान संपादक)
श्री देवकीनंदन केडिया (सदस्य; अर्थमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी)
डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा (मंत्री तथा संयोजक; प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी)

परामर्शमंडल के सदस्य

डा० संपूर्णानंद, राज्यपाल, राजस्थान, जयपुर, (अध्यक्ष)।

श्री कमलापति त्रिपाठी, वित्तमंत्री, उत्तरप्रदेश सरकार, लखनऊ।

श्री कृष्णदयाल भार्गव, उपसचिव, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

श्री के० सच्चिदानंदम्, उपवित्त सलाहकार, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

डा० विश्वनाथप्रसाद, निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, फैजबाजार, दरियागंज, दिल्ली।

डा० दीनदयालु गुप्त, अध्यक्ष, हिंदी समिति, सूचना निदेशालय, उत्तरप्रदेश सरकार, तथा प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

डा० निहालकरण सेठी, सिविल लाइंस, आगरा।

डा० शिवपूजन सहाय, हिंदी साहित्य संमेलन भवन, कदमकुआँ, पटना।

प्रधान संपादक, हिंदी विश्वकोश, (संयुक्त मंत्री)।

श्री देवकीनंदन केडिया, अर्थमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा (मंत्री तथा संयोजक), प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

संपादकसहायक

श्री भगवानदास वर्मा (विज्ञान)।
श्री चंद्रचूड़मणि (भाषा-साहित्य)।
श्री प्रभाकर द्विवेदी (मानवतादि)।
डा० नवरत्न कपूर (विज्ञान)।
श्री रमाशंकर पांडेय (विज्ञान)।

चित्रकार

श्री बैजनाथ वर्मा।

संपादकीय प्राक्कथन

हिंदी विश्वकोश का यह दूसरा खंड आपके हाथों में है। इसके प्रकाशन में अत्यधिक समय लग गया है। आशा थी कि यह खंड सन् १९६१ के अंत तक प्रकाशित हो जायगा, परंतु कई अनिवार्य कारणों से इसकी छपाई बीच बीच में बंद कर देनी पड़ी। विलंब का प्रधान कारण विश्वकोश में प्रयुक्त होनेवाली प्राविधिक शब्दावली तथा वैज्ञानिक चिह्नों आदि के संबंध में नागरीप्रचारिणी सभा तथा शिक्षा मंत्रालय में समान दृष्टिकोण का अभाव था। सभा सर्वथा भारतीय चिह्नों का नागरी में उपयोग करना चाहती थी और शिक्षा मंत्रालय वैज्ञानिक लेखों में अंतरराष्ट्रीय चिह्नों के रोमन लिपि में उपयोग का हिमायती था। अंत में नागरी और रोमन दोनों लिपियों में अंतरराष्ट्रीय चिह्नों का उपयोग करना निश्चित हुआ। इस संबंध के पत्रव्यवहार में प्रायः छः महीने लग गए और सारे वैज्ञानिक लेखों का इस दृष्टि से फिर से संपादन करना पड़ा। दूसरा अत्यंत दुःखद कारण विश्वकोश के विज्ञानानुभाग के संपादक डा० गोरखप्रसाद का निधन था। सन् १९६१ की ५ मई को उनका आकस्मिक निधन हुआ जिससे विश्वकोश की प्रगति में अचानक रुकावट आ गई, जो विज्ञानानुभाग के नए संपादक प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा की जुलाई, १९६१ में की गई नियुक्ति तक बनी रही। विश्वकोश के प्रधान संपादक डा० धीरेंद्र वर्मा ने नवंबर, १९६१ के आरंभ में त्यागपत्र दे दिया और डा० भगवतशरण उपाध्याय को उनके दायित्वों का भार भी वहन करना पड़ा। इसके अतिरिक्त प्रेस ने भी कुछ ढिलाई दिखाई जिससे विश्वकोश के प्रकाशन में विलंब होना स्वाभाविक था। जैसे तैसे कठिनाइयों को पारकर यह खंड प्रस्तुत हुआ।

इस बीच विश्वकोश के प्रशासन में भी कुछ परिवर्तन हुए---(१) पुराना परामर्शमंडल बहुत बड़ा था, जिससे उसकी बैठकें आवश्यकतानुसार जल्दी जल्दी नहीं हो पाती थीं। इससे सभा और शिक्षा मंत्रालय ने एक नया परामर्शमंडल संगठित करना आवश्यक समझा। नए परामर्शमंडल के सदस्यों की नामावली इस खंड के आरंभ में दी हुई है। (२) दूसरा परिवर्तन संपादकसमिति के संगठन में हुआ जिसे सभा तथा शिक्षा मंत्रालय ने संमिलित रूप से संपन्न किया। उसके सदस्यों की नामावली भी इस खंड के आरंभ में दी हुई है।

विश्वकोश के प्रथम खंड का देश में स्वागत हुआ और पत्रपत्रिकाओं में उसकी पर्याप्त प्रशंसा हुई; साथ ही, अनेक सुझाव भी आए जिनपर संपादकों ने बड़े आदर और लगन से विचार किया। कुछ सुझाव स्वीकार कर विषयसामग्री में उनके अनुकूल संशोधन भी हुए। पर पत्रपत्रिकाओं में जो एकाध मत व्यक्त किए गए उनके संदर्भ में कुछ वक्तव्य यहाँ आवश्यक है।

दिवंगत नगेंद्रनाथ बसु के हिंदी विश्वकोश के संबंध में साधारणतः एक भ्रामक धारणा बन गई है। संभवतः इस धारणा को बनाने में विश्वकोश के प्रथम खंड का प्राक्कथन भी कुछ अंश तक सहायक हुआ है। यह प्रकृत्या विश्वकोश नहीं, शब्दकोश और विश्वकोश दोनों है जिसमें उपसर्गों तक के संयोग से बननेवाले विभिन्न शब्दों का समावेश हुआ है। विश्वकोश विषयप्रवण होता है, शब्दार्थप्रवण नहीं। हमारे और बसु महोदय के लक्ष्य में ही आधारिक भिन्नता है, अतः उस संदर्भ में हमारे प्रयास को नहीं देखना चाहिए।

यही भ्रांति ऐसे आलोचकों में भी दिखाई पड़ेगी जो शब्दकोश और विश्वकोश के मौलिक अंतर को नहीं समझ सके हैं। इसी कारण उन्होंने 'आँत', 'अँगूठा', 'आँसू' जैसे शब्दों को भी विश्वकोश में देखने की आशा की है। कुछ लोगों ने 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' को हमारे आदर्श मानने का अभिप्राय भी गलत समझा है। उसे आदर्श मानने का अर्थ केवल इतना है कि हमने उस विश्वकोश के विषयसंचयन की दृष्टि, उसका वर्णक्रमीय संगठन तथा साधारण व्यवस्था अपनाई है। उसकी सामग्री का हमने अनुवाद नहीं किया और इसीलिये ब्रिटैनिका के पहले खंड की सामग्री, खोजने पर भी, हमारे पहले खंड में नहीं मिलेगी। इतना ही नहीं, बल्कि ब्रिटैनिका ने प्राच्य देशों के जिन विषयों को अज्ञानवश अथवा महत्वहीन समझकर छोड़ दिया है उन्हें, यदि हमने आवश्यक समझा है तो, अपने कोश में स्थान दिया है, जो एक प्रकार से विश्वकोश के संदर्भ में सुधार भी है।

अनेक विषय, जो विश्वकोश के प्रथम खंड में नहीं मिले या आगे के खंडों में नहीं मिलेंगे, उनके प्रति हम श्रद्धावान् हैं, पर दस खंडों की परिमिति के कारण विवश हैं। उनके संबंध की सामग्री का उपयोग हम तभी कर सकते हैं जब हमारी योजना की सीमा और खंडों की संख्या बढ़ जाय। तथापि बहुत विनीत होकर हम स्वीकार करते हैं कि इस दिशा में, जैसे अन्य दिशाओं में भी, त्रुटियाँ रह गई हैं और आगे भी रह सकती हैं, यद्यपि उनके उन्मूलन के लिये हम निरंतर प्रयत्नशील हैं। हमारे प्रथम खंड का पहला संस्करण समाप्तप्राय है और हम उसके दूसरे संस्करण को अधिकाधिक परिष्कृत और उपादेय बनाने के मार्गोपाय की खोज में हैं।

विश्वकोश का निर्माण अनन्य मेधाओं के संयोग और सैकड़ों वर्षों के परिश्रम का परिणाम होता है। हम तो यहाँ उसका केवल लघु आरंभ कर रहे हैं, बीज बो रहे हैं, जो, हम आशा करते हैं, अगले वर्षों में महत्तर मेधाओं के सक्रिय संयोग से हिंदी के लिये वटवृक्ष बन सकेगा। हमें संतोष है कि अनेक संस्थाएँ, जैसा प्राप्त पत्रों से प्रकट है, हमारे विश्वकोश की पद्धति तथा प्रक्रिया को प्रमाण और आदर्श रूप में ग्रहण कर रही हैं। पत्रपत्रिकाओं और विद्वानों के पत्रों से प्राप्त सुझावों और टिप्पणियों का हम स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि उनके सुझावों से हमारा मार्ग निःशूल तथा प्रशस्त होगा।

प्रस्तुत खंड के निर्माण में भी पूर्ववत् विषयों के अधिकारी तथा मूर्धन्य विद्वानों का सहयोग मिला है। संपादक उनकी गवेषणाओं तथा खोजों का उपयोग कर उनके चिरऋणी हैं। उनके नामों की सूची संलग्न है। इससे विश्वकोश के विषयों के प्रतिपादन की प्रामाणिकता स्वतःसिद्ध है।

विज्ञानानुभाग के संपादक डा० गोरखप्रसाद का निधन हमारे लिये अत्यंत कष्टकर हुआ। उनकी प्रतिभा और प्रयास का समुचित उल्लेख हम शब्दतः नहीं कर पाएँगे। हमारी प्रगति में तो उनकी मृत्यु बड़ी हानिप्रद सिद्ध हुई ही, हिंदी क्षेत्र में विज्ञान के विषय निर्माण में भी उससे बड़ी क्षति हुई। इसी प्रकार हमारे परामर्शमंडल और संपादकसमिति के अध्यक्ष दिवंगत पंडित गोविंदबल्लभ पंत के वरद हस्त का हट जाना भी हमारे लिये अत्यंत दारुण हुआ है। विश्वकोश की प्रगति में उनका आशीर्वाद सहायक था।

शिक्षा मंत्रालय, विशेषकर शिक्षामंत्री डा० कालूलाल श्रीमाली और उसके संयुक्त सचिव, श्री रमाप्रसन्न नायक, आई० सी० एस०, ने जिस स्नेह से विश्वकोश के कार्य में सहायता की है, उसका आभारोल्लेख करते हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। नागरीप्रचारिणी सभा के अवैतनिक प्रधान मंत्री और विश्वकोश के संयोजक मंत्री, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, ने इस खंड के प्रकाशन में बड़ी तत्परता बरती और प्रत्येक प्रकार से सहायता की है। हमारे नवोदित राष्ट्र के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेंद्र प्रसाद ने जो विश्वकोश का समर्पण स्वीकार किया और उसकी प्रगति में निरंतर जो अनुराग दिखाते रहे इससे उनके प्रति हम विशेष आभारी हैं और आशा करते हैं कि उनके आशीर्वाद से यह राष्ट्रीय प्रकाशन सदा शक्ति पाता रहेगा।

द्वितीय खंड के लेखक

अं० प्र० स० — **अंबिकाप्रसाद सक्सेना,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, गवर्नमेंट सायन्स कालेज, लश्कर, ग्वालियर।

अ० कु० वि० — **अवनींद्रकुमार विद्यालंकार,** पत्रकार, इतिहास सदन, कनाट सर्कस, नई दिल्ली–१।

अ० गो० शिं० — **अनंत गोपाल शिंगरन,** डेप्युटी डाइरेक्टर, जिऑलाजिकल सर्वे ऑव इंडिया, कलकत्ता।

अ० दे० वि० — **अत्रिदेव विद्यालंकार,** काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।

अ० मो० — **अरविंद मोहन,** एम० एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

अ० ला० लूं० — **अवंतिलाल लूंबा,** एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

आ० बे० — **आस्कर बेरक्रूसे,** एस० जे०, एल० एस० एस०, प्रोफेसर ऑव होली स्क्रिप्चर, सेंट अलबर्ट्स सेमिनरी, राँची।

इ० अ० — **इकबाल अहमद,** भूतपूर्व प्राध्यापक, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

उ० शं० प्र० — **मेजर उमाशंकर प्रसाद,** ए० एम० सी० (आर०), एम० बी० बी० एस०, डी० एम० आर० डी० (इंग्लैंड), डी० एम० आर० टी० (इंग्लैंड), रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।

उ० शं० श्री० — **उमाशंकर श्रीवास्तव,** एम० एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, प्राणिशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

उ० सिं० — **उजागर सिंह,** एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ए० दा० वा० — **एरचशाह दारबशाह वाडवाला,** बी० एस-सी०, बी० एस-सी० (टेक०), पी-एच० डी० (टेक०, बांबे), पी-एच० डी० (मैंचेस्टर), ए० आर० आई० सी०, ए० एम० आइ० आइ० केमि० ई०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट सेंट्रल टेक्स्टाइल इंस्टिट्यूट, कानपुर।

ओं० क० — **ओंप्रकाश कपूर,** एम० ए०, एल-एल० बी०, प्राध्यापक, मनोविज्ञान विभाग, हरिश्चंद्र डिग्री कालेज, वाराणसी।

ओं० ना० उ० — **ओंकारनाथ उपाध्याय,** एम० ए०, असिस्टेंट मैनेजर, डेमडिमा टी इस्टेट, पश्चिमी बंगाल।

ओं० प्र० क० — देखिए ओं० क०।

क० त्रि० — **कमलापति त्रिपाठी,** वित्तमंत्री, उत्तरप्रदेश सरकार लखनऊ।

क० दे० मा० — **कपिलदेव मालवीय,** एम० बी० बी एस०, डी० पी० एच०, नगर स्वास्थ्याधिकारी, मेरठ।

क० दे० व्या० — **क० दे० व्यास,** होम सायंस विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

क० प० त्रि० — **करुणापति त्रिपाठी,** एम० ए०, व्याकरणाचार्य, साहित्य शास्त्री, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

क० प्र० सिं० — **कपिलदेवप्रसाद सिंह,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (कैंटब), प्राध्यापक, गणित विभाग, सायन्स कालेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना–५।

क० स० — **कन्हैयालाल सहल,** एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष हिंदी विभाग, बिड़ला आर्ट्स कालेज, पिलानी (राजस्थान)।

का० ना० सिं० — **काशीनाथ सिंह,** एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

का० प्र० — **कार्तिकप्रसाद,** बी० एस-सी०, सी० ई०, सुपरिंटेंडिंग इंजीनियर, पी० डब्ल्यू० डी० (उत्तरप्रदेश), मेरठ।

का० बु० — **कामिल बुल्के,** एस० जे०, डी० फिल०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सेंट जेवियर्स कालेज, मनरेसा हाउस, राँची।

का० स० भा० — **कामेश्वरसहाय भार्गव,** डी० फिल०, पी-एच० डी० (लंदन), प्राध्यापक, वनस्पति विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

कि० अ० र० — **किजियेरी चैकू अब्दुर रहीम,** ऐस्ट्रोफिजिकल लेबॉरेटरी, कोडैकानल, मद्रास।

कृ० द० वा० — **कृष्णदत्त वाजपेयी,** एम० ए०, अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

कृ० दे० — **कृष्णदेव,** एम० ए०, अधीक्षक, पुरातत्व विभाग, भूपाल।

कृ० प्र० सिं० — **कृष्णदेवप्रसाद सिंह,** द्वारा रा० लो० सिं०।

कृ० ब० — **कृष्णबहादुर,** एम० एस-सी०, डी० फिल०, डी० एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

कृ० ब० स० — **कृष्णबहादुर सक्सेना,** असिस्टेंट प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद।

कृ० स० मा० — **कृष्णसरन माथुर,** एम० डी०, एफ० आर० सी० पी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, डिपार्टमेंट ऑव मेडिसिन, सरोजिनी नायडू मेडिकल कालेज, आगरा।

कै० ना० सिं० — **कैलाशनाथ सिंह,** द्वारा रा० लो० सिं०।

के० श० अ० — **केशवशरण अग्रवाल** द्वारा डा० सो० म०।

कें० जा० डा० — **केंडनाक जॉन डामनिक,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

खा० चं० — **खानचंद,** द्वारा धी० ब०।

खु० चं० गो० — **खुशालचंद गोरावाला,** पुस्तकालयाध्यक्ष, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

ग० प्र० श्री० — **गणेशप्रसाद श्रीवास्तव,** एम० एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

गि० शं० मि० — **गिरिजाशंकर मिश्र,** एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर, पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

गो० क०, गो० ना० क० — **महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज,** एम० ए०, डी० लिट्०, (भूतपूर्व अध्यक्ष, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, वाराणसी), सिगरा, वाराणसी।

गो० ना० धा० — **(स्व०) गोपीनाथ धावन,** एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

गो० प्र० — **(स्व०) गोरखप्रसाद,** डी० एस-सी० (एडिनबरा), भूतपूर्व संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

गो० वि० ध० — **गोलोकविहारी धल,** एम०ए० (पटना), एम० ए० (लंदन), अध्यक्ष, संस्कृत एवं उड़िया विभाग, पुरी कालेज, जगन्नाथपुरी।

गौ० कृ० गो० — **गौरकृष्ण गोस्वामी,** शास्त्री, आयुर्वेदशिरोमणि, श्री राधारमण जी मंदिर, वृंदावन, मथुरा।

चं० प्र० — **चंद्रिकाप्रसाद,** डी० फिल० (आक्सफोर्ड), रीडर, गणित विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।

चं० ब० सिं० — **चंद्रबली सिंह,** एम० ए०, अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, उदयप्रताप कालेज, वाराणसी।

च० भा० पां० — **चंद्रभान पांडेय,** एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व लेक्चरर, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

चं० म० — **चंद्रचूड़मणि,** एम० ए०, लेखक एवं पुराविद, साहित्यसहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

ज० कृ० — **जयकृशन,** बी० एस-सी०, सी० ई० (आनर्स), पी-एच० डी० (लंदन), एम० आई० ई० (इंडिया), प्रोफेसर, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।

ज० गो० श्री० — **जगेश्वर गोपाल श्रीखंडे,** पी-एच० डी० (लंदन), एम० एस-सी०, ए० आर० आइ० सी०, निदेशक, सेंट्रल रिसर्च इन्स्टिट्यूट फॉर विलेज इंडस्ट्रीज़, वर्धा।

ज० ना० स० — **जगदीशनारायण सक्सेना,** बी० एस-सी०, एल-एल० एम०, लेक्चरर, विधि विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

ज० मि० — **जगदीश मित्तल,** चित्रकार, गगनमहल रोड, हैदराबाद।

ज० मि० ग्रे० — **जगदीश मित्र ग्रेहम,** डेप्युटी स्टैंडर्ड्स आफिसर (रोड्स विंग), मिनिस्ट्री ऑव ट्रैंसपोर्ट ऐंड कम्युनिकेशन, नई दिल्ली।

ज० रा० सिं० — **जयराम सिंह,** एम० एस-सी०, (ए-जी०), पी-एच० डी०, लेक्चरर, कृषि महाविद्यालय, वाराणसी।

ज० सिं० — **जगन्नाथ सिंह,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (वाशिंगटन स्टेट), सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

जि० कु० मि० — **जितेंद्रकुमार मित्तल,** बी० एस-सी०, एल-एल० बी०, सहायक प्रोफेसर, विधि विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

झ० ला० श० — **झम्मनलाल शर्मा,** एम० ए०, डी० एस-सी०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, नैनीताल।

ता० म० — **श्रीमती तारा मदन,** एम० ए०, अध्यक्षा, राजनीतिशास्त्र विभाग, सावित्री गर्ल्स कालेज, अजमेर।

ती० रा० म० — **तीरथराम महेंद्र,** चेयरमैन, सेंट्रल इंडिया सेंटर ऑव दि इन्स्टिट्यूशन ऑव इंजीनियर्स।

तु० ना० सिं० — **तुलसीनारायण सिंह,** एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

त्रि० पं० — **त्रिलोचन पंत,** एम० ए०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

थि० डी० — **थियोडोर डीन,** प्राध्यापक, ऐग्रिकल्चर इंस्टिट्यूट, इलाहाबाद।

द० श० — **दशरथ शर्मा,** एम० ए०, डी० लिट०, रीडर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

दा० दा० ख० — **कैप्टेन दामोदरदास खन्ना,** अध्यक्ष, सैनिक शास्त्र विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

दु० च० स० — **दुर्गाचरण सक्सेना,** एम० ए०, बी० एस-सी०, एल-एल० बी०, सी० जी० (लंदन), लेक्चरर, औद्योगिक अर्थशास्त्र, एच० बी० टेकनालाजिकल इंस्टिट्यूट, कानपुर।

दे० र० भ० — **देवीदास रघुनाथराव भवालकर,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

दे० रा० सिं० — **देशराज सिंह,** एम० ए०, भूतपूर्व लेक्चरर, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

दे० रा० से० — **देवराज सेठ,** स्क्वैड्रन लीडर, एयर हेडक्वार्टर्स, नई दिल्ली।

दे० शं० मि० — **देवीशंकर मिश्र,** एम० एस-सी०, एम० ए०, साहित्यरत्न, प्रधान संपादक, प्राणिशास्त्र, २, हुसेनगंज, लखनऊ।

दे० सिं० — **देवेंद्र सिंह,** बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, एम० डी० (मेडिसिन), रीडर, मेडिसिन, गांधी

	मेडिकल कालेज तथा चिकित्सक, हमीदिया हॉस्पिटल, भूपाल।
द्वा० प्र० गु०	**द्वारिकाप्रसाद गुप्त**, हिंदू इंटरमीडिएट कालेज, नगीना (उ० प्र०)।
द्वि० ना० मि०	**द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'**, एम० ए०, रीडर, संस्कृत विभाग, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
ध० कु०	**धर्मेंद्रकुमार**, एम० बी० बी० एस०, एम० एस०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, एनाटमी विभाग, मेडिकल कालेज, वारंगल (आं० प्र०)।
धी० ना० म०	(स्व०) **धीरेंद्रनाथ मजूमदार**, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व अध्यक्ष, नृतत्वशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
धी० व०	**धीरेंद्र वर्मा**, एम० ए०, डी० लिट०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, भाषाविज्ञान और हिंद-ईरानी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
न० क०	**नवरत्न कपूर**, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व संपादकसहायक, हिंदी विश्वकोश; लेक्चरर, हिंदी विभाग, रणवीर गवर्नमेंट डिग्री कालेज, संगरुर, पंजाब।
न० कि० प्र० सिं०	**नवलकिशोरप्रसाद सिंह**, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
न० प्र०	**नर्मदेश्वरप्रसाद**, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
न० प्र० सिं०	देखिए **न० कि० प्र० सिं०**।
न० मे०	**नरेश मेहता**, एम० ए०, ९९ ए, लूकरगंज, इलाहाबाद।
न० ला०	**नन्हेंलाल**, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
न० ला० गु०	**नरेंद्रलाल गुप्त**, प्राध्यापक, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।
ना० गो० श०	(स्व०) **नारायण गोविंद शब्दे**, डी० एस-सी० (नागपुर), डी० एस-सी० (एडिन०), एफ० एन० ए० एस० सी०, एफ० आई० ए० एस-सी०, (भूतपूर्व गणित प्रोफेसर तथा प्रिंसिपल, महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर; विदर्भ महाविद्यालय, अमरावती, तथा सायंस कालेज, नागपुर)।
ना० सिं०	**नामवर सिंह**, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व लेक्चरर, सागर विश्वविद्यालय, लोलार्ककुंड, वाराणसी।
ना० सु० ना०	**ना० सु० नागेंद्रनाथ**, प्रिंसिपल, सायंस कालेज, पटना।
नृ० कु० सिं०	**नृपेंद्रकुमार सिंह**, एम० एस-सी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
प० उ०	**कुमारी पद्मा उपाध्याय**, एम० ए०, प्रिंसिपल, आर्य कन्या पाठशाला इंटर कालेज, खुर्जा।
प० च०	**परशुराम चतुर्वेदी**, एम० ए०, एल-एल० बी०, वकील, बलिया।
प० नं०	**परमानंद**, एम० ए०, अवकाश प्राप्त सचिव, माध्यमिक शिक्षा परिषद् तथा विश्वविद्यालय अनुदान समिति, उत्तरप्रदेश; ३६, चैथम लाइंस, इलाहाबाद—२।
प० मा० ना०	**परमेश्वरन पिल्लइ माधवन नायर**, ऐस्ट्रोफिज़िकल लेबॉरेटरी, कोडैकानल, मद्रास।
प० श०	**परमात्माशरण**, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), एफ० आर० हिस्ट० एस०, प्राध्यापक, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
पृ० ना० पु०	**पृथ्वीनाथ पुष्प**, एम० ए०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट कालेज, पुंछ (कश्मीर)।
पृ० ना० भा०	**पृथ्वीनाथ भार्गव**, एम० एस-सी०, डी० फिल०, एफ० आइ० सी० एस०, रीडर, ऑर्गेनिक केमिस्ट्री, कॉलेज ऑव सायन्स, बनारस हिंदू युनिवर्सिटी, वाराणसी।
पृ० पु०	देखिए पृ० ना० पु०।
प्यो० अ० बा०	**प्योत्र अलेक्सीविच बारान्निकोव**, ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, एकेडमी ऑव साइंसेज़, फ्लैट १२४, एस—पेरोवस्काया रोड ४।२, लेनिनग्राद डी ८८, यू० एस० एस० आर०।
प्र० कु० जा०	**प्रशांतकुमार जायसवाल**, एम० ए०, रिसर्च स्कालर, का० हिं० वि० वि०; सिद्धगिरि, वाराणसी।
प्र० कु० से०	**प्रफुल्लकुमार सेठ**, एम० कॉम०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, असिस्टेंट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, सागर युनिवर्सिटी, सागर।
प्र० प्र०	**प्रह्लाद प्रधान**, एम० ए०, व्याकरणाचार्य, साहित्य शास्त्री, वेदशास्त्री, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, उत्कल विश्वविद्यालय, कटक।
प्र० व०	**प्रमीला वर्मा**, लेक्चरर, भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
प्रि० रं० रा०	**प्रियदारंजन राय**, एम० ए०, एफ० एन० आई०, ५०।१, हिंदुस्थान पार्क, बालीगंज, कलकत्ता।
प्री० दा०	**प्रीतमदास**, प्रोफसर, मेडिकल कालेज, कानपुर।
प्रे० चं० अ०	**प्रेम चंद्र अग्रवाल**, असिस्टेंट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
प्रे० ना० श०	**प्रेमनाथ शर्मा**, भौतिकी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
फू० स० व०	**फूलदेवसहाय वर्मा**, एम० एस-सी०, ए० आई० आई० एस-सी० (भूतपूर्व औद्योगिक रसायन प्रोफेसर एवं प्रिंसिपल, कालेज ऑव टक्नॉलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी) संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
बं० सिं०	देखें **ब० सिं०**
ब० उ०	**बलदेव उपाध्याय**, एम० ए०, साहित्याचार्य, भूतपूर्व रीडर, संस्कृत-पालि-विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ब० ना० प्र० **बद्रीनारायण प्रसाद,** एफ० आर० एस० ई०, पी-एच० डी० (एडिन०), एम० एस-सी०, एम० बी०, डी० टी० एम०, (भूतपूर्व प्रोफेसर फार्माकॉलोजी तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, पटना, निदेशक, औषध अनुसंधान प्रतिष्ठान, पटना), अबुल आस लेन, पटना।

ब० ना० सिं० **बद्रीनारायण सिंह,** प्राध्यापक, भौतिकी विभाग दिल्ली युनिवर्सिटी, दिल्ली।

ब० नि० **बलराज निजग्राहवन,** पी-एच० डी०, एफ० आइ० एम०, एफ० एन० आइ०, नैशनल मेटालर्जिकल लेबॅरिटरी, जमशेदपुर–७।

ब० प्र० रा० **बच्चाप्रसाद राव,** लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ब० सिं० **बलवंत सिंह,** एम० एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी। (वनस्पति और आयुर्वेद संबंधी लेख)

ब० सिं० देखें ब० सिं०। (भूगोल संबंधी लेख)

बा० कृ० कि० **बालकृष्ण किमोठी,** एम०एस-सी०, ए० टी० आई०, आइ० जी० इन्स्ट० टेक०, डेवलपमेंट ऑफिसर (कार्पेट्स), डाइरेक्टरेट ऑव इंडस्ट्रीज, (उ० प्र०), भदोही।

बा० कृ० गु० **बालकृष्ण गुप्त,** एम० आर० आइ० एन० ए० (लंदन), एम० ए० आइ० आर० टेक० (भारत), एम० आइ० मेक० ई० (लंदन), मुख्य अधिकारी, मर्कैंटाइल डिपार्टमेंट, गवर्नमेंट ऑव इंडिया; रजिस्ट्रार ऑव शिपिंग, कलकत्ता डिस्ट्रिक्ट; कमिश्नर फॉर दि पोर्ट ऑव कैलकटा; मेंबर, एक्सपर्ट कमिटी (ट्रैंन्सपोर्ट), मिनिस्ट्री ऑव एजुकेशन; मैराइन हाउस, हेस्टिंग्ज, कलकत्ता–२२।

बा० ना० **बालेश्वर नाथ,** बी० एस-सी०, सी० ई० (आनर्स), एम० आइ० ई०, सेक्रेटरी, सेंट्रल बोर्ड ऑव इरिगेशन ऐंड पावर, कर्जन रोड, नई दिल्ली।

बा० रा० स० **बाबूराम सक्सेना,** एम० ए०, डी० लिट्०, उपाध्यक्ष, पारिभाषिक शब्दावली, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली।

बै० ना० प्र० **बैजनाथप्रसाद,** लेक्चरर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

बै० पु० **बैजनाथ पुरी,** एम० ए०, बी० लिट०, डी० फिल०, प्रोफेसर, भारतीय इतिहास और संस्कृति, नैशनल अकैडेमी ऑव ऐडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी।

ब० रा० चौ० **ब्रजराज चौहान,** बी० ए० (ऑनर्स), एम० ए०, एल-एल० बी०, अध्यक्ष पोस्ट ग्रैजुएट विभाग, डिपार्टमेंट ऑव सोशिऑलोजी, एम० बी० कालेज, उदयपुर।

भ० दा० व० **भगवानदास वर्मा,** बी० एस-सी०, एल० टी०, भूतपूर्व अध्यापक, डैली (चीफ्स) कालेज, इंदौर; भूतपूर्व सहायक संपादक, इंडियन क्रानिकिल); संपादकसहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भ० प्र० श्री० **भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव,** अलीगढ़।

भ० शं० या० **भवानीशंकर याज्ञिक,** ८ शाहनजफ रोड, हजरतगंज, लखनऊ।

भ० श० उ० **भगवतशरण उपाध्याय,** एम० ए०, डी० फिल०, संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भा० स० **भाऊ समर्थ,** जे० डी० आर्ट (बंबई), चित्रकार गोयनका उद्यान, सोनेगाँव, नागपुर–५।

भि० ज० का० **भिक्षु जगदीश काश्यप,** एम० ए०, त्रिपिटकाचार्य, प्रोफेसर और अध्यक्ष, पालि विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भी० गो० दे० **भीमराव गोपाल देशपांडे,** बी० ए०, प्रवक्ता, मराठी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, बी० २१।२४, कमच्छा, वाराणसी।

भी० ला० आ० **भीखनलाल आत्रेय,** एम० ए०, डी० लिट०, भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भी० शं० त्रि० **भीमशंकर त्रिवेदी,** लखनऊ।

भू० कु० मु० **भूदेवकुमार मुखोपाध्याय,** एम० ए० (अंग्रेजी, अर्थशास्त्र), प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

भृ० ना० प्र० **भृगुनाथप्रसाद,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी० लेक्चरर, प्राणिशास्त्र विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भो० ना० श० (स्व०) **भोलानाथ शर्मा,** एम० ए०, भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, बरेली कालेज, बरेली।

भो० शं० व्या० **भोलाशंकर व्यास,** एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

म० गु० **मन्मथनाथ गुप्त,** संपादक, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, पुराना सचिवालय, दिल्ली।

म० द० श० **महेश्वरदयालु शर्मा,** एम० ए०, डिप० टी० ई० एफ० एल० (लंदन), विशेष पदाधिकारी, शिक्षा, १६ अशोक मार्ग, लखनऊ।

म० ना० गु० देखिए, म० गु०।

म० ना० मे० **महाराजनारायण मेहरोत्रा,** एम० ए०, लेक्चरर, जिऑलोजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।

म० ला० श० **मथुरालाल शर्मा,** एम० ए०, डी० लिट्०, प्रोफेसर इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

मि० चं० पां० **मिथिलेश चंद्र पांड्या,** एम० ए०, भूतपूर्व प्राध्यापक, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

मु० अ० अं० **मुहम्मद अजहर असगर अंसारी,** एम० ए०, डी०

फिल०, सहायक प्रोफेसर, आधुनिक भारतीय इतिहास, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

मु० म० — **(कुमारी) मुगल महमूद,** एम० ए०, ६ ड्रमंड रोड, इलाहाबाद।

मु० मो० दे० — **मुकुंद मोरेश्वर देसाई,** एम०ए० (अंग्रेजी एवं फ्रेंच), रिटायर्ड रीडर (अंग्रेजी), का० हिं० वि० वि० पुराना डी०।७ क्वार्टर्स, का० हिं० वि० वि०, वाराणसी।

मु० रा० — **मुद्राराक्षस,** एम० ए० (ऑनर्स), दुगावाँ, लखनऊ।

मु० ला० श्री० — **मुरलीधरलाल श्रीवास्तव,** डी० एस-सी०, एफ० एन० एस-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, प्राणि-विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

मु० स्व० व० — **मुकुंदस्वरूप वर्मा,** बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, भूतपूर्व चीफ मेडिकल आफिसर तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मु० ह० — **मुहम्मद हबीब,** बी० ए०, डी० लिट०, भूतपूर्व प्रोफेसर, इतिहास, राजनीति, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, बदरबाग, अलीगढ़।

मो० चं० — **मोतीचंद्र,** एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), डाइरेक्टर, प्रिंस आव वेल्स म्यूजियम, बंबई-१।

मो० या० — **मोहम्मद यासीन,** एम०ए०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

मो० ला० गु० — **मोहनलाल गुजराल,** एम०बी० बी०एस० (पंजाब), एम० आर० सी० पी० (लंदन), डाइरेक्टर प्रोफेसर, उच्चस्तरीय फार्माकॉलोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

मो० सिं० — **मोती सिंह,** एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रिंसिपल, डिग्री कालेज, गाजीपुर।

मो० सै०
मो० सै० उ० — **मोहम्मद सैयदउद्दीन,** भूतपूर्व प्रोफेसर, वनस्पति विभाग, ओस्मानिया युनिवर्सिटी, हैदराबाद।

य० र० मे० — **वाइ० आर० मेहता,** इकॉनोमिक बोटैनिस्ट (रबी सीरियल्स), नवाबगंज, कानपुर।

यो० अ० — **योगेश अटल,** एम० ए०, असिस्टैंट प्रोफेसर ऑव सोशिऑलोजी, इन्स्टिटयूट ऑव सोशल सायंसेज, आगरा युनिवर्सिटी, आगरा।

र० कु० — **श्रीमती रत्नकुमारी,** एम० ए०, डी० फिल०, प्रधानाचार्या, आर्य कन्या इंटर कालेज, बेली ऐवेन्यू, प्रयाग।

र० कु० मि० — **रमेशकुमार मिश्र,** एम० ए०, एल-एल० एम०, रीडर, ला कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

र० चं० क० — **रमेशचंद्र कपूर,** डी० एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

र० जै० — **रवींद्र जैन,** एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, नृतत्व-शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (अवकाश पर आस्ट्रेलिया में विश्वविद्यालय के प्राध्यापक)।

र० मो० — **रमेशमोहन,** एम० ए०, पी-एच० डी० (लीड्ज), कार्यकारी प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

र० शं० पां० — **रमाशंकर पांडेय,** बी० एस-सी०, एम० ए०, एल-एल० बी०, संपादकसहायक, हिंदी विश्वकोश, वाराणसी।

र० स० ज० — **रजिया सज्जाद जहीर,** एम०ए०, (भूतपूर्व लेक्चरर, उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय), वजीर मंजिल, वजीर हसन रोड, लखनऊ।

रा० अ० — **राजेंद्र अवस्थी,** एम० ए०, पी-एच० डी०, सहायक प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० अ० द्वि० — **रामअवध द्विवेदी,** एम० ए०, डी० लिट०, रिटायर्ड रीडर (अंग्रेजी), का० हिं० वि० वि०, प्रिंसिपल संत विनोबा कालेज, देवरिया।

रा० कु० — **रामकुमार,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, रीडर, गणित विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।

रा० कु० स० — **रामकुमार सक्सेना,** एम० एस-सी०, डी० एस-सी० (पेरिस), एफ० एन० आई०, अवकाशप्राप्त प्रोफेसर ऑव बॉटेनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालम, इलाहाबाद।

रा० कृ० मे० — **रामकृष्ण मेहरा,** असिस्टैंट प्रोफेसर, प्राणिविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

रा० गो० चं० — **राय गोविंदचंद,** एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व प्रिंसिपल, हरिश्चंद्र डिग्री कालेज, कुशस्थली, वाराणसी।

रा० चं० पा० — **रामचंद्र पांडेय,** एम० ए०, एल-एल० बी०, आयकर अधिकारी एवं सहायक मृत्युकर नियंत्रक, लखनऊ।

रा० चं० शु० — **रामचंद्र शुक्ल,** एम० एड०, पी० डिप०, प्राध्यापक, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० चं० स० — **रामचंद्र सक्सेना,** एम० एस-सी०, (भूतपूर्व लेक्चरर, प्राणिविज्ञान विभाग, का० हिं० वि० वि०), भदैनी, वाराणसी।

रा० च० — **रामाचरण,** बी० एस-सी० टेक० (शेफील्ड), डा० टेकनीक० (प्राहा), भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, ग्लास टेकनॉलोजी विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० च० मे० — **रामचरण मेहरोत्रा,** एम० एस-सी०, डी० फिल० (इलाहाबाद), पी-एच० डी० (लंदन), एफ० आर० आई० सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, रसायन विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

रा० दा० ति० — **रामदास तिवारी,** एम० एस-सी०, डी० फिल०,

सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

रा० द्वि० **रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर'**, एम० ए० (आनर्स), भूतपूर्व प्रिंसिपल, मारवाड़ी कालेज, कानपुर, २१, ऐशबाग कालोनी, लखनऊ।

रा० ना० **राजनाथ,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), डी० आई० सी०, एफ० एन० आई०, एफ० एन० ए० एस-सी०, एफ० जी० एम० एस०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय। (कार्बनप्रद तंत्र और युग)।

राजेंद्र नागर, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ। (ईश्वरचंद्र विद्यासागर, ईस्ट इंडिया कंपनी, एजिटेटर्स, एडवर्ड, ऐन, कार्नवालिस, काला पहाड़)

रा० ना० मा० **राधिकानारायण माथुर,** एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

रा० नि० रा० **रामनिवास राय**, एम० एस-सी०, डी० फिल०, प्रिंसिपल, सनातन धर्म कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

रा० पां० **रामचंद्र पांडेय,** व्याकरणाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—८।

रा० ब० पां० **राजबली पांडेय,** डी० लिट०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर।

रा० र० **रा० रक्षपाल,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लखनऊ), पी-एच० डी० (मैकमिल), एफ० ई० एस० आई०, एफ० आर० ई० एस० (लंदन), रीडर, जूलॉजी डिपार्टमेंट, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० लो० सिं० **रामलोचन सिंह,** एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० वृ० सिं० **रामवृक्ष सिंह,** लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० शं० मि० **रामशंकर मिश्र,** एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, भारतीय दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० सिं० तो० **रामसिंह तोमर,** एम० ए०, डी० फिल०, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन, पश्चिमी बंगाल।

ल० कि० सिं० चौ० **ललितकिशोर सिंह चौधरी,** एम० ए०, प्रोफेसर-तथा अध्यक्ष, भूगोल विभाग, सनातन धर्म कालेज, कानपुर।

ला० शु० **लालजी शुक्ल,** एम० ए०, डी० फिल०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, गवर्नमेंट धनमंजरी डिग्री कालेज, इंफाल, असम।

ले० रा० सिं० **लेखराज सिंह,** एम० ए०, डी० फिल०, असिस्टैंट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

व० सिं० **वसंत सिंह,** द्वारा रा० लो० सिं०।

वा० श० अ० **वासुदेवशरण अग्रवाल,** एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०, अध्यक्ष, ललित कला तथा वास्तु विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

विं० च० मि० देखें **वि० चं० मि०**।

विं० प्र० पां० **विंध्येश्वरीप्रसाद पांडेय,** वाणिज्य विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

विं० वा० प्र० **विंध्यवासिनी प्रसाद,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० कां० दा० **विमलकांत दावे,** सहायक प्राध्यापक, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० कु० मा० **विजयेंद्रकुमार माथुर,** एम० ए०, संपादक, सामाजिक विज्ञान, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, १५।१६, फैजबाजार, दरियागंज, दिल्ली।

वि० चं० मि० **विनोदचंद्र मिश्र,** एम० ए०, पी-एच० डी०, असिस्टैंट प्रोफेसर, भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

वि० द० **विश्वेश्वरदयाल,** डी० एस-सी०, प्राध्यापक, भौतिकी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० ना० पां० **विश्वंभरनाथ पांडेय,** भूतपूर्व मेयर, इलाहाबाद कारपोरेशन, साउथ मलाका, इलाहाबाद।

वि० पा० **विशुद्धानंद पाठक,** एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० प्र० गु० **विश्वंभरप्रसाद गुप्त,** एक्जिक्यूटिव इंजीनियर (रेंट्स), सेंट्रल जोन, सेंट्रल पी० डब्ल्यू० डी०, एल० बैरेक्स, नई दिल्ली।

वि० मिं० च० देखिए **वि० चं० मि०**।

वि० रा० **विक्रमादित्य राय,** एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० रा० सिं० **विजयराम सिंह,** द्वारा **रा० लो० सिं०**।

वि० सा० दु० **विद्यासागर दुबे,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), डी० आइ० सी०, भूतपूर्व प्रोफेसर, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शं० ना० वा० **शंभुनाथ वाजपेयी,** सहायक मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

शं० स्व०	**शंकर स्वरूप,** असिस्टैंट प्रोफेसर, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।
श० च०	**शशधर चैटर्जी,** एम० एस-सी०, रीडर, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शां० ला० का०	**शांतिलाल कायस्थ,** एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शि० नं० श०	**शिवानंद शर्मा,** एम० ए०, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, सेंट ऐंड्र्यूज़ कालेज, गोरखपुर।
शि० ना० ख०	**शिवनाथ खन्ना,** एम० बी० बी० एस०, डी० पी० एच०, आयुर्वेदरत्न, लेक्चरर, सोशल ऐंड प्रिवेंटिव मेडिसिन विभाग, कालेज ऑव मेडिकल सायन्सेज़, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शि० मं० सिं०	**शिवमंगल सिंह,** एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शि० मो० व०	**शिवमोहन वर्मा,** एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
शि० श० मि०	**शिवशरण मिश्र,** एम० डी० (ऑनर्स), एफ० आर० सी० पी०, प्रोफेसर ऐंड हेड ऑव दि डिपार्टमेंट ऑव मेडिसिन, लखनऊ युनिवर्सिटी, लखनऊ।
शु० ते०	**कुमारी शुभदा तेलंग,** प्रिंसिपल, वसंत कालेज फॉर-वीमेन, राजघाट, वाराणसी।
श्या० च० दु०	**श्यामाचरण दुबे,** एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, नृतत्वशास्त्र विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
श्या० सुं० श०	**श्यामसुंदर शर्मा,** एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
श्री० अ०	**श्रीधर अग्रवाल,** एम० बी० बी० एस०, एम० एस-सी० (पैथॉलोजी), रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।
श्री० कृ०	**श्रीकृष्ण,** सी० ई० (ऑनर्स), एम० आइ० ई०, म्यूनिसिपल इंजीनियर, दिल्ली नगर निगम, टाउन हाल, दिल्ली—६।
श्री० कृ० ला०	**श्रीकृष्ण लाल,** एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
श्री० ध० अ०	देखिए **श्री० अ०**
श्री० ना० मे०	**श्रीनाथ मेहरोत्रा,** एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, भूगोल विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर।
श्री० स०	**श्रीकृष्ण सक्सेना,** एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन एवं मनोविज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
सं० प्र० टं०	**संतप्रसाद टंडन,** एम० एस-सी०, डी० फिल०, असिस्टैंट प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।
स०	**सद्‌गोपाल,** डी० एस-सी०, एफ० आई० आई० सी०, एफ० आइ० सी०, उपनिदेशक (रसायन), भारतीय मानक संस्था, मानक भवन, ९, मथुरा रोड, नई दिल्ली।
स० घो०	**सत्येश्वर घोष,** प्राध्यापक तथा अध्यक्ष, रसायन विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।
स० च०	**श्रीमती सरोजिनी चतुर्वेदी,** एम० ए०, द्वारा श्री सुभाषचंद्र चतुर्वेदी, एम० ए०, पी० सी० एस०, डिप्टी कलेक्टर, लखनऊ।
स० दे० वि०	**सत्यदेव विद्यालंकार,** पत्रकार तथा लेखक, ४० ए, हनुमान लेन, नई दिल्ली।
सद्०	देखिए **स०**।
स० पा० गु०	**सत्यपाल गुप्त,** एम० बी० बी० एस०, एफ० आर० सी० एस० (एडिन०), डी० आर० एम० एस० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, आप्थैलमॉलोजी विभाग, चीफ आई सरजन, मेडिकल कालेज, लखनऊ।
स० प्र०	**सत्यप्रकाश,** डी० एस-सी०, एफ० ए० एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय (ऐल्यूमिनियम)।
	सरयूप्रसाद, एम० ए०, एम० एस-सी०, डी० एस-सी०, एफ० एन० ए० एस-सी०, एफ० आइ० सी०, रीडर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय। (ईथर)
स० ला० गु०	**सदनलाल गुप्त,** असिस्टैंट सुपरिंटेंडेंट, गवर्नमेंट प्रेस, ऐशबाग, लखनऊ।
स० वि०	देखिए **स० दे० वि०**।
सा० जा०	**कुमारी सावित्री जायसवाल,** एम० एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति विभाग, बनारस हिंदू युनिवर्सिटी, वाराणसी।
सी० बा० जो०	**सीताराम बालकृष्ण जोशी,** इंजीनियर, जोशी वाड़ी, मनमाला टैंक रोड, माहिम, मुंबई।
सी० रा० जा०	**सीताराम जायसवाल,** एम० ए०, एम० एड०, पी-एच० डी० (मिशीगन), रीडर, शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
सु० कु० अ०	**सुरेंद्रकुमार अग्रवाल,** एल-एल० एम०, सहायक प्रोफेसर, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
सु० कु० सिं०	**सुरेंद्रकुमार सिंह,** एम० ए०, अध्यक्ष, भूगोल विभाग, उदयप्रताप कालेज, वाराणसी।
सु० पां०	**सुधाकर पांडेय,** एम० काम०, प्रकाशन मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।
सु० प्र० सिं०	**सुरेंद्रप्रताप सिंह,** लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
सु० सिं०	**सुरेश सिंह (कुँवर),** सदस्य, विधान परिषद् (उ०प्र०), कालाकांकर, प्रतापगढ़।

सै० अ० अ० रि० **सैयद अतहर अब्बास रिजवी**, एम० ए०, पी-एच० डी०, पी० ई० एस०, नजरबाग, छावनी मार्ग, लखनऊ।

सै० ए० हु० **सैयद एहतेशाम हुसेन**, एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, फारसी और उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

सै० ल० प० **सैमुएल लखाजी परमार**, हॉलैंड हाल, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

सो० म० **सोभाग मल**, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, डी० आई० सी०, (भूतपूर्व डेप्युटी डाइरेक्टर-जेनरल (इंस्ट्रुमेंट्स), दि आब्ज़वटरी, ए-२, सुजानसिंह पार्क, नई दिल्ली।

सो० वी० सिं० **सोहनवीर सिंह**, कॉटन डेवलपमेंट ऑफिसर, ऐग्रिकल्चर डिपार्टमेंट, उ० प्र०, लखनऊ।

स्कं० गु० **स्कंदगुप्त**, एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

ह० कृ० ला० **हरकृष्णलाल**, बी० एस-सी०, एम० आर० सी० वी० एस०, अतिरिक्त निदेशक, पशुपालन विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

ह० द० वे० **हरिदत्त वेदालंकार**, एम० ए०, सुपरिटेंडेंट, कांगड़ी संग्रहालय, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार।

ह० प्रा० भ० **हरिहर प्राणशंकर भट्ट**, प्राध्यापक, गणित ज्यौतिष शास्त्र, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद।

ह० ला० उ० **हरसंदरलाल उप्पल**, असिस्टैंट डाइरेक्टर, (सॉयल्स), सेंट्रल रोड रिसर्च इंस्टिट्यूट, नई दिल्ली —२०।

ह० शं० चौ० **हरिशंकर चौधरी**, डी० फिल०, एफ० एन० ए० एस-सी०, पी० ई० एस०, प्राध्यापक, प्राणिविज्ञान विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

ह० ह० सिं० **हरिहर सिंह**, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

हि० **हिरण्मय** एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, हिंदी विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर।

ही० ना० मु० **हीरेंद्रनाथ मुखोपाध्याय**, एम० ए०, बी० लिट०, सदस्य लोकसभा, नई दिल्ली।

ही० ला० जै० **हीरालाल बालचंद्र जैन**, एम० ए०, डी० लिट०, डाइरेक्टर, इंस्टिट्यूट ऑव पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज ऐंड रिसर्च इन प्राकृत जैनलोजी ऐंड अहिंसा, मुजफ्फरपुर।

हृ० के० त्रि० **हृषीकेश त्रिवेदी**, डी० एस-सी०, डी० आर० ई०, डी० मेट०, प्रिंसिपल, हारकोर्ट बटलर टेक्नॉलोजिकल इंस्टिट्यूट, कानपुर।

फलकसूची

संमुख पृष्ठ

संकेताक्षर

अं०	अंग्रेजी
अ०	अक्षांश
ई०	ईसवी
ई० पू०	ईसा पूर्व
उ०	उत्तर
उप०	उपनिषद्
किलो०	किलोग्राम
जि०	जिला
द०	दक्षिण
दे०	देशांतर
प०	पश्चात्; पश्चिम
पू०	पूर्व
फा०	फारेनहाइट
मनु०	मनुस्मृति
महा०	महाभारत
याज्ञ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
सं०	संख्या; संपादक; संस्करण; संस्कृत
सं० ग्रं०	संदर्भ ग्रंथ
सें०; सेंटी०	सेंटीग्रेड
सें० मी०	सेंटीमीटर
हा० ओ० सि०	हार्वर्ड ओरिएंटल सिरीज
हिं०	हिंदी
हि०	हिजरी

हिंदी विश्वकोश

खंड २

इलेक्ट्रानिकी विज्ञान तथा इंजीनियरी की वह शाखा है जिसके अंतर्गत इलेक्ट्रानीय युक्तियों एवं उनके उपयोगों से संबद्ध विषयों का अध्ययन किया जाता है। इलेक्ट्रान-सिद्धांत तथा प्रथम इलेक्ट्रान-युक्तियाँ प्रारंभ में भौतिकी के वैज्ञानिकों द्वारा ही विकसित की गई थीं। बाद में अत्यधिक उन्नति हो जाने के कारण इलेक्ट्रानिकी अध्ययन का एक पूर्णतः भिन्न विषय हो गई। फिर भी आजकल यह वैद्युत् इंजीनियरी की एक शाखा समझी जाती है। सन् १८८७ में हर्ट्स ने हर्ट्सियन तरंगों की खोज की तथा १८९५ में रंट्जन ने एक्स-रे नली का आविष्कार किया। लगभग १८९२ में मारकोनी ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि बिना तार के ही वैद्युत् संचारण संभव है। १९०२ में फ्लेमिंग द्वारा दो विद्युदग्रवाले वाल्व का तथा १९०६ में डी फ़ॉरेस्ट द्वारा तीन विद्युदग्रवाले वाल्व का आविष्कार हुआ। इन सब मूल अनुसंधानों ने अन्य बहुत से वैज्ञानिकों के कार्य को उत्साहित किया और इन्हीं सामूहिक आविष्कारों तथा उन्नतियों का फल है कि आज इलेक्ट्रानिकी एक महत्वपूर्ण विषय हो गई है।

इलेक्ट्रानीय युक्तियाँ वे युक्तियाँ हैं जिनमें निर्वात में, या किसी गैस में, अथवा किसी अर्धचालक में इलेक्ट्रान के चालन का उपयोग किया जाता है। इसके उदाहरण इलेक्ट्रान-नली तथा ट्रानजिस्टर हैं। इन इलेक्ट्रानीय युक्तियों के अध्ययन में न केवल इलेक्ट्रान-नलियों तथा अन्य संबद्ध यंत्रों का अध्ययन होता है वरन् इन नलियों से संबद्ध परिपथों का भी अध्ययन किया जाता है।

इलेक्ट्रानीय युक्तियों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है: उष्मायनिक तथा प्रकाश-विद्युतीय। इस विभाजन का आधार यह है कि इन युक्तियों के लिये इलेक्ट्रान धारा किस विधि से प्राप्त होती है। इलेक्ट्रान युक्तियों को और भी विभाजित किया जा सकता है, जैसे उच्च-निर्वात-युक्ति तथा गैसमय युक्ति। उच्च-निर्वात-युक्ति वह युक्ति है जिसमें इलेक्ट्रान का चालन निर्वात में होता है। गैसमय युक्ति में इलेक्ट्रान का चालन अल्प-दाब के गैस में होता है। अंत में इलेक्ट्रान युक्तियों को उनके उपयोग के आधार पर भी विभाजित किया जा सकता है। इस लेख में इन युक्तियों का क्रमानुसार वर्णन किया जायगा। गत कुछ वर्षों में इलेक्ट्रानिकी इतना अधिक विस्तृत हो गई है कि वर्तमान लेख में केवल मूल सिद्धांतों तथा प्रमुख उपयोगों का ही वर्णन संभव है।

उष्मायनिक उत्सर्जन—यदि किसी धातु के टुकड़े को उच्च ताप तक तप्त किया जाय तो उसमें से इलेक्ट्रान बाहर निकलते हैं। यदि धातु का टुकड़ा
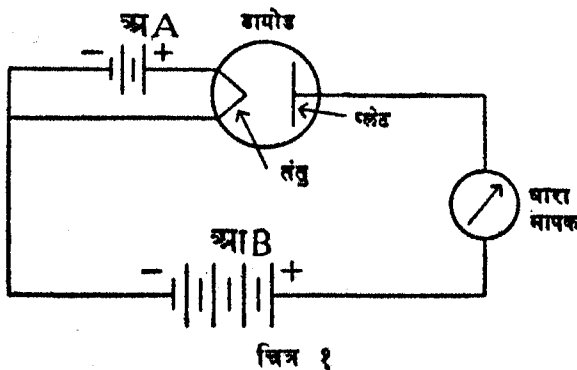
चित्र १

(अथवा तार या तंतु) निर्वात में रखा हो, जिसमें इलेक्ट्रानों की मुठभेड़ वायु के अणुओं से न हो सके और साथ ही कोई विद्युतीय अथवा चुंबकीय क्षेत्र उपस्थित न हो, तो जब तक इलेक्ट्रान किसी दूसरी वस्तु से न टकरा जायँ वे सीधी रेखा में चलते हैं। यदि एक दूसरा विद्युदग्र (प्लेट) उसी निर्वात में उपस्थित हो और उसे किसी धन विभव पर रखा जाय तो इलक्ट्रान इसी विद्युदग्र पर एकत्र होंगे और यदि तार द्वारा चित्र १ की तरह दोनों विद्युदग्रों में संबंध स्थापित कर दिया जाय तो इस परिपथ में विद्युद्धारा का प्रवाह होने लगगा। इस प्रकार के निर्वातित काच के लट्टू (बल्ब) को इलेक्ट्रान नली कहते हैं। उपर्युक्त नली में केवल दो विद्युदग्र रहते हैं; अतएव उसे द्विविद्युदग्र नली (या डायोड) कहते हैं। चित्र १ में बैटरी अ (A) तथा आ (B) का उपयोग क्रमानुसार तंतु को तप्त करने एवं प्लेट को धन विभव पर रखने के लिये किया गया है।

जब तंतु ठंढा होता है तो परिपथ में विद्युद्धारा का प्रवाह नहीं होता। जैसे जैसे तंतु को तप्त किया जाता है वैसे वैसे धारा की मात्रा बढ़ती है। रिचार्डसन के नियम के अनुसार परिपथ में धारा की मात्रा प्रधानतः तंतु के ताप पर निर्भर रहती है (देखें **उष्मायन**)। विद्युद्धारा कुछ सीमा तक प्लेट विभव पर भी निर्भर रहती है। यदि प्लेट पर ऋणात्मक विभव लगा दिया जाय तो धारा का प्रवाह नहीं होगा, क्योंकि तब इलेक्ट्रान ऋणात्मक विद्युत् क्षेत्र के कारण प्रतिकर्षित होकर तंतु की ओर चले जायँगे; और यदि प्लेट-विभव पर्याप्त धनात्मक न हो तो तंतु से निकले कुछ इलेक्ट्रान प्लेट पर न पहुँच सकने के कारण तंतु के चारों ओर एकत्र हो जाते हैं। इस इलेक्ट्रानसमूह को **अवकाशावेश** (स्पेस चार्ज) कहते हैं। प्लेट विभव बढ़ाने पर अवकाशावेश कम हो जाता है और पर्याप्त ऊँचे विभव पर प्लेट सारे
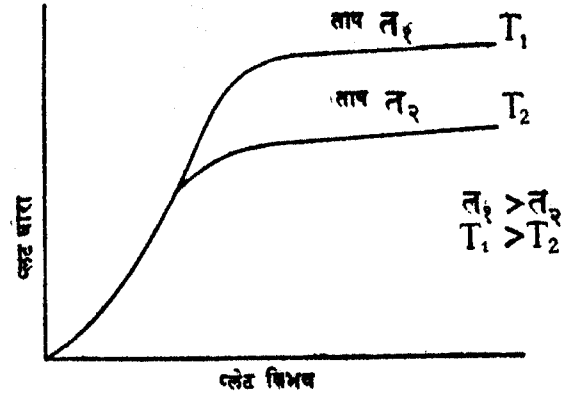
चित्र २

इलेक्ट्रानों को आकर्षित कर लेता है। इस समय विद्युद्धारा संतृप्ति की अवस्था में रहती है। इसके बाद प्लेट-विभव और अधिक बढ़ाने से प्लेट धारा में कोई अंतर नहीं होता। चित्र २ में दो तंतु वाल्व के लिये प्लेट धारा पर प्लेट-विभव का प्रभाव दिखाया गया है।

डायोड—उपर्युक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि किसी नली में विद्यु-

चित्र ३
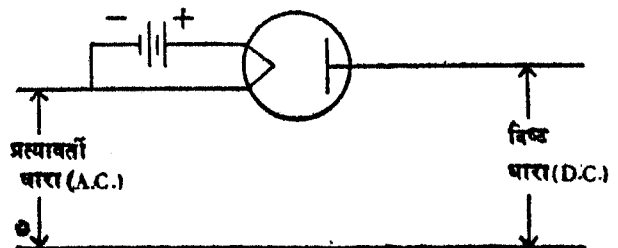
द्धारा का प्रवाह केवल एक दिशा में ही हो सकता है। इसी से डायोड नली का मुख्य उपयोग ऋजुकारी (रेक्टिफ़ायर) की तरह प्रत्यावर्ती

धारा को दिष्ट धारा में परिवर्तित करने के लिये होता है। चित्र ३ में डायोड एक अर्ध-तरंग-ऋजुकारी की तरह कार्य करता है। प्रत्यावर्ती धारा के अर्धचक्र में जब प्लेट धनात्मक रहता है तभी नली में धारा का प्रवाह होता है; दूसरे अर्धचक्र में धारा का प्रवाह नहीं होता। चित्र ४ की प्रथम पंक्ति में धारा की मूल दशा तथा पंक्ति ३ में ऋजुकृत दशा दिखाई गई है। एक अन्य डायोड का उपयोग करके प्रत्यावर्ती धारा के दूसरे अर्धचक्र का भी उपयोग किया जा सकता है (पंक्ति ३)। इस प्रकार के परिपथ को पूर्ण-तरंग-ऋजुकारी कहते हैं। लगभग सभी इलेक्ट्रानीय उपकरणों में दिष्ट धारा की आवश्यकता को पूरा करने के लिये ऋजुकारी का प्रयोग होता है।
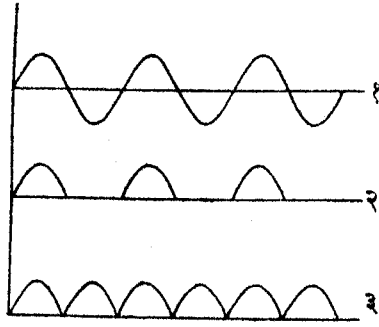
चित्र ४

ग्रिड नियंत्रित इलेक्ट्रान नली—सन् १९०६ में डी फ़ॉरेस्ट ने इलेक्ट्रान नली में, प्लेट और तंतु के मध्य, जाली के आकार का एक तीसरा विद्युदग्र, जिसे ग्रिड कहते हैं, और रखा। ग्रिड इस आकार का होता है कि इलेक्ट्रान इसके भीतर से निकलकर प्लेट पर पहुँच सकते हैं। ग्रिड को कोई विभव देकर प्लेट-धारा को भली भाँति नियंत्रित किया जा सकता है। कुछ लोगों का कथन है कि इस नियंत्रण-ग्रिड के आविष्कार का ही यह फल है कि हम आज इलेक्ट्रानिकी को इस विकसित रूप में देखते हैं।

वह नली जिसमें तीन विद्युदग्र होते हैं—तंतु (ऋणाग्र), ग्रिड और प्लेट (धनाग्र)—ट्रायोड कहलाती है। ट्रायोड का यह लाक्षणिक गुण होता है कि ग्रिड-विभव के थोड़े से परिवर्तन से ही प्लेट-धारा में उससे कहीं अधिक परिवर्तन हो सकता है (देखें **इलेक्ट्रान नली**)। यदि ग्रिड तंतु की अपेक्षा अधिक ऋणात्मक हो और प्लेट ऊँचे धन विभव पर न हो, तो धारा का कोई प्रवाह नहीं होगा। ग्रिड विभव को कम ऋणात्मक करके यदि धीरे धीरे धनात्मक किया जाय तो प्लेट-धारा बढ़ेगी और अंत में संतृप्ति की अवस्था धारण कर लेगी। ट्रायोड के व्यवहार को कई लेखाचित्रों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। तीन चर (वेरियेबुल्स) द्वारा इसके गुण का वर्णन करते हैं, जैसे प्रवर्धन-गुणांक (ऐंप्लिफ़िकेशन फ़ैक्टर), पट्ट-प्रतिरोध (प्लेट रेज़िस्टैंस) तथा अन्योन्य चालकत्व (म्यूचुअल कंडक्टैंस)।

टेट्रोड तथा पेंटोड—कुछ ऐसी भी उष्मायन नलियाँ बनती हैं जिनमें एक के बदले दो या तीन जालियाँ (ग्रिड) होती हैं। ऐसे चार तथा पाँच विद्युदग्रवाली नलियों को क्रमानुसार टेट्रोड और पेंटोड कहते हैं। यदि इन जालियों का विभव ठीक प्रकार से निर्धारित किया जाय तो ये नली के व्यवहार को भिन्न प्रकार से परिवर्तित कर देती हैं। ऐसा होते हुए भी प्रत्येक परिपथ के मूल सिद्धांत वे ही रहते हैं।

ट्रायोड के उपयोग: (१) **प्रवर्धक**—ट्रायोड नली का मुख्य उपयोग प्रवर्धक परिपथ में होता है। इस परिपथ में आदा (इनपुट) की वोल्टता
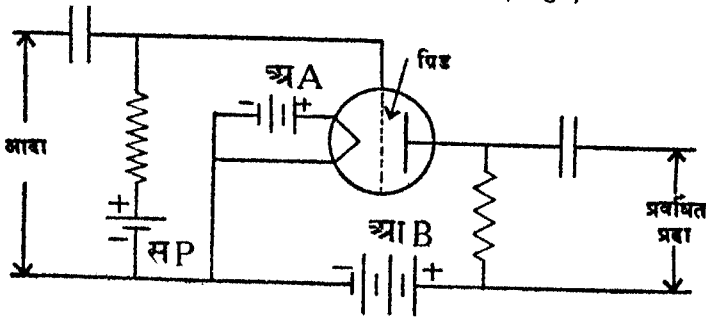
चित्र ५

के थोड़े परिवर्तन से प्रदा (आउटपुट) धारा में अत्यधिक परिवर्तन होता है। इस प्रकार का एक परिपथ चित्र ५ में दिखाया गया है। प्रायः यह आवश्यक होता है कि एक के बाद एक करके कई प्रवर्धकों का एक साथ प्रयोग किया जाए। दो प्रवर्धकों का संबंध प्रतिरोधक-संधारित्र द्वारा या ट्रांसफार्मर द्वारा किया जाता है।

ग्रिड विभव के अनुसार प्रवर्धकों का वर्गीकरण वर्ग **क** (A), वर्ग **ख** (B) तथा वर्ग **ग** (C) में किया गया है। इनके उपयोगों का अलग अलग क्षेत्र होता है।

(२) **मूर्च्छक तथा परिचायक**—ट्रायोड का उपयोग आरंभ में रेडियो संकेत के परिचायक के ही रूप में था। रेडियो स्टेशन से ऊर्जा का भली भाँति विकिरण करने के लिये आवश्यक है कि एरियल को श्रव्य आवृत्ति से कहीं अधिक आवृत्ति का विभव दिया जाय। इसी से संकेत को संचारित करने के लिये उच्च वाहकआवृत्ति की मूर्च्छना (मॉडयुलेशन) श्रव्य आवृत्ति द्वारा कर दी जाती है। मूर्च्छना आयाम-परिवर्तन अथवा आवृत्ति-परिवर्तन द्वारा की जाती है। वाहक की आयाम-मूर्च्छना चित्र ६ में दिखाई गई है।
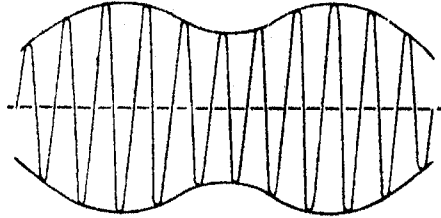
चित्र ६

संग्राही एरियल द्वारा प्राप्त रेडियो संकेत को फिर से श्रव्य बनाने के लिये श्रव्य आवृत्ति को वाहक आवृत्ति से अलग करना पड़ता है। इस क्रिया को परिचायन कहते हैं।

(३) **दोलक**—ट्रायोड का अन्य मुख्य उपयोग दोलक परिपथों में है। यदि किसी प्रवर्धक परिपथ के प्रदा का कुछ अंश उसके आदा में लगा दिया जाय, तो बिना किसी प्रत्यावर्ती स्रोत के परिपथ में विद्युद्धारा औसत मान से घटती बढ़ती रहेगी। और यदि प्रदा या आदा परिपथ किसी आवृत्ति
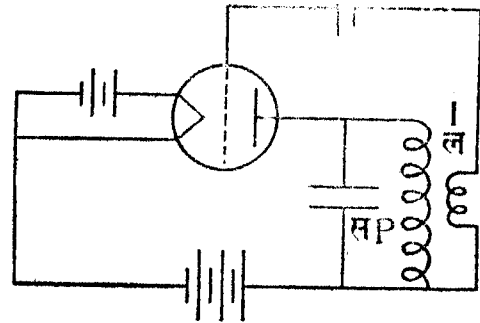
चित्र ७

के लिये संस्वरित हो तो यह परिपथ उसी आवृत्ति पर दोलन करता रहेगा। चित्र ७ में इसी प्रकार का एक परिपथ दिखाया गया है, जिसके दोलन की आवृत्ति प्लेट-परिपथ द्वारा निर्धारित होती है। प्लेट-धारा ट्रांसफार्मर के पूर्ववर्ती में होकर बहती है। यह परवर्ती में एक विद्युद्वाहक बल प्रेरित करती है, जिसके फलस्वरूप सी बैटरी के ग्रिड-अभिनति (बायस) के अतिरिक्त एक अन्य विभव ग्रिड पर लग जाता है। प्रेरकत्व तथा धारित्र के परिमाण द्वारा ही परिपथ के दोलन की मूल आवृत्ति निर्धारित होती है।

इस प्रकार के इलेक्ट्रान-नली-दोलकों के नाना प्रकार के उपयोग होते हैं। ये रेडियो-प्रेषित्र के मूल अंग होते हैं और वाहक-आवृत्ति का उत्पादन करते हैं। दोलक श्रव्य-आवृत्ति के भी बनाए जा सकते हैं।

गैसयुक्त नली—यदि एक नली में कम दाब पर कोई गैस भरी हो और उसके विद्युदग्रों में उचित विभवांतर स्थापित कर दिया जाय, तो नली में उद्दीप्ति-निरावेश स्थापित हो जाता है। ऐसी अवस्था में धारा-घनत्व कम होता है, परंतु उसकी अपेक्षा विभवांतर अधिक होता है। धारा का प्रवाह नली में उपस्थित गैसीय आयनों द्वारा होता है। ऐसी उद्दीप्ति-निरावेश-नली का उपयोग कई प्रकार से किया जा सकता है। इस प्रकार

का एक उपयोग शिथिलनदोलक (रिलैक्सेशन ऑसिलेटर) में होता है। यदि दो विद्युदग्रवाली एक गैसीय नली का संबंध चित्र ८ की तरह किया जाय तो संधारित्र का विभव ऐसी आवृत्ति से दोलन करेगा जो संधारित्र
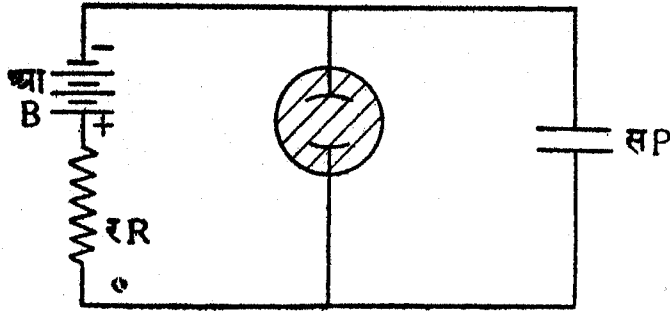
चित्र ८

के धारित्र और प्रतिरोधक के मान पर निर्भर होगा। इस प्रकार की उद्दीप्ति-निरावेश-नली विद्युदग्रों के एक क्रांतिक विभवांतर, **वि$_क$** (V_a), तक पूर्णतया अचालक होती है। तदुपरांत उसमें निरावेश स्थापित हो जाता है। निरावेश फिर तभी लुप्त होता है जब विभवांतर कम होकर **वि$_क$** (V_a) से नीचे विभव **वि$_ब$** (V_b) पर पहुँच जाता है।

चित्र ८ में बैटरी आ (B), प्रतिरोधक र (R) द्वारा, संधारित्र स (P) को चार्ज करती है। विभव **वि$_क$** (V_a) पहुँचने पर नली चालक हो जाती है और संधारित्र से उसमें बहुत अधिक विद्युद्धारा प्रवाहित होती है। बहुत ही कम समय में संधारित्र का विभव कम होकर **वि$_ब$** (V_b) तक पहुँच जाता है और निरावेश बंद हो जाने पर संधारित्र फिर से चार्ज होने लगता है। दो निरावेशों के बीच के समय को प्रतिरोधक र (R) द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है। इसी प्रकार का एक परिपथ ऋणाग्र-किरण-दोलन-लेखी (कैथोड रे ऑसिलॉस्कोप, देखें ऋणाग्र-किरण दोलन-लेखी) में किसी तरंग के आकार का निरीक्षण करने के लिये प्रयुक्त होता है।

किसी गैसयुक्त नली के एक विद्युदग्र को उष्मायन-ऋणाग्र बना दिया जाय तो इलेक्ट्रान धारा की उपस्थिति के कारण निरावेश दूसरी ही प्रकृति का होगा। इसमें बहुत कम विभवांतर पर ही अधिक धारा का प्रवाह हो सकता है। इस प्रकार की नली डायोड अथवा ट्रायोड दोनों ही हो सकती है। डायोड का प्रयोग ऋजुकारी की भाँति होता है और लगभग सभी उच्च क्षमतावाले परिपथों में डायोड गैसयुक्त होता है और उसमें पारद-वाष्प भरा रहता है। इस प्रकार की नली की कार्यनिष्पत्ति पूर्ण निर्वातनली से कहीं अधिक होती है, क्योंकि इसमें से अधिक धारा का प्रवाह होने पर भी विभव में बहुत कम वोल्ट का अंतर पड़ता है।

गैसयुक्त नली में निरावेश का नियंत्रण बहुत कम सीमा तक ग्रिड द्वारा किया जा सकता है; इस प्रकार की ग्रिड-नियंत्रित, तप्त ऋणाग्रवाली निरावेश नली को "थायरेट्रान" कहते हैं। थायरेट्रान में ग्रिड धनाग्र को ऋणाग्र
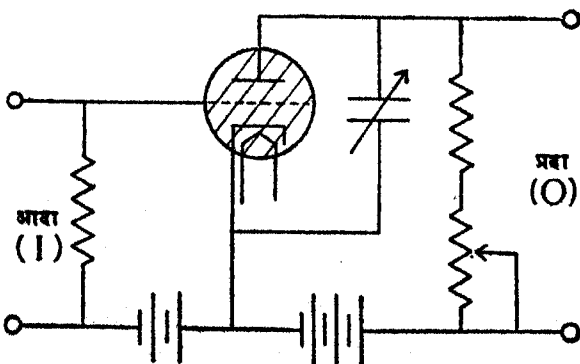
चित्र ९

से इस प्रकार परिरक्षित कर लेता है कि जब तक ग्रिड का एक उचित विभव न हो जाय, निरावेश स्थापित नहीं हो सकता। निरावेश स्थापित होते ही विद्युद्धारा पर ग्रिड का कोई प्रभाव नहीं होता और ग्रिड-विभव कम करने से भी निरावेश नहीं रोका जा सकता। इसके लिये प्लेट-विभव कम करने की आवश्यकता होती है।

यदि थायरेट्रान किसी प्रत्यावर्ती-धारा-परिपथ से संबद्ध हो तो यह केवल अर्धचक्र में ही चालक रहेगा, उसके अंत में वह अचालक हो जायगा। यदि ग्रिड-विभव क्रांतिक विभव से कम कर दिया जाय तो भी दूसरे चक्र में निरावेश नहीं स्थापित होगा। इस प्रकार की नली का उपयोग-"नियंत्रण परिपथों" में अधिक विद्युद्धारा को नियंत्रित करने के लिये होता है।

थायरेट्रान गैस-डायोड की तरह "रिलैक्सेशन ऑसिलेटर" में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार का एक परिपथ चित्र ९ में दिया गया है।

प्रकाश-संवेदी नली एवं युक्तियाँ—यदि कुछ धातुओं पर बहुत छोटे तरंग-दैर्घ्य का प्रकाश पड़े तो उनमें से इलेक्ट्रान बाहर निकल आते हैं (देखें **प्रकाश-विद्युत्**)। इलेक्ट्रान की संख्या प्रकाश की तीव्रता पर निर्भर रहती है। कुछ ऐसे भी धातु बनाए जा सकते हैं जो दृश्य प्रकाश के लिये भी संवेदी होते हैं। यदि एक प्रकाश-विद्युत्-ऋणाग्र तथा एक अन्य विद्युदग्र (धनाग्र) किसी निर्वात नली में रख दिए जायँ तो इस संयोजन को प्रकाश-विद्युन्नली कहते हैं। यदि धनाग्र को धन विभव पर रखा जाय तो ऋणाग्र पर प्रकाश
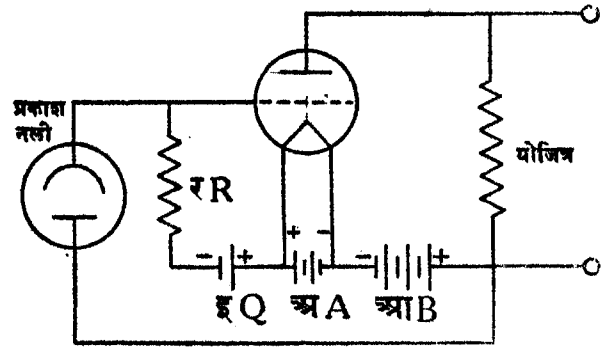
चित्र १०

पड़ने से धारा का प्रवाह होने लगेगा। इस प्रकार के प्रकाश-विद्युद्धारा की मात्रा बहुत कम होती है। परंतु फोटो-नली में भर देने से धारा की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। फोटो-नली को किसी भी उपयोग में लाने के लिये प्रकाश-विद्युद्धारा का किसी ट्रायोड इत्यादि द्वारा प्रवर्धन करना अत्यावश्यक होता है। इस कार्य के लिये एक साधारण परिपथ चित्र १० में दिया गया है। प्रकाश-विद्युद्धारा के कारण प्रतिरोधक र (R) में विभवांतर स्थापित हो जाता है जो ट्रायोड द्वारा प्रवर्धित होता है। इस परिपथ की प्रदा-वोल्टता का प्रयोग किसी गणक, योजित्र या अन्य किसी युक्ति को चलाने के लिये किया जाता है। प्रकाश-नली के कुछ उपयोगों का वर्णन निम्नलिखित है :

(१) **योजित्र क्रिया**—किसी प्रकाश-नली के ऋणाग्र पर पड़ते हुए प्रकाश को नियंत्रित करके योजित्रों और यांत्रिक युक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित किया जा सकता है। इसका उपयोग उद्योग में बनी हुई वस्तुओं की संख्या की गणना करने के लिये बहुत होता है। इसी प्रकार के और भी बहुत से कार्य प्रकाश-नली द्वारा लिए जाते हैं।

(२) **ध्वनि पुनरुत्पादन**—चलचित्र-फिल्म पर बने ध्वनिपथ को श्रव्य ध्वनि में परिवर्तित करने के लिये उस पथ पर एक नियत किरणावलि डालते हैं। पारगमित प्रकाश एक प्रकाश-नली के ऋणाग्र पर पड़ता है और इसकी तीव्रता में परिवर्तन उसी प्रकार से होते हैं जिस प्रकार से ध्वनिपथ में ध्वनि के परिवर्तन अंकित रहते हैं। इसी कारण प्रकाश-नली-धारा ध्वनि-परिवर्तनों के पूर्णतया समान होती है। इस विद्युद्धारा से किसी लाउडस्पीकर को चलाने के पहले इसको प्रवर्धित करना आवश्यक होता है।

(३) **प्रतिलिपि (फ़ैक्सिमिली) प्रणाली**—इस प्रणाली का प्रयोग

किसी चित्र अथवा इसी प्रकार की अन्य किसी वस्तु को एक जगह से दूसरी जगह, तार या रेडियो द्वारा, संचारित करने के लिये करते हैं। प्रथम बार सन् १९२५ में इसका प्रयोग आरंभ हुआ था। इसमें एक किरणावलि चित्र-फिल्म के प्रत्येक भाग से होकर जाती है। पारगमित प्रकाश की तीव्रता फिल्म के घनत्व पर निर्भर रहती है और एक प्रकाश-नली पर पड़ने पर उसी प्रकार के विद्युत आवेगों का प्रवाह होता है। इन आवेगों को तार या रेडियो द्वारा दूर तक के ग्राही केंद्रों को भेज दिया जाता है, जहाँ एक प्रकाश नली द्वारा फिर से चित्र तैयार हो जाता है।

प्रकाश-वैद्युत् युक्तियों का उपयोग दूरवीक्षण (टेलीविज़न) में भी बहुत होता है।

अन्य इलेक्ट्रानीय युक्तियों को तीन मुख्य भागों में विभाजित करके उनका वर्णन नीचे संक्षेप में किया गया है :

(क) **इलेक्ट्रानीय उपकरणिकाएँ**—निर्वात नली, थायरेट्रान तथा प्रकाश-नली में इलेक्ट्रान के उत्पादन तथा नियंत्रण की सहायता से इलेक्ट्रानिकी ने लगभग सभी विषय के वैज्ञानिकों को उनके कार्य के लिये अगणित उपकरणिकाएँ प्रस्तुत की हैं। उनमें से कुछ का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। कुछ अन्य प्रमुख उपकरणिकाओं का वर्णन नीचे किया जा रहा है :

(१) **दाब प्रमापी**—०.०५ से लेकर $१०^{-४}$ सेंटीमीटर तक की दाब नापने के लिये तापीय युग्म प्रमापी का प्रयोग किया जाता है। इस प्रमापी में दो विभिन्न धातुओं के तार की संधि का संबंध एक तंतु से कर दिया जाता है। तंतु को नियत वोल्टता-स्रोत से तप्त किया जाता है। इसका ताप आसपास के वातावरण की उष्मीय चालकता पर निर्भर रहता है और उष्मीय चालकता गैस की दाब पर। तापीय युग्म द्वारा उत्पन्न वोल्टता को नापकर गैस की दाब का अनुमान लगाया जा सकता है।

$१०^{-४}$ से $१०^{-७}$ सेंटीमीटर तक की दाब को नापने के लिये आयनीकरण प्रमापी का प्रयोग किया जाता है। यह एक ट्रायोड होता है, जिसमें तंतु, ग्रिड तथा प्लेट का प्रयोग किया जाता है। तंतु से निकले इलेक्ट्रान और गैस-अणुओं में मुठभेड़ होने पर, गैस के अणु आयनों में विभाजित हो जाते हैं। धन आयनों के ऋणात्मक प्लेट की ओर जाने के कारण आयन-धारा का प्रवाह होता है। यह धारा गैस-दाब पर निर्भर रहती है और इसको नापने से दाब का अनुमान किया जाता है।

(२) **इलेक्ट्रानीय गणक तथा संगणक**—बहुत से परिपथ विद्युत्स्पंदों की गणना करने के लिये बनाए गए हैं। ऐसे परिपथों का उपयोग नाभिकीय इंजीनियरी में बहुत होता है। इनका मूल सिद्धांत यह होता है कि परिपथ के आदा में कई स्पंदों को लगाने पर प्रदा में एक स्पंद बनता है। इन प्रदा स्पंदों से एक यांत्रिक गणक चलाया जाता है। इस प्रकार का एक परिपथ चित्र ११ में दिया है।

गणक (काउंटर) का सिद्धांत संगणक (कैल्क्युलेटर) बनाने के लिये भी प्रयुक्त होता है। ये दो प्रकार के होते हैं : आंकिक (डिजिटल) तथा अनुरूप (ऐनालॉग)। आंकिक संगणक में संख्याओं को साधारण अंकों
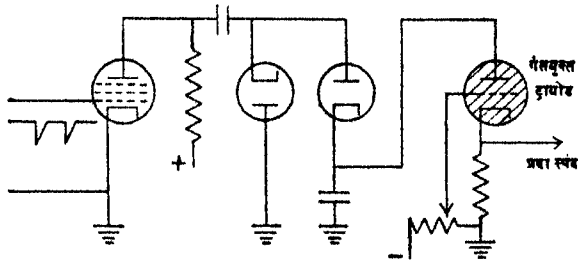
चित्र ११

में रखकर कार्य होता है, परंतु अनुरूप संगणक में संख्याओंको किसी भौतिक मात्रा में रूपांतरित करके कार्य होता है।

(३) **इलेक्ट्रानीय निमेषमान**—मैरीसन के सन् १९२७ के आविष्कार के पश्चात से सूक्ष्मता से समय नापने के लिये इलेक्ट्रानीय निमेषमान का प्रयोग होता है। इस यंत्र से समय इतनी सूक्ष्मता से नापा जा सकता है कि एक दिन में १/१००,०००,००० भाग से कम का अंतर पड़ता है। इसमें मणिभ (क्रिस्टल)-नियंत्रित इलेक्ट्रान-नली-दोलक का उपयोग होता है। स्फटिक-मणिभ-पट्ट (क्वार्ट्ज क्रिस्टल प्लेट) की आवृत्तियों को ताप, वायु-दाब तथा आर्द्रता से प्रभावित न होने देने के लिये उसको काच की नली में बंद करके नियत ताप पर रखा जाता है। आवृत्ति-विभाजन-परिपथ द्वारा अंततोगत्वा ६० चक्र प्रति सेकंड की आवृत्ति उत्पन्न की जाती है और उससे समक्रमिक (सिंक्रोनस) मोटर चलाई जाती है। अंत में इस मोटर द्वारा घड़ी की सुइयाँ चलती हैं।

(४) **हाइड्रोजन-आयन-सांद्रण-मापी (पी-एच मीटर)**—(क) रसायन शास्त्र में कुछ क्रियाओं के अंतर्गत हाइड्रोजन-आयन-सांद्रण (पी-एच मान) का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण होता है। किसी घोल का पी-एच मान दो अर्धसेलों का विभवांतर नापने से ज्ञात किया जा सकता है। इस सेल में एक निर्देश-विद्युदग्र होता है और दूसरा विद्युदग्र ऐसा होता है जो हाइड्रोजन-आयन से प्रभावित होता है (देखें **रासायनिक उपकरण**)। इन विद्युदग्रों के बीच बहुत ही थोड़ा विभवांतर स्थापित होता है। इस कारण एक प्रवर्धक का भी प्रयोग किया जाता है।

(ख) **संचार में इलेक्ट्रानिकी**—इलेक्ट्रानिकी के अंतर्गत हुए पहले प्रयत्नों का बहुत अधिक संबंध संचार के क्षेत्र से था। रेडियो, दूरवीक्षण, राडार इत्यादि इन्हीं आविष्कारों के फल हैं। ये सब आधुनिक मानव जीवन के मूल अंग हो गए हैं।

(१) **रेडियो-प्रेषी**—श्रव्य ध्वनि को एक स्थान से दूसरे स्थान तक संचारित करने के लिय रेडियो-प्रेषी का प्रयोग किया जाता है। चित्र १२ में आयाम-मूर्च्छित रेडियो-प्रेषी का रेखाचित्र दिया गया है। ध्वनिपोष द्वारा
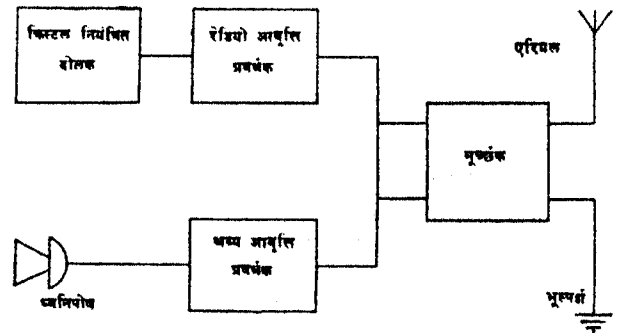
चित्र १२

उत्पन्न श्रव्य आवृत्ति का पहले प्रवर्धन किया जाता है और फिर इससे रेडियो-आवृत्ति-वाहक की मूर्च्छना (मॉड्युलेशन) करते हैं। मूर्च्छना के पहल रेडियो-आवृत्ति का भी प्रवर्धन करना आवश्यक होता है। मूर्च्छना के प्रदा को एरियल द्वारा संचारित कर दिया जाता है। आयाम-मूर्च्छित रेडियो प्रेषी के अतिरिक्त आवृत्ति-मूर्च्छित रेडियो प्रेषी का भी उपयोग किया जाता है।

(२) **रेडियो संग्राही**—रेडियो-प्रेषी द्वारा संचारित संकेतों को फिर से श्रव्य बनाने के लिये रेडियो-संग्राही की आवश्यकता होती है। एक आधुनिक संग्राही का सांकेतिकचित्र चित्र १३ में दिया गया है। एरियल द्वारा प्राप्त संकेत को समस्वरित (ट्यूंड) प्रवर्धक से प्रवर्धित करके उसकी वाहक आवृत्ति को एक अन्य अंतःस्थ आवृत्ति में बदल देते हैं। यह कार्य आवृत्ति-परिवर्तित्र द्वारा होता है। अंतःस्थ आवृत्तिप्रवर्धन के बाद विसंकालक द्वारा श्रव्य आवृत्ति को वाहक आवृत्ति से अलग कर दिया जाता है। इसे एक बार फिर प्रवर्धित किया जाता है। प्रवर्धक के उत्पाद को लाउडस्पीकर में लगा देने से रेडियो-संकेत श्रव्य हो जाता है। (देखें **रेडियो, रेडियो संग्राही**)।

(३) **दूरवीक्षण**—दूरवीक्षण द्वारा किसी चित्र का संचालन एक स्थान से दूसरे स्थान तक वैद्युत् संकेतों के रूप में होता है। इस उपकरण का विशेष उपयोग जनता के मनोरंजन तथा शिक्षा के लिये होता है। चित्र

को वैद्युत् संकेत में परिवर्तित करने के लिये विशेष प्रकार की प्रकाश-नली (जैसे इमेज ऑर्थीकॉन तथा विडीकॉन) का प्रयोग किया जाता है। संग्राही

चित्र १३

केंद्र पर विद्युत् संकेतों को फिर से संचारित चित्र में बदलने के लिये एक अन्य प्रकार की नली "काइनॉस्कोप" का प्रयोग किया जाता है (देखें **दूरवीक्षण**)।

(४) **राडार**—सन् १९२२ में टेलर ने यह देखा कि यदि कोई जहाज रेडियो तरंग के पथ में आ जाता है तो ऊर्जा का कुछ अंश परावर्तित होकर रेडियो-प्रेषी पर लौट आता है। आधुनिक युग में इस प्रेक्षण का उपयोग राडार के रूप में होता है। किसी वायुयान, पनडुब्बी (सबमैरीन) तथा जलयान की स्थिति का पता लगाने तथा इनके नौतरण में राडार बहुत अधिक सहायता करता है। राडार में एक प्रेषी अत्यंत शक्तिशाली तथा अल्प कालिक स्पंदों को संचारित करता है। किसी पदार्थ से परावर्तित होकर ऊर्जा का कुछ अंश प्रेषी पर वापस आ जाता है। इस प्रतिध्वनि के वापस आने तक के समय के अंतर को नापकर परावर्तक की दूरी का ज्ञान हो सकता है। अनुदिक एरियल का प्रयोग करके परावर्तक की दिशा का भी ज्ञान हो सकता है (देखें **राडार**)।

(ग) **उद्योग में इलेक्ट्रानिकी**—उद्योग में इलेक्ट्रानिकी के इतने अधिक उपयोग हैं कि उन सबको गिनाना कठिन है। कुछ उपयोगों का वर्णन उदाहरण के लिये नीचे किया जा रहा है :

(१) **प्रेरण-तापन (इंडक्शन हीटिंग)**—उद्योग में वस्तुओं को तप्त करने के लिये विद्युत् का बहुत प्रयोग होता है। इस विधि से कार्य बहुत स्वच्छ होता है तथा खुली हुई ज्वाला उपस्थित नहीं रहती। धातुओं को तप्त करने की विधि को प्रेरण-तापन तथा अचालक वस्तुओं को तप्त करने की विधि को पारविद्युत्-तापन कहते हैं। इन दोनों विधियों के लिये उच्च आवृत्ति की प्रत्यावर्ती धारा की आवश्यकता होती है। तप्त की जानेवाली धातु के टुकड़े के चारों ओर (चित्र १४) एक कुंडली लपेट कर उसमें प्रत्यावर्त्ती धारा का प्रवाह करते हैं। विद्युत्-प्रवाह से उत्पन्न चुंबकीय स्पंद (फ़्लक्स) वायु में से तथा कुंडली एवं कुंडली के समीप उपस्थित धातु में से

चित्र १४
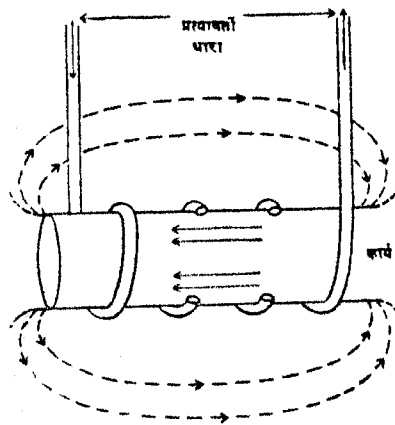
भी होकर जाता है। धारा के उत्क्रमण से स्पंद में भी परिवर्तन होता है, जिसके कारण धातु में वोल्टता प्रेरित हो जाती है। इस वोल्टता के कारण धातु में अधिक मात्रा में भँवर धारा का प्रवाह होने लगता है (चित्र १५)। तब धातु के प्रतिरोध के कारण ताप उत्पन्न हो जाता है।
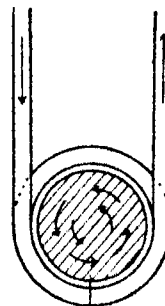
चित्र १५

(२) **पारवैद्युत तापन**—विद्युत् से अचालक पदार्थों को तप्त करने के लिये १००० किलोसाइकिल या १ मेगासाइकिल से अधिक आवृत्ति की शक्ति की आवश्यकता होती है। क्योंकि वस्तु में होकर धारा प्रवाहित नहीं हो सकती, इसलिये वस्तु को उच्च वोल्टतावाले धातु के प्लेटों के बीच में रखा जाता है (चित्र १६)। विद्युत् क्षेत्र के तीव्र परिवर्तन के कारण अचालक वस्तु की अणु-संरचना में भी वैसे ही परिवर्तन होने लगते हैं। अणुओं के बीच में घर्षण होने के कारण वस्तु में सब ओर समान ताप उत्पन्न हो जाता है। इस विधि से अचालक वस्तुओं की मोटी चादरों को बहुत थोड़े समय में तप्त किया जा सकता है।

(३) **प्रतिरोध संधान**—धातु के दो टुकड़ों में उच्च विद्युद्धारा (१००० से १,००,००० ऐंपियर) प्रवाहित करने से उनको संधानित (वेल्ड) किया जा सकता है, अर्थात् जोड़ा जा सकता है। संधान मशीन में एक संधान परिवर्तक (ट्रैंसफ़ार्मर) रहता है, जो २२० या ४४० वोल्ट की विद्युत् को दो विद्युदग्रों के बीच में १ से १० वोल्टवाली में परिवर्तित कर देता है और साथ ही साथ उच्च विद्युद्धारा देता है। संधान करने के लिये यह आवश्यक है कि धारा का प्रवाह अल्प समय के लिये ही हो। इसी से एक संस्पर्श-कर्ता-परिपथ का प्रयोग किया जाता है। यह युक्ति परिपथ को शीघ्र शीघ्र जोड़ती और तोड़ती रहती है। संस्पर्श-कर्ता-परिपथ में "इग्नीट्रॉन" नामक इलेक्ट्रान-नली का प्रयोग करते हैं। इग्नीट्रान एक विशेष प्रकार की गैस-युक्त नली होती है, जो उच्च विद्युद्धारा को सँभाल सकती है। इसका उपयोग थायरेट्रान नली के समान होता है।
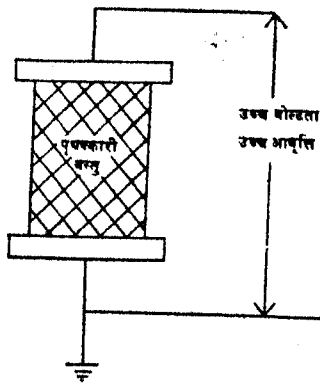
चित्र १६

उद्योग में प्रयुक्त होनेवाली अन्य बहुत-सी इलेक्ट्रानीय उपकरणिकाओं के लिये **उद्योग में इलेक्ट्रानिकी** शीर्षक लेख देखें।

ट्रैंजिस्टर—इलेक्ट्रान-नली की ही भाँति एक अन्य युक्ति ट्रैंजिस्टर का आविष्कार ब्रेटन, बार्डीन एवं शॉकले ने हाल में किया है। इसमें दो विभिन्न प्रकार के मणिभ (अधिकतर जर्मेनियम तथा सिलीकन के) रहते हैं। एक में एक इलेक्ट्रान का बाहुल्य तथा दूसरे में एक इलेक्ट्रान की न्यूनता रहती है। जब कोई धन विभव कम इलेक्ट्रानवाले मणिभ की ओर लगाया जाता है, तो इलेक्ट्रान का प्रवाह अधिक इलेक्ट्रानवाले मणिभ से कम इलेक्ट्रानवाले मणिभ की ओर होने लगता है। इस प्रकार हमें एक बहुत छोटे आकार में दो विद्युदग्रोंवाली इलेक्ट्रान नली (डायोड) की क्रिया प्राप्त होती है। बधिरों का श्रवण-सहायक (हियरिंग एड), पाकेट रेडियो इत्यादि इसी की देन हैं। आजकल इसको प्रयोग में लानेवाले नवीन परिपथों पर गवेषणा कार्य पर्याप्त तत्परता से हो रहा है।

इन सब उपयोगों के अध्ययन से प्रत्यक्ष है कि वर्तमान वैज्ञानिक युग की श्रेष्ठतम देन इलेक्ट्रानिकी और उसकी उपकरणिकाएँ हैं। आजकल रॉकेट तथा प्रक्षेप्यास्त्र को नियंत्रित करनेवाले परिपथों की उन्नति करने में भी बहुत खोज हो रही है। इन्हीं कुछ परिपथों का प्रयोग रॉकेट या कृत्रिम उपग्रहों द्वारा प्राप्त सूचनाओं को प्रसारित कर पुनः प्राप्त करने में किया जाता है।

सं०ग्रं०—एफ़० ई० टर्मन : इलेक्ट्रॉनिक ऐंड रेडियो इंजीनियरिंग (१९५५); जी० एम० शूट : इलेक्ट्रॉनिक्स इन इंडस्ट्री (१९५६); आर० एस० ग्लास्गो : प्रिंसिपुल्स आँव रेडियो इंजीनियरिंग (१९३६); एम० सीली : इलेक्ट्रॉनिक्स (१९५१)। [शं० स्व०]

इलेक्ट्रानीय वाद्ययंत्र

इलेक्ट्रानीय वाद्ययंत्र ऐसे यंत्रों को कहते हैं, जिनमें विद्युत् शक्ति से वाद्ययंत्रों की सी ध्वनि उत्पन्न की जाती है। ये यंत्र दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो दूसरे वाद्ययंत्रों के कंपन का वर्धन (ऐंप्लिफ़िकेशन) करते हैं, और दूसरे वे जो स्वयं विद्युत्तरंगों का जनन करके, वर्धन के पश्चात् उन्हें ध्वनि में परिवर्तित कर देते हैं।

पहले प्रकार के यंत्र वायलिन अथवा सरोद ऐसे वाद्ययंत्रों की ध्वनि-पेटिकाओं पर लगाए जाते हैं। इनसे वाद्ययंत्रों के यांत्रिक कंपन को (वायु कंपनों को नहीं) ट्रांसडयूसर द्वारा विद्युत्कंपन में परिवर्तित किया जाता है। वर्धन के पश्चात् यह विद्युत्कंपन उद्घोषित्र (लाउडस्पीकर) द्वारा ध्वनि में रूपांतरित किया जाता है। यह ध्यान देने योग्य है कि टेप रेकार्डर को इलेक्ट्रानीय वाद्ययंत्र नहीं कहा जाता, क्योंकि इसमें दूसरे वाद्ययंत्रों की ध्वनि माइक्रोफोन द्वारा संग्रह कर ली जाती है और इच्छानुसार सुनी जा सकती है। टेप रिकार्डर अपनी ध्वनि नहीं उत्पन्न करता।

दूसरे प्रकार के यंत्रों का सर्वप्रथम उदाहरण डडेल ने १९०० ई० में आविष्कृत किया। इसे गायक चाप (सिंगिंग आर्क) कहते हैं। जब वैद्युत् दिष्ट धारा (डी० सी०) के आर्क के पार्श्व में एक प्रेरक (इंडक्टेंस) और वैद्युत् धारित्र (कैपेसिटी) जोड़ दिए जाते हैं तो आर्क में से एक ध्वनि प्रस्फुटित होती है, जिसकी आवृत्ति

आ=१/२π√(प्रे × धा) $N = 1/2\pi\sqrt{(I \times C)}$,

जहाँ प्रे(I)=प्रेरक, धा(C)=धारित्र। प्रेरक या धारित्र के बदलने से ध्वनि का तारत्व बदल जाता है।

सन् १९०० के बाद से अब तक कई प्रकार के इलेक्ट्रानीय वाद्ययंत्रों का निर्माण हो चुका है। इनमें से कुछ का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। रेडियो वाल्व के आविष्कार के कारण पूर्ण स्वरतालिका सहित वाद्ययंत्रों का निर्माण संभव हो गया है। एक तालिका के दबाने से एक निश्चित आवृत्ति के दोलक का संबंध उद्घोषित्र (लाउडस्पीकर) से हो जाता है। इस विधान में प्रत्येक सुर के लिये कम से कम एक रेडियो वाल्व अलग से चाहिए। अतएव यह वाद्ययंत्र व्यापारिक दृष्टि से सफल नहीं हो सका। इसका प्राथमिक मूल्य अधिक और परिपालन कठिन था। आजकल ट्रैंजिस्टरों के आविष्कार से यह समस्या सरल हो गई है, क्योंकि ट्रैंजिस्टर माप में छोटे होते हैं, उनमें बहुत कम विद्युत्शक्ति की आवश्यकता होती है और वे बहुत टिकाऊ होते हैं। वाद्यध्वनि के तीन गुण होते हैं: तारत्व (पिच), उद्घोषता (लाउडनेस) तथा लक्षण (टिंबर)। लक्षण बहुत कुछ आवर्तक (हारमोनिक्स) और दूसरे सुरों के मिश्रण तथा विद्युत्परिपथ (सरकिट) पर निर्भर रहता है। इसका उल्लेख नीचे नहीं किया जायगा।

लीओ थेरेमिन नामक एक रूसी के बनाए वाद्ययंत्र का नाम उसी के नाम पर थेरेमिन प्रसिद्ध है। इसमें दो उच्चावृत्ति (हाई फ्रीक्वेंसी) दोलक प्रयुक्त होते हैं। एक दोलक की आवृत्ति स्थिर रखी जाती है और दूसरे की आवृत्ति हाथ या धातु की छड़ी खुले हुए धारित्र के समीप ले जाने से बदली जा सकती है। सामान्यतः यह धारित्र एक स्टैंड के सबसे ऊपरवाल हिस्से में लगाया जाता है (चित्र देखें)।
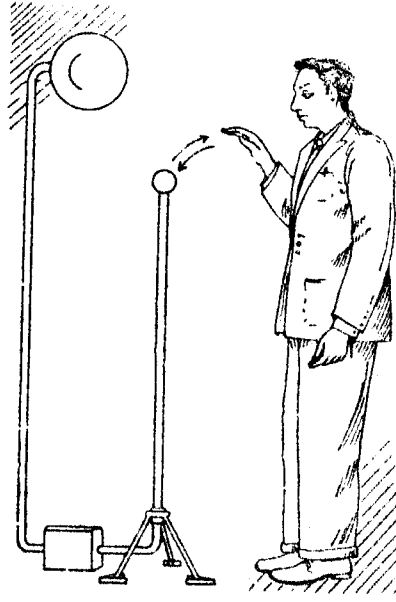
थेरेमिन

हाथ या छड़ी के हिलने से विद्युद्धारिता में परिवर्तन होता है और फलस्वरूप इस दोलक की आवृत्ति भी ऊपर दिए समीकरण के अनुसार बदल जाती है। इन दोनों आवृत्तियों को मिलाने से जो ध्वनि-आवृत्ति उत्पन्न होती है उसका वर्धन करके लाउडस्पीकर में लगा दिया जाता है। स्पष्ट है कि ध्वनि का तारत्व लगातार संपूर्ण श्रव्य क्षेत्र तक बदला जा सकता है। हाथ या छड़ी को एक स्थान पर स्थिर रखने से एक ही सुर तथा दूसरे स्थान पर स्थिर रखने से दूसरा सुर निकलता है। इस प्रकार इस यंत्र से अत्यंत मधुर संगीत उत्पन्न किया जा सकता है। इसके पश्चात् इस यंत्र का एक नया रूप आविष्कृत हुआ है, जिसमें प्रत्येक सुर के लिये एक तालिका (की) दबानी पड़ती है। तालिका दबने पर एक नियत धारित्र का संबंध परिवर्तनशील दोलक से हो जाता है और तारत्व क्रमानुसार संगीतस्वर के सुरों में बदला जा सकता है।

सन् १९३० में जर्मनी की टेलीफुंकेन कंपनी ने ट्राटोनियम नामक यंत्र का निर्माण किया। इसमें ध्वनि का तारत्व और उद्घोषता दोनों बदली जाती हैं। यह बाजा एक तार पर उँगली चलाकर बजाया जाता है। जिस स्थान पर तार दबाया जाता है उसके अनुसार ध्वनि का तारत्व निकलता है और जितनी अधिक दाब से तार दबाया जाता है उतनी ही अधिक उद्घोषता होती है। इस यंत्र में एक ग्रिड-उद्दीप्त-वाल्व (ग्रिड-ग्लो-ट्यूब) आवृत्ति उत्पन्न करता है। ग्रिड के विभव (पोटेंशियल) के अनुसार आवृत्ति होती है। तार विद्युत्प्रतिरोधक धातु का बना होता है और एक चालक धातु-पट्टिका के थोड़ा ऊपर तना रहता है। नियंत्रित स्थानों पर तार दबाने से पट्टिका का विभव क्रमानुसार बदलता है, साथ ही पट्टिका भी अपने स्थान से उँगली की दाब के अनुसार हिल जाती है। पट्टिका के संचलन से ध्वनि की उद्घोषता बदलती है। इस यंत्र से संतोषजनक संगीत सुना जा सकता है।

सन् १९३५ में लारेंस हैमांड ने अमरीका में हैमांड आरगन का आविष्कार किया। इसमें स्वरतालिका का प्रयोग होता है और गिरजाघर के आरगनों की भाँति ध्वनिकंपन उत्पन्न किया जा सकता है।

हाल ही में संश्लिष्ट वाग्ध्वनि उत्पन्न करने में बहुत प्रगति हुई है। निकट भविष्य में यह संभव है कि संश्लिष्ट वाक्संगीत (गायन) के यंत्र भी बनने लगें, पर ऐसे यंत्र बहुत ही जटिल होंगे। [ब० ना० सिं०]

इलेर्दा का युद्ध इटली के इतिहास में बड़े महत्व का था। यह ४९ ई० पू० मार्च ६ और जुलाई २ के बीच लड़ा गया था। इसके नायक प्रजातांत्रिक दल के नेता जूलियस सीज़र और अभिजातवर्ग के नेता पांपेइ थे। सीज़र ने अपने दो महीनों के अभियान में समूचे इटली पर अधिकार कर लिया। फिर भी वह इटली का स्वामी न हो सका क्योंकि पांपेइ की शक्ति ग्रीस आदि पूरबी देशों में बड़ी थी और वह इटली को मिस्र, सिसिली और सार्दीनिया से जानेवाली रसद काट सकता था, फिर उसकी स्पेनी सेनाएँ इटली और गाल दोनों के लिये भीषण खतरे की थीं। सो सीज़र पहले स्पेन की ओर बढ़ा। वहाँ पांपेइ स्वयं तो नहीं था पर उसके शक्तिमान सेनापति अफ़ानियस और पेत्रियस विशाल सेनाओं के साथ संनद्ध थ। इलेर्दा के सिकोरिस नदवर्ती कस्बे में उनकी सेनाएँ पड़ाव डाले जमी थीं। सीज़र ने हमला किया पर उसे अपने मुँह की खानी पड़ी। फिर तो रक्तपात छोड़ चालों की लड़ाई शुरू हुई। दाँवपेंच चलने लगे और अंत में अफ़ानियस की सेनाओं को घेर, उसे जलविहीन कर सीज़र ने संधि करने पर मजबूर किया। चालों और बातों की लड़ाई में इलेर्दा के युद्ध के समान संसार का संभवतः कोई दूसरा युद्ध नहीं। राजनीतिक दृष्टि से भी इसने पांपेइ को यूरोप से काट दिया और उसे एशियाई देशों की शरण लेते हुए अपनी मौत की ओर प्रयाण करना पड़ा। [ओं०ना०उ०]

इलकल नवीन मैसूर राज्य में बीजापुर जिले (पहले बंबई राज्य) के हुनगुंद तालुका में हुनगुंद से ८ मील दक्षिण-पूर्व में स्थित एक छोटा नगर है। (१५° ५७' उ० अक्षांश एवं ७६° ७' पूर्व देशांतर)। १८५१ ई० में इसकी जनसंख्या ७,०४१ थी जो सौ वर्षों (१९५१) में क्रमिक गति से बढ़कर २०,७४७ हो गई। यह नगर जिले के बड़े व्यापारिक नगरों में से एक है और यहाँ बुनाई एवं रँगाई का उद्योग प्रमुख है। यहाँ से निर्यात की जानेवाली वस्तुओं में रेशमी तथा सूती कपड़े और कृषि की उपजें मुख्य हैं। दक्षिणी स्त्रियों के पहनावे के उद्योग के लिये भी यह प्रसिद्ध है। यहाँ आधुनिक ढंग से निर्मित बासंकरी, बसवण्णा एवं व्यांकोबा के तीन मंदिर बहुत ही प्रसिद्ध हैं। यहाँ पौष पूर्णिमा को प्रतिवर्ष बड़ा मेला लगता है। [का०ना०सिं०]

इल्मेनाइट एक खनिज है, जो प्रधानतः लौह टाइटेनेट है। अनेक उद्योगों में टाइटेनियम के उपयोग की वृद्धि होने के कारण इल्मेनाइट के खनन तथा उत्पादन की ओर विश्व के अनेक शक्तिशाली राष्ट्रों का ध्यान आकर्षित हुआ है। यद्यपि इल्मेनाइट आग्नेय एवम् परिवर्तित शिलाओं का नितांत सामान्य भाग है, तथापि भारत में समुद्रतटीय बालू के निक्षेपों के अतिरिक्त कोई भी निक्षेप ऐसा नहीं है जहाँ आर्थिक एवं वाणिज्य की दृष्टि से खननकार्य लाभप्रद हो। दक्षिण भारत में तटीय बालू के लगभग १०० मील लंबे भूखंड में, पश्चिमी तट पर क्विलन के उत्तर में नंदीकारिया से कन्याकुमारी तक तथा पूर्वी तट पर किनारे किनारे तिरूनेलवेली जिले में लिपुरूम तक, इल्मेनाइट अधिक मात्रा में पाया जाता है। इल्मेनाइट बालू के साहचर्य में रघूटाइल, जिरकन, सिलीमेनाइट तथा मोनाजाइट आदि खनिज के रूप में मिलता है। कुछ कम महत्व की इल्मेनाइटयुक्त तटीय बालू मालाबार, रामनाथपुरम्, तंजोर, विशाखपतनम्, रत्नगिरि तथा गंजाम जिलों में भी मिली है।

त्रावनकोर में इल्मेनाइटयुक्त तटीय बालू को खोदकर समीप के सांद्रण कारखानों को भेज दिया जाता है, जहाँ ९५ प्रतिशत शुद्धता का इल्मेनाइट प्राप्त किया जाता है।

इल्मेनाइट का उपयोग आजकल टाइटेनियम श्वेत नामक श्वेत तैल रंग के निर्माण में किया जाता है। टाइटेनियम श्वेत 'सफेदा' (लेड सल्फेट) से भी अधिक श्वेत होता है। इसका और इसके यौगिकों का उपयोग तैल रंगों के अतिरिक्त कागज, चर्म, सूती कपड़े, रबर, प्लैस्टिक आदि अनेक उद्योगों में होता है। धात्विक टाइटेनियम का उपयोग विशेष प्रकार के इस्पात के निर्माण में किया जाता है।

उत्पादन—विश्व में इल्मेनाइट उत्पादन की दृष्टि से भारत का स्थान दूसरा है। अनुमानित आँकड़ों के अनुसार इसका समस्त भांडार ३५ करोड़ टन के लगभग आँका गया है। भारत में उत्पादित इल्मेनाइट का अधिकांश विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। गत पाँच वर्षों में भारत के इल्मेनाइट का उत्पादन इस प्रकार रहा है :

वर्ष	उत्पादन (टनों में)	मूल्य (रुपए में)
१९५३	२,१५,२५९	९२,०५,१३८
१९५४	२,४०,५१३	७९,८०,०००
१९५५	२,५०,७७४	१,३१,९०,०००
१९५६	३,३५,५९०	१,७८,१२,०००
१९५७*	२,९६,०००	१,६८,१२,०००

* अस्थायी

[वि० सा० दु०]

इवलिन, जॉन (१६२०-१७०६)—इनका जन्म सरे प्रदेश के एक ऐसे कुलीन परिवार में हुआ था जिसके वंशज दीर्घकाल से इंग्लैंडके नरेशों तथा विधान के सबल समर्थक रहे। राजभक्ति की इस वंशपरंपरा के अनुसार ही युवक इवलिन को आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय छोड़ने के साथ ही सन् १६४२ में भयंकर गृहयुद्ध की भड़कती अग्निज्वाला में चार्ल्स प्रथम की विजय के लिये कूदना पड़ा। परंतु वर्ष के अंतिम चरण में उन्होंने स्वदेश को छोड़कर हालैंड को प्रस्थान किया। कई वर्षों तक वे यूरोप के विभिन्न देशों में भ्रमण करते रहे और इस यात्रा से उपलब्ध अनुभवों का प्रयोग उन्होंने अपनी प्रसिद्ध 'डायरी' में यथास्थान किया। डायरी का आरंभ १६४२ से हुआ और १७०६ तक की प्रसिद्ध घटनाओं का इसमें उल्लेख है। सन् १६५२ ई० में वे स्वदेश लौटे और सेज़ कोर्ट नामक स्थान पर स्थायी रूप से बस गए। यहीं पर 'सिल्वा' तथा 'स्कल्प्चुरा' नामक दो ग्रंथों में उन्होंने अपने बागवानी तथा गृह-निर्माण-कला संबंधी गहन ज्ञान का परिचय दिया। सन् १६६० में वे 'रायल सोसायटी' के सदस्य हुए और कुछ समय तक इसके स्थानापन्न मंत्री भी रहे। १६८५ से १६८७ तक 'कमिश्नर ऑव प्रीवी सील' के संमानित पद को भी उन्होंने सुशोभित किया और १६९५ से १७०३ ई० तक ग्रीनविच हास्पिटल के कोषाध्यक्ष भी रहे।

जॉन इवलिन प्रसिद्ध डायरी लेखक सैमुएल पेप्स के घनिष्ठ मित्रों में थे परंतु उनका स्वभाव तथा चरित्र पेप्स महोदय से बिलकुल भिन्न था। इनके व्यक्तित्व में उत्कट राजभक्ति, विशुद्ध धार्मिकता तथा विवेकशील दार्शनिकता का सुखद संमिश्रण था। चार्ल्स द्वितीय के शासनकाल में भी, जब कि अनैतिकता का बोलबाला था और कामिनी तथा सुरा की भोगलिप्सा प्रायः संक्रामक रोग सी हो गई थी, इवलिन महोदय ने अपने को व्याधिमुक्त ही रखा। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी और वे शुद्ध मनोरंजन तथा सामाजिक जीवन की विविधता एवं बहुरसता के हार्दिक प्रेमी थे। उनकी डायरी में वह रस तथा रंग नहीं है जो सैमुएल पेप्स की सफल लेखनी ने संचारित किया है, परंतु उसमें इंग्लैंड के एक तूफानी युग के विभिन्न पहलुओं के विशद चित्र अंकित हैं। 'डायरी' में उनके महान् व्यक्तित्व के साथ ही प्रकांड पांडित्य का साक्षात्कार होता है। पेप्स महोदय की तरह उन्होंने अपने अनुभवों को विशृंखल नहीं छोड़ा है, अपितु कुशल कलाकार के समान एक अंश को दूसरे से गुंफित कर दिया है। परंतु उनकी गद्यशैली सरल तथा स्पष्ट होते हुए भी रसहीन तथा कई स्थलों पर शुष्क प्रतीत होती है।

सं०ग्रं०—एo डॉब्सन : डायरी ऑव जॉन इवलिन, तीन जिल्दों में, १९०६। [वि० रा०]

इशिई, किकुजिरो, वाइकाउंट (१८६६—) जापानी राजनयज्ञ, जिसका जन्म चिबा में हुआ। तोकियो विश्वविद्यालय से अंतर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन कर वह पेरिस स्थित जापानी दूतावास में नियुक्त हुआ। वहाँ उसने अंग्रेजी और फ्रेंच सीख जापानी-फ्रांसीसी व्यावसायिक संबंध दृढ़ किया। धीरे धीरे वह देश के उच्च से उच्चतर पदों पर चढ़ता गया और यूरोप और अमरीका में वह जापान का राजदूत रहा। जापान का हित अनेक रूपों में इशिई ने साधा।

वाइकाउंट किकुजिरो का सबसे महान् कार्य, जिसके लिये देश उसका ऋणी है, १९१७ ई० के बीच 'भद्रजनीय एकरारनामा' था। इसका दूसरा

नाम 'लैंसिंग-इशिई पैक्ट' है, जिसमें उसका सक्रिय सहयोग घोषित है। जापानियों के निरंतर अभिसंक्रमण से जो कैलिफोर्निया के नगर एशियाई बाशिंदों से भरे जा रहे थे उससे अमरीका की रक्षा करना इस संबंध का मंतव्य था। इशिई राष्ट्रसंघ (लीग ऑव नेशंस) का जापानी प्रतिनिधि भी हुआ, फिर एक बार उसबकी असेंबली का और दो दो बार उसकी परिषद् (कौंसिल) का वह अध्यक्ष हुआ। [ओं० ना० उ०]

इश्तर बाबुल, असुर और सुमेर की मातृदेवी। गैरसामी सुमेरी सभ्यता के ऊर, उरुख आदि विविध नगरों में उसकी पूजा नना, इन्नन्ना, नीना और अनुनित नामों से होती थी। इनके अपने अपने विविध मंदिर थे। इनका महत्व अन्य देवियों की भाँति अपने देवपतियों के छायारूप के कारण न होकर अपना निजी था और इनकी पूजा अपनी स्वतंत्र शक्ति के कारण होती थी। ये आरंभ में भिन्न भिन्न शक्तियों की अधिष्ठात्री देवियाँ थीं पर बाद में अक्कादी-बाबुली काल में, ईसा से प्रायः ढाई हजार साल पहले, इनकी संमिलित शक्ति को "इश्तर" नाम दिया गया। इश्तर का प्राचीनतम अक्कादी रूप 'अश-दर' था जो उस भाषा के अभिलेखों में मिलता है। अक्कादी में इसका अर्थ अनूदित होकर वही हुआ जो प्राचीनतर सुमेरी इन्नन्ना या इन्नीनी का था—'स्वर्ग की देवी।' सुमेरी सभ्यता में यह मातृदेवी सर्वथा कुमारी थी। फ़िनीकी में उसका नाम अस्तार्ते पड़ा। उसका संबंध वीनस ग्रह से होने के कारण वही रोमनों में प्रेम की देवी वीनस बनी। इस मातृदेवी की हजारों मिट्टी, चूने-मिट्टी और पत्थर की मूर्तियाँ प्राचीन बाबिलोनिया और असूरिया, वस्तुतः समूचे ईराक़ में मिली हैं, जिससे उस प्रदेश पर उस देवी की प्रभुता प्रगट है।

सं० ग्रं०—एस० लैंग्डन : तम्मुज़ ऐंड इश्तर (ऑक्सफ़ोर्ड, १९१४)। [भ० श० उ०]

इश्पीरिंटू सेंटू सेरगाइप को छोड़कर ब्राजील का लघुत्तम राज्य है (क्षेत्रफल १७,३१२ वर्गमील)। इसके उत्तर में बाहिया, पूर्व में अटलांटिक महासागर तथा दक्षिण-पश्चिम में रियो तथा मिनास जेरास के राज्य हैं। इसके पश्चिमी भाग में ब्राजील के पठार का अग्र भाग है जहाँ ७,००० फुट तक ऊँची पर्वतीय श्रेणियाँ मिलती हैं। इसके पूर्वी भाग में तटीय मदान है जिसमें दलदली तथा बलुई भूमि भी मिलती है। इसकी जलवायु उष्ण कटिबंधीय है, परंतु समुद्र के प्रभाव से पर्याप्त सम हो गई है। इस राज्य में सघन वन हैं जिनमें मूल्यवान लकड़ी तथा जड़ी बूटियाँ पाई जाती हैं। यह कृषिप्रधान राज्य है जहाँ कहवा, गन्ना, कपास, तंबाकू तथा उष्ण प्रदेशीय फल पदा होते हैं। यहाँ कहवे के बहुत से उद्यान हैं। केरल प्रदेश की भाँति इसके तटीय मैदान में भी 'मोनाजाइट' बालू पाया जाता है जिसमें थोरियम पर्याप्त मात्रा में मिलता है। सन् १८६० ई० में इसकी जनसंख्या केवल १,३५,९९७ थी, परंतु सन् १९५० ई० में ८,६१,५६२ हो गई। इसकी राजधानी विक्टोरिया है, जिसकी जनसंख्या लगभग २०,००० है। [ले० रा० सिं०]

इष्टि वैदिक याग विशेष। यज्ञ वैदिक आर्यों के दैनिक तथा वार्षिक जीवन में प्रधान स्थान रखता है। 'इष्टि' 'यज्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। फलतः इसका अर्थ 'यज्ञ' है। ऐतरेय ब्राह्मण में इष्टि पाँच भागों में विभक्त है—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम। परंतु स्मृति और कल्पसूत्रों में स्मार्त तथा श्रौत कर्मों की संमिलित संख्या २१ मानी गई है जिनमें पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ तथा सोमयज्ञ प्रत्येक सात प्रकार के माने जाते हैं। प्रत्येक अमावास्या तथा पूर्णिमा के अनंतर होनेवाली प्रतिपदा के याग सामान्य रूप से 'इष्टि' कहलाते हैं जिनमें पहला 'दर्श' तथा दूसरा 'पौर्णमास' कहलाता है। [ब० उ०]

इसबगोल एक पौधा है जिसको संस्कृत में स्निग्धजीरक तथा लैटिन में प्लैंटेगो ओवेटा कहते हैं। इसबगोल नाम एक फारसी शब्द से निकला है जिसका अर्थ है घोड़े का कान, क्योंकि इसकी पत्तियाँ कुछ उसी आकृति की होती हैं।

इसबगोल के पौधे एक से दो हाथ तक ऊँचे होते हैं, जिनमें लंबे किंतु कम चौड़े, धान के पत्तों के समान, पत्ते लगते हैं। डालियाँ पतली होती हैं और इनके सिरों पर गेहूँ के समान बालियाँ लगती हैं, जिनमें बीज होते हैं। इस पौधे की एक अन्य जाति भी होती है, जिसे लैटिन में प्लैंटेगो ऐंप्लेक्सिकैनलिस कहते हैं। पहले प्रकार के पौधे में जो बीज लगते हैं उनपर श्वेत झिल्ली होती है, जिससे वे सफेद इसबगोल कहलाते हैं। दूसरे प्रकार के पौधे के बीज भूरे होते हैं। श्वेत बीज ओषधि के विचार से अधिक अच्छे समझे जाते हैं। एक अन्य जाति के बीज काले होते हैं, किंतु उनका व्यवहार औषध में नहीं होता।

इस पौधे का उत्पत्तिस्थान मिस्र तथा ईरान है। अब यह पंजाब, मालवा और सिंध में भी लगाया जाने लगा है। विदेशी होने के कारण प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। आधुनिक ग्रंथों में ये बीज मृदु, पौष्टिक, कसैले, लुआबदार, आँतों को सिकोड़नेवाले तथा कफ, पित्त और अतिसार में उपयोगी कहे गए हैं।

यूनानी पद्धति के अरबी और फारसी विद्वानों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है और जीर्ण आमरक्तातिसार (अमीबिक डिसेंट्री), पुरानी कोष्ठबद्धता इत्यादि में इसे उपयोगी कहा है। इसबगोल की भूसी बाजार में अलग से मिलती है। सोने के पहले आधा या एक तोला भूसी फाँककर पानी पीने पर सबेरे पेट स्वच्छ हो जाता है। यह रेचक (पतले दस्त लानेवाला) नहीं होता, बल्कि आँतों को स्निग्ध और लसीला बनाकर उनमें से बद्ध मल को सरलता से बाहर कर देता है। इस प्रकार कोष्टबद्धता दूर होने से यह बवासीर में भी लाभ पहुँचाता है। रासायनिक विश्लेषण से बीजों में ऐसा कोई विशिष्ट रासायनिक पदार्थ नहीं मिला जो विशेष गुणकारी हो। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इससे उत्पन्न होनेवाला लुआब और न पचनेवाली भूसी, दोनों, पेट में एकत्रित मल को अपने साथ बाहर निकाल लाते हैं। [भ० दा० व०]

इसहाक़ यहूदियों के आदि पैगंबर हज़रत इब्राहिम के पुत्र। इनकी माँ का नाम सारा था। सुमेर के प्राचीन नगर ऊर में इनका जन्म हुआ। इनके जन्म के समय सुमेर में नरबलि की प्रथा थी। लोग अपने पुत्र की बलि कर यज्ञ की अग्नि में उसे आहुति के रूप में चढ़ाते थे। इनके पिता इब्राहिम ने भी इनकी बलि चढ़ाने का आयोजन किया। 'तौरेत' के अनुसार जिस समय इब्राहिम ने हवन की वेदी पर लकड़ियाँ चुनने के बाद अपने पुत्र इसहाक़ का अपने हाथ से वध कर आग में डालने के लिये खड्ग उठाया उसी समय, कहते हैं, परमात्मा ने स्वयं प्रकट होकर उनका हाथ रोक लिया और उनकी निष्ठा की प्रशंसा और उन्हें पुत्रबलि से विरत करते हुए पीछे की ओर संकेत किया। इब्राहिम ने जो पीछे मुड़कर देखा तो झाड़ी में एक मेढ़े को फँसा हुआ पाया। उन्होंने ईश्वरीय आज्ञा के अनुसार पुत्र की जगह यज्ञ में मेढ़े की बलि चढ़ाई।

इसहाक़ के दो बेटे थे—याकूब और ईसाउ। याकूब का ही दूसरा नाम इसरायल था जिसके कारण यहूदी जाति 'बनी इसरायल' अर्थात् 'इसरायल की संतति' के नाम से मशहूर हुई। बाइबिल के अनुसार इसहाक़ ने ही उस समय के खानाबदोश समाज में खेती का धंधा प्रारंभ किया।

सं० ग्रं०—बाइबिल (पुराना अहदनामा); विश्वंभरनाथ पांडे : यहूदी धर्म और सामी संस्कृति (१९५५)। [वि० ना० पां०]

इसाइया यहूदी धर्म के चार महान् नबियों में से एक। ये अमोज के बेटे और जूदा के राजा अमाजिआ के भतीजे थे। इसाइया ने ७३५ ई० पू० से ६८१ ई० पू० तक यहूदी जाति के भविष्य के संबंध में भविष्यवाणियाँ कीं। असूरिया के आक्रमणों के समय इसाइया ने यहूदियों को शत्रुओं के आक्रमण का सामना करने के लिये प्रोत्साहित और कटिबद्ध किया। इसाइया से प्रोत्साहन पाकर पराक्रमी शत्रुओं के विरुद्ध यहूदी कमर कसकर उठ खड़े हुए, यद्यपि अंत में वे पराजित हुए। इसाइया को इसीलिये 'दृढ़विश्वासी पैगंबर' के नाम से पुकारा जाता है। यहूदी जाति को इसाइया ने बारंबार चेतावनी दी कि आध्यात्मिक सत्ता सांसारिक सत्ता से कहीं अधिक शक्तिशाली है और उच्च विचार अंत में पाशविक शक्ति के ऊपर हावी होंगे। इसाइया में न केवल उच्च और दृढ़

विश्वास था, वरन् वह एक ऊँचे दरजे के व्यावहारिक नीतिज्ञ भी थे। इसाइया की गणना संसार के महान् से महान् पुरुषों में की जाती है। उनके के जीवन का अंत उनका महान् बलिदान है। आरे से इसाइया के शरीर के दो टुकड़े कर दिए गए किंतु उन्होंने दैवी शक्ति के ऊपर भौतिक शक्ति की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं किया।

पैगंबर इसाइया के जीवन और कार्यों के वृत्तांत 'ओल्ड टेस्टामेंट' अर्थात् 'पुराने अहदनामे' में संकलित हैं। पुराने अहदनामे के इस भाग को 'इसाइया की पुस्तक' के नाम से पुकारा जाता है। इसाइया की पुस्तक को विद्वान् लोग यहूदी धर्म का एक महान् स्मारक मानते हैं। इस पुस्तक को मुख्यतया दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक भाग में यहूदी जाति के निर्वासन काल के पहले का वृत्तांत है और दूसरे में निर्वासनकालीन जीवन का। कुछ आलोचकों के अनुसार इसाइया की पुस्तक में यदाकदा ऐसे अंश भी दिखाई देते हैं जिन्हें बाद में संपादकों, भाष्यकारों या टीकाकारों ने जोड़ दिया है। अनेक विद्वान् खोजियों के अनुसार चौथी सदी ई० पू० में इसाइया की पुस्तक वर्तमान थी किंतु उस समय उसमें पहले से लेकर २५वें अध्याय तक का ही भाग था। टीकाकारों के अनुसार २६वें से लेकर ३९वें अध्याय तक का भाग बाद में किसी समय जोड़ा गया।

इसाइया अपने उपदेशों में हर प्रकार की बुराई की निंदा करते हैं, चाहे वह बुराई यहूदियों के देश जूदा में रही हो या दूसरे देशों में। इसाइया के अनुसार बुराई का दंड अवश्य मिलेगा, चाहे उसका दोषी यहूदी धर्म का प्रतिपालक हो या अन्य धर्मावलंबी। इसाइया मूर्तिपूजा को बुरा बताते हैं और यह्वे को चढ़ाए जानेवाले अटूट भोगों और बलियों की निंदा करते हैं। इसाइया की दृष्टि में यह्वे न्याय और रहम करनेवाला है। इसाइया सदाचरण को धार्मिक जीवन की बुनियाद मानते हैं। वह रिश्वत देने और लेने को गुनाह बताते हैं। वह न्याय और सत्य को जीवन का आधार मानते और रक्तपात से घृणा करते हैं। वह अभिमानी और ऐश्वर्यशाली लोगों को पसंद नहीं करते और कहते हैं कि प्रत्येक अभिमानी और ऐश्वर्यशाली व्यक्ति का सिर एक दिन नीचा होगा। उनकी यह्वे की कल्पना सजा देनेवाले क्रोधी ईश्वर की कल्पना नहीं है, वरन् वह रहम करनेवाला और अनंत शांति देनेवाला ईश्वर है।

इसाइया का जन्म यहूदी जाति के इतिहास में एक ऐसे काल में हुआ जब यहूदी जाति बाबुल के शासकों द्वारा पराजित होकर निर्वासन में विपत्तियों से भरा हुआ अपना जीवन बिता रही थी। इसाइया ने इस दुःख भरे समय में अपनी जाति को आश्वासन दिया और यह्वे के प्रति उसकी आस्था को बनाए रखा। उन्होंने भविष्यवाणी की कि ज़रथुस्त्री सम्राट् कुरु की बढ़ती हुई शक्ति के हाथों बाबुल की अभिमानी सत्ता पराजित होगी और उसका मान भंग होगा। इसाइया की भविष्यवाणी पूरी उतरी।

सं० ग्रं०—एच० ग्रेज : हिस्ट्री ऑव दि ज्यूज (१९१०); एफ० जे० पोक्स : बिब्लिकल हिस्ट्री ऑव हिब्रूज़ (१९०८); जे० स्किमर; इसाइया (१८९८)।
[वि० ना० पां०]

इसिपत्तन वर्तमान सारनाथ, वाराणसी, बौद्ध पालि साहित्य में 'इसिपत्तन' के नाम से प्रसिद्ध है। बुद्धत्व लाभ करने के उपरांत भगवान् बुद्ध ने यहीं आकर अपना सर्वप्रथम उपदेश दे धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। इस कारण, यह पुनीत भूमि आज भी सारे बौद्ध जगत् के लिये तीर्थस्थान बन गई है। इसका नाम 'इसिपत्तन' क्यों पड़ा, इसपर कई व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं। कहते हैं, पूर्वकाल में आकाशमार्ग से जाते कुछ सिद्ध योगी निर्वाण प्राप्त कर यहीं गिर पड़े, जिससे इस स्थान का नाम 'ऋषि के गिरने का स्थान' अर्थात् 'इसिपत्तन' पड़ा। अधिक संभव है कि ऋषियों का 'पत्तन' (नगर) होने के कारण यह 'इसिपत्तन' के नाम से विख्यात हुआ। इस स्थान से संबंधित एक जातक कथा में यहाँ निवास करनेवाले मृगाधिपति सुवर्ण शरीरधारी बोधिसत्व का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने अपने ज्ञान से वाराणसी के राजा को धर्मोपदेश कर जीवहिंसा का परित्याग कराया। फिर उन्हीं के नाम से यह स्थान सारंगनाथ या सारनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। [भि० ज० का०]

इसीअस् (ई० पू० ४२० से ई० पू० ३५०), प्राचीन यूनानी वाग्मी और वकील। इसके जीवन के संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जन्मस्थान तक के विषय में भी अभी दुविधा बनी है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि इसका जन्म एथेंस में हुआ था एवं अन्य लोगों की संमति में यह खल्किदिके प्रदेश में उत्पन्न हुआ था, केवल शिक्षा प्राप्त करने के लिये एथेंस आया था और तत्पश्चात् वहीं बस गया था। एथेंस में इसने इसोक्रेतिज़ से शिक्षा पाई। किंतु परदेसी होने के कारण उसने एथेंस के राजनीतिक जीवन में भाग नहीं लिया।

अपनी जीविका के लिये इसने अन्य व्यक्तियों के सहायतार्थ कानूनी अथवा न्यायाधिकरण संबंधी वक्तृताएँ लिख देने का व्यवसाय चुना। कहते हैं, इसीअस् ने सब मिलाकर ५० भाषण लिखे थे, जिनमें से इस समय १० पूर्णरूपेण और २ आंशिक रूप में उपलब्ध हैं। अन्य लोगों के मतानुसार ११ भाषण पूरे और केवल एक अधूरा मिलता है। इन सब भाषणों का संबंध उत्तराधिकार संबंधी अभियोगों से है जिस विषय में इसीअस् विशेष योग्यता रखता था। परिणामतः ये भाषण ई० पू० चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध के एथेंस के उत्तराधिकार के कानूनों के स्वरूप को समझने में बहुत अधिक सहायक होते हैं।

इसके अतिरिक्त इसीअस् के भाषणों की एक विशेषता यह थी कि वह जटिल से जटिल समस्या को भी अत्यंत स्पष्ट रूप में व्यक्त कर सकता था। उसकी भाषा सरल होती थी पर कहीं कहीं वह कवित्व से अनुरंजित शब्दों का भी प्रयोग करता था, एवं यदाकदा बोलचाल के साधारण प्रयोगों को भी स्वीकार कर लेता था; इस कारण वह मनोवांछित प्रभाव उत्पन्न करने में प्रायः सफल हुआ करता था। अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये इसीअस् भावनाओं को प्रेरित नहीं करता था प्रत्युत सबल युक्तियों से काम लेता था। न तो वह अपने भाषणों में अपने वादार्थियों के चरित्र का आभास प्रस्तुत करता था और न अपने राजनीतिक विचारों को ही अभिव्यक्त करता था। उसका मुख्य लक्ष्य बौद्धिक प्रभाव उत्पन्न करने की ओर था और यह प्रभाव उसकी अवशिष्ट रचनाओं में आज भी विद्यमान है। प्राचीन काल के सर्वश्रेष्ठ वक्ता दिमॉस्थिनीस् ने आरंभ में इसीअस् से ही वक्तृत्व कला की शिक्षा ग्रहण की थी।

सं० ग्रं०—आर० सी० जैब् : ऐंटिक आरेटर्स फ्रॉम अंतिफ़ॉन टू इसीअस्, १८९३।
[भो० ना० श०]

इसोक्रेतिज़ (ई० पू० ४३६-३३८) एथेंस निवासी वक्ता, शिक्षक शैलीकार और लेखक जिन्होंने प्रोदिकस, प्रोतागोरस, गोर्गियास एवं सुकरात से शिक्षा प्राप्त की थी। इनके पिता थियोदोरस संपन्न व्यक्ति थे, पर उनकी मृत्यु के पश्चात् पेलोपोनेसस के युद्ध में इनकी संपत्ति नष्ट हो गई। अतएव इन्होंने जीविका के लिये शिक्षक की वृत्ति स्वीकार कर ली। कुछ समय इन्होंने कियोस में शिक्षक का कार्य किया। उस समय की शिक्षा अधिकांश में कानूनी और राजनीतिक वक्तृता देने की शिक्षा होती थी। वाणीदोष एवं स्नायविक शैथिल्य के कारण यह स्वयं सक्रिय वक्ता नहीं बन सके पर दूसरों के लिये इन्होंने बहुत सी वक्तृताएँ लिखीं। ई० पू० ३९२ के आसपास इन्होंने एथेंस में एक विद्यालय स्थापित किया जो निरंतर विकसित होता गया। अपने शिष्यों प्रशिष्यों के द्वारा उनका प्रभाव देशकाल में दूर दूर तक फैला। कहते हैं, ९८ वर्ष की अवस्था में इन्होंने आत्मघात द्वारा शरीर त्यागा।

एथेंस के शिक्षकों में इसोक्रेतिज़ का नाम अमर है। इनके शिक्षा-सिद्धांतों में आदर्शवाद, व्यावहारिकता और दार्शनिक विचारों का संतुलित संमिश्रण था। इन्होंने उन सोफिस्त शिक्षकों की निंदा की है जो अपने शिष्यों के प्रति लंबे चौड़े दावे करते हैं पर वास्तव में कर कुछ भी नहीं पाते। इसके अतिरिक्त केवल निष्क्रिय दार्शनिक, अथवा केवल स्वार्थसाधक व्यवहार-कुशल व्यक्ति का जीवन भी उनका आदर्श नहीं था। वे सर्वांगीण विकास के पोषक थे। उनके सामाजिक और राजनीतिक विचार भी अपने समय की दृष्टि से अधिक प्रगतिशील थे। उनका जातिप्रेम नगरराष्ट्र तक सीमित न था, प्रत्युत वह आजीवन समस्त ग्रीक जाति की एकता के लिये प्रयत्नशील रहे। आरंभ में उनकी इच्छा यह थी कि सब नगरराष्ट्र आपस में मिलकर संघटित हो जायँ, पर अंत में उनका विचार यह बन गया कि यदि कोई सशक्त

शासक समस्त ग्रीक जगत् को अपने शासन के अधीन कर ले और फारस का दमन करे तो भी ठीक है। फिलिप के ऐसे शासक के रूप में सफल होने पर उनको संतोष हुआ।

इसोक्रेतिज़ की बहुत सी रचनाएँ, वक्तृताएँ और पत्र उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ का विषय शिक्षणकला है, कुछ का राजनीति और कुछ का ग्रीक संस्कृति। एक दो रचनाएँ आत्मकथात्मक भी हैं। प्रमुख रचनाओं के नाम अंतिदोसिस, पानेगिरिकस, अरेओपागितिकस, ऐवागोरस, पानाथेनाइकस, और फिलिप्पस हैं। उनकी शैली की विशेषताएँ गंभीरता, सुस्वनता, स्वरांत और स्वरादि शब्दों को पास पास न आने देना, इत्यादि हैं। उनका शब्दचयन भी शुद्ध एवं निर्दोष है। सिसरो के माध्यम से वे यूरोप की आधुनिक गद्यशैली तक को प्रभावित किए हुए हैं। इसोक्रेतिज़ के समान सफल शिक्षक बहुत कम हुए हैं। कहते हैं, कारिया नगर की रानी आर्तेमिसिया ने जब अपने पति की स्मृति में एक व्याख्यान प्रतियोगिता का आयोजन किया तो उसमें भाग लेनेवाले सब वक्ता इसोक्रेतिज़ के शिष्य थे।

सं०ग्रं०—नौलिन ऐंड वान् हुक: इसोक्रेतिज़ की रचनाएँ, अंग्रेजी अनुवाद सहित, लोएब क्लासिकल लाइब्रेरी; आर० सी० जैब: ऐटिक ओरैटर्स फ्रॉम अंतिफॉन टु इसीअस, १८८३। [भो० ना० श०]

इस्पात शब्द इतने विविध प्रकार के परस्पर अत्यधिक भिन्न गुणों वाले पदार्थों के लिये प्रयुक्त होता है कि इस शब्द की ठीक ठीक परिभाषा करना वस्तुतः असंभव है। परंतु व्यवहारतः इस्पात से लोहे तथा कारबन की मिश्रधातु ही समझी जाती है (दूसरे तत्व भी साथ में चाहे हों अथवा न हों)। इसमें कारबन की मात्रा साधारणतया २ प्रति शत से अधिक नहीं होती। अयस्क (ओर) से अधिक से अधिक धातु प्राप्त करने के लिये अवकारक वस्तु, कारबन, बहुतायत से मिलाई जाती है। कारबन बाद में इच्छित मात्रा तक आक्सीकरण की क्रिया द्वारा निकाल दिया जाता है। इससे साथ के दूसरे तत्वों का भी, जिनका अवकरण हुआ रहता है और जो आक्सीकरणीय होते हैं, आक्सीकरण हो जाता है। किसी अन्य तत्व की अपेक्षा कारबन, लोहे के गुणों को अधिक प्रभावित करता है; इससे अद्वितीय विस्तार में विभिन्न गुण प्राप्त होते हैं। वैसे तो कई अन्य साधारण तत्व भी मिलाए जाने पर लोहे तथा इस्पात के गुणों को बहुत बदल देते हैं, परंतु इनमें कारबन ही प्रधान मिश्रधातुकारी तत्व है। यह लोहे की कठोरता तथा पुष्टता समानुपातिक मात्रा में बढ़ाता है, विशेषकर उचित उष्मा उपचार के उपरांत।

धातुकार्मिक व्यवहार में 'विशुद्ध धातु' शब्द का उपयोग ऐसे व्यापारिक मेल की धातु के लिये भी होता है जिसमें प्रधानतः वे ही गुण (जैसे, रंग, विद्युच्चालकता इत्यादि) होते हैं जो शुद्ध रासायनिक धातु में होते हैं। इनमें शेष जो अशुद्धता होती है या तो उसे दूर करना कठिन होता है, अथवा धातु में कोई विशेष गुण प्राप्त करने के लिये उसे जान बूझकर मिलाया जाता है। इस प्रकार मिलाए जानेवाले तत्वों को मिश्रधातुकारी तत्व कहते हैं।

साधारण इस्पात में, चाहे वह जिस विधि द्वारा बनाया गया हो, कारबन तथा मैंगनीज़ ०·१० से १·५० प्रतिशत, सिलिकन ०·२० से ०·२५ प्रतिशत, गंधक तथा फासफोरस ०·०१ से ०·१० प्रतिशत तथा ताँबा, ऐल्यूमिनियम और आरसेनिक न्यून मात्रा में उपस्थित रहते हैं। प्रायः हाइड्रोजन, आक्सिजन तथा नाइट्रोजन भी अल्प मात्रा में रहते हैं। इस जाति के इस्पात कई प्रकार के काम में आते हैं। यद्यपि सभी इस्पात मिश्रधातु ही हैं, तथापि साधारण बोलचाल में इस्पात को एक सरल (अमिश्र) धातु ही माना जाता है। ऊपर दिए हुए विश्लेषण से यदि किसी तत्व की मात्रा अधिक हो, अथवा इस्पात में दूसरे तत्व, जैसे निकल, क्रोमियम, वैनेडियम, टंग्स्टन, मालिब्डीनम, टाइटेनियम आदि भी हों, जो सामान्यतः इस्पात में नहीं होते, तो विशेष या मिश्रधात्वीय इस्पात बनता है। यांत्रिक गुणों की वृद्धि के लिये ही सामान्यतः यह मिलावट की जाती है। इस्पात की कुछ विशेषताएँ, जो मिश्रधातुकारी तत्वों द्वारा प्रभावित होती हैं, इस प्रकार हैं :

(क) यांत्रिक गुणों में वृद्धि :

(१) तैयार इस्पात की पुष्टता में वृद्धि।

(२) किसी निम्नतम कठोरता या पुष्टता पर चिमड़ेपन (टफ़नेस) अथवा सुघटयता (प्लैस्टिसिटी) में वृद्धि।

(३) उस अधिकतम मोटाई में वृद्धि जिसे बुझाकर वांछित सीमा तक कड़ा किया जा सकता हो।

(४) बुझाकर कठोरीकरण की क्षमता में कमी।

(५) ठंढी रीति से कठोरीकरण की दर में वृद्धि।

(६) खरादने इत्यादि की क्रिया सुगमता से कर सकने के विचार से कड़ाई को सुरक्षित रखकर सुघटयता में कमी।

(७) घिसाव-प्रतिरोध अथवा काटने के सामर्थ्य में वृद्धि।

(८) इच्छित कठोरता प्राप्त करते समय ऐंठने या चटकने में कमी।

(९) ऊँचे या निम्न ताप पर भौतिक गुणों में उन्नति।

(ख) चुंबकीय गुणों में वृद्धि :

(१) प्रारंभिक चुंबकशीलता (पर्मिएबिलिटी) तथा अधिकतम प्रेरण (इंडक्शन) में वृद्धि।

(२) प्रसाही (कोअर्सिव) बल, मंदायन (हिस्टेरीसिस) तथा विद्युत् (वाट) हानि में कमी (चुंबकीय अर्थ में कोमल लोहा)।

(३) प्रसाही बल तथा चुंबकीय स्थायित्व (रिमेनेंस) में वृद्धि।

(४) सभी प्रकार के चुंबकीय गुणों में कमी।

(ग) रासायनिक निष्क्रियता में वृद्धि :

(१) आर्द्र वातावरण में मोरचा लगने में कमी।

(२) उच्च ताप पर भी रासायनिक क्रियाशीलता में कमी।

(३) रासायनिक वस्तुओं द्वारा आक्रमण में कमी।

लोहा दो प्रकार के अति उपयोगी सममापीय (आइसोमेट्रिक) रवों के रूप में रहता है : (१) ऐल्फ़ा लोहा, जिसके ठोस घोल को 'फ़ेराइट' कहते हैं, और (२) गामा लोहा, जिसका ठोस घोल 'ऑसटेनाइट' है। शुद्ध लोहे का ऐल्फ़ा रूप लगभग ९१०° सें० से कम ताप पर रहता है; अधिक ताप पर गामा रूप रहता है। इन दोनों रूपों के लोहों में विविध मिश्रधातुकारी तत्वों की घुलनशीलता अति भिन्न है। व्यापारिक कारबन-इस्पात, धातुकार्मिक विचार से, लौह-कारबाइड का फेराइट में एक विक्षेपण (डिस्पर्शन) है, जिसमें लौह कारबाइड का अनुपात कारबन की मात्रा पर निर्भर रहता है।

कारबन इस्पात के मोटे टुकड़ों को ऐसी विधियों तथा दरों से एक सीमा तक ठंढा किया जा सकता है कि फेराइट में सीमेंटाइट के संभव वितरणों में से कोई भी वितरण उपलब्ध हो जाय। संरचना तथा उष्मा-उपचार के विचार से कारबन-इस्पात के अपेक्षाकृत ऐसे छोटे नमूने सरलता से चुने जा सकते हैं जिनमें साधारण ताप पर प्रायः महत्तम यांत्रिक गुण हों।

अकठोरीकृत इस्पात के दो अवयवों में दूसरा कारबाइड कला (फ़ेज़) है। कारबाइड की मात्रा, जो कारबन के अनुपात पर निर्भर रहती है, इस्पात के गुणों को बदलती है। विक्षेपण (डिस्पर्शन) में कारबाइड के कणों के रूप तथा उसकी सूक्ष्मता से यह और भी अधिक बदलती है। इस्पात को कठोर करने में तथा पानी चढ़ाते समय, मिश्रधातुकारी तत्व की उपस्थिति अंत में प्राप्त पदार्थ को एकदम बदल सकती है। फलतः, संरचना और इसलिये इस्पात के गुण, जो इसी पर अत्यधिक आधारित हैं, ऑस्टेनाइट की संरचना तथा दाने के परिमाण पर निर्भर हैं।

बुझाए हुए इस्पात कारबन के मात्रानुसार विभिन्न कठोरतावाले होते हैं। कठोरता के लिये केवल कारबन पर ही निर्भर होने में इस्पात को एकाएक बुझाना पड़ता है। इससे या तो दूसरी बुराइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं अथवा बहुत भीतर तक कठोरीकरण नहीं हो पाता है। कुछ उच्च मिश्रधात्वीय इस्पातों में साधारण ताप पर ही अपेक्षाकृत धीरे धीरे ठंढा कर, यह कठोरीकरण कुछ अंशों में प्राप्त किया जा सकता है।

बुझाए हुए तथा कठोरीकृत इस्पातों में आंतरिक तनाव होता है, जो फिर से गरम करके दूर किया जाता है। इस क्रिया को पानी चढ़ाना (टेंपरिंग) कहते हैं।

मिश्रधातुकारी तत्वों का प्रभाव—ऑस्टेनाइट रूपांतरण में कारबन के अतिरिक्त अन्य मिश्रधातुकारी तत्व सामान्यतः सुस्ती पैदा करते हैं। कोबल्ट छोड़ अन्य तत्वों की उपस्थिति में बुझाने पर अधिक गहराई तक कठोरीकरण होता है। साधारणतया सभी मिश्रधात्वीय इस्पातों तथा बहुत से कारबन-इस्पातों में इच्छित गुणों का अच्छा संयोग उचित उष्मा-उपचार से प्राप्त होता है।

कारबन—सादे कारबन-इस्पात में, कारबन की मात्रा को ०·१ प्रतिशत से १·० प्रतिशत तक या अधिक बढ़ाने पर तनाव-पुष्टता बढ़ती है। बुझाए हुए कारबन-इस्पात में तनाव-पुष्टता अत्यधिक बढ़ जाती है, जैसे १ प्रतिशत कारबन पर १५० टन वर्ग इंच तक। बुझाए हुए तथा पानी चढ़ाए (टेंपर किए) इस्पात की शक्ति पानी चढ़ाने के तापक्रम पर निर्भर रहती है।

ऐल्यूमिनियम—धातु के दानों के परिमाण (ग्रेन साइज़) को नियंत्रित करने के लिये थोड़ी मात्रा में ऐल्यूमिनियम, ३ पाउंड प्रति टन तक, पिघले हुए इस्पात में मिलाया जाता है। सतह की अत्यधिक कठोरतावाले भागों में १·३ प्रतिशत तक ऐल्युमिनियम रहता है।

बोरन—बोरन-इस्पात आधुनिक विकास है। कुछ निम्न मिश्रधात्वीय इस्पातों में ०·००३ प्रतिशत जैसी कम मात्रा में बोरन मिलाए जाने पर कठोर हो जाने की क्षमता बढ़ती है तथा यांत्रिक गुणों की उन्नति होती है।

क्रोमियम—अकेले अथवा दूसरे मिश्रधातुकारी तत्वों से संयोजित क्रोमियम, इस्पात का घर्षण-अवरोध तथा कठोर हो सकने की क्षमता बढ़ाता है। अधिक मात्रा में, १२ से १४ प्रतिशत तक होने पर, यह अकलुष (स्टेनलेस) इस्पात का आवश्यक तत्व है। इसी अथवा इससे भी अधिक मात्रा में (२० प्रति शत तक) क्रोमियम रहने पर, निकल और कभी कभी दूसरे तत्वों के साथ मिलकर, तरह तरह के उष्मा प्रतिरोधक इस्पात तथा विभिन्न प्रकार के ऑस्टेनाइट इस्पात बनते हैं जो मोर्चे तथा अम्ल की क्रिया के प्रति अत्यधिक अवरोधकता के लिये प्रसिद्ध हैं। क्रोमियम घर्षण-अवरोध की उन्नति करता है; इसलिये २ प्रति शत कारबन के साथ १२ प्रतिशत तक क्रोमियम कुछ विशेष तरह के यंत्रों तथा ठप्पों के लिये इस्पात बनाने में उपयुक्त होता है। पृष्ठ-कठोरीकरण (केस-हार्डेनिंग) तथा नाइट्राइडिंग के लिये इस्पात में क्रोमियम प्रायः २ प्रतिशत से कम ही होता है। सीधे कठोरीकृत छर्रों (बाल बेयरिंग) तथा कुचलने की मशीनवाले गोलों के इस्पात में क्रोमियम की मात्रा अधिक होती है।

कोबल्ट—कोबल्ट से, कुछ उच्च वेगवाले यांत्रिक इस्पातों की काटने की क्षमता बढ़ती है। कुछ उष्मा-प्रतिरोधक इस्पातों में, जैसे गैस टर्बिन इंजन के ढले हुए ब्लेडों में, यह प्रयुक्त होता है। अधिक मात्रा में यह ऐसे इस्पात का आवश्यक अंग होता है जो उन अति कठिन परिस्थितियों को सहन करने के लिये बनते हैं जिनमें गैस टर्बिन के ब्लेड कार्य करते हैं। इन उपयोगों में कोबल्ट मिलाने से इस्पात को उष्मा-अवरोधक गुण, सतह पर चिप्पड़ (स्केल) न बनने देने तथा धीरे धीरे माप में स्वतः परिवर्तन (क्रीप) को रोकने की क्षमता मिलती है। स्थायी चुंबक की मिश्रधातुओं में भी कोबल्ट पर्याप्त मात्रा में रहता है।

ताँबा—बिना ताँबा के इस्पात की तुलना में ताँबा की थोड़ी भी मात्रा वाले इस्पात में संक्षारण-अवरोध अधिक होता है। गृहनिर्माण के लिये प्रयुक्त अथवा ऐसे ही दूसरे प्रकार के नरम इस्पातों में लगभग ०·६ प्रतिशत तक ताँबा रहता है।

मैंगनीज़—इस्पात का ठोसपन बढ़ाने के लिये तथा बची हुई गंधक से मिलकर, सल्फाइड के कारण, भुरभुरापन रोकने के लिये ०·५ से १·० प्रतिशत तक मैंगनीज़ मिलाया जाता है।

१·० प्रतिशत से १·८ प्रतिशत तक, मैंगनीज इस्पात के तनाव-पुष्टता तथा कठोरता में वृद्धि करता है। १३ प्रतिशत मैंगनीज-इस्पात का एक अलग ही वर्ग है। ऐसा इस्पात ठोंकने-पीटने से कड़ा हो जाता है, अर्थात् सुघट्य तनाव (प्लैस्टिक स्ट्रेन) पड़ने पर स्वयं कड़ा हो जाता है। किसी साधारण उष्मा-उपचार द्वारा इसका कठोरीकरण नहीं होता। यह अधिकतर ढलाई के लिये प्रयुक्त होता है। ड्राम (ड्रेजर) के ओष्ठ, चट्टान तोड़नेवाली मशीनों के जबड़े, रेल की पटरियों की संधि (क्रास-ओवर) तथा अन्य विशेष मार्ग संबंधी कार्यों में, जहाँ घिसाई की विशेष आशंका रहती है, इसका उपयोग होता है।

मालिब्डीनम—इस्पात में मालिब्डीनम शक्ति, कठोर हो सकने की क्षमता तथा धीरे धीरे स्वतः परिवर्तन के प्रति अवरोध बढ़ाता है। उच्च तापक्रम पर कार्य करने के लिये इस्पात की कठोरता सुरक्षित रखने में भी मालिब्डीनम सहायक है। इसलिये कुछ उच्च वेग इस्पातों में टंग्स्टन के एक अंश के बदले इसी का उपयोग होता है। उदाहरण के लिये ५·५ प्रतिशत मालिब्डीनम और ६ प्रतिशत टंग्स्टन का एक उच्चवेग इस्पात है, जो प्रामाणिक १८ प्रतिशत टंग्स्टन इस्पात की तुलना में उपयोगी और सस्ता होता है।

निकल—इस्पात में मिलाने के लिये (मैंगनीज़ को छोड़) सबसे अधिक उपयोग इसी का होता है। पिघले हुए लोहे में यह सभी अनुपातों में घुल जाता है तथा ठंढा होने पर ठोस घोल बनाता है। ५ प्रतिशत तक रहने पर यह इस्पात का चिमड़ापन तथा तनाव-पुष्टता बढ़ाता है। यह कठोर हो सकने की क्षमता को भी बढ़ाता है, जिससे पानी में बुझाने की जगह तेल में बुझाकर कठोरीकरण संभव है। फटने तथा ऐंठने की प्रवृत्ति को भी कम करता है, जिससे बड़ी नाप के ऐसे इस्पात को भी अच्छी तरह कठोर किया जा सकता है।

कुछ पृष्ठ-कठोरीकरण इस्पातों में १·० से ५·० प्रति शत तक निकल रहता है। नाइट्राइडिंग इस्पातों में साधारणतः निकल की मात्रा अधिक से अधिक ०·४ प्रति शत तक ही सीमित है। (नाइट्राइडिंग इस्पात के बाहरी पृष्ठ को कड़ा करने की एक रीति है। साधारणतः अमोनिया गैस में इस्पात को ५००-५५५° सेंटीग्रेड तक तप्त करने से यह कार्य सिद्ध होता है।)

बहुत से संक्षारण-अवरोधक तथा 'स्टेनलेस' ऑस्टेनाइटमय इस्पातों में निकल का अंश ८ प्रतिशत तथा इससे अधिक होता है। प्रसिद्ध १८:८ क्रोमियम-निकल-इस्पात तथा उससे मिलते जुलते इस्पात भी इसी वर्ग में संमिलित हैं। कुछ अति नवीन प्रकार के इस्पातों में निकल की मात्रा अधिक होती है, जैसे २० प्रतिशत या इससे भी अधिक। ये उच्च ताप तथा अत्यधिक दबाव की स्थितियों में कार्य करने के लिये उपयुक्त होते हैं; उदाहरणतः, गैस टर्बिन के स्थिर तवे (डिस्क) तथा ब्लेड। ३६ प्रतिशत निकल का इस्पात, जो 'इनवार' नाम से प्रसिद्ध है, अपने अति निम्न प्रसार-गुणांक के कारण यथार्थदर्शी घड़ियों, स्वरित्र (ट्यूनिंग फ़ोर्क) तथा बहुत से वैज्ञानिक उपकरण बनाने में उपयुक्त होता है।

कोलंबियम—क्रोमियम इस्पात या १८:८ क्रोमियम-निकल प्रकार के इस्पात को स्थिर करने के लिये १ प्रतिशत अथवा ऐसी ही मात्रा तक कोलंबियम का उपयोग होता है। यह टाइटेनियम के सदृश ही कार्य करता है।

सिलिकन—मैंगनीज़ की भाँति सिलिकन सभी इस्पातों में प्रारंभ से ही, अथवा इस्पात बनाते समय मिलावट के कारण, रहता है। इसकी उपस्थिति से इस्पात का अनाक्सीकरण होना प्रायः निश्चित सा हो जाता है। सिलिकन में, अधिक मात्रा में रहने पर, इस्पात की शक्ति तथा कठोर हो सकने की क्षमता बढ़ाने की तथा आंतरिक तन्यता कम करने की प्रवृत्ति होती है। सिलिकन-मैंगनीज़ के कमानीवाले इस्पात में इसकी मात्रा १·५ प्रतिशत से २ प्रतिशत तक रहती है, जिसमें मैंगनीज़ की मात्रा लगभग ०·६–१·० प्रतिशत होती है। सिलिकन-क्रोमियम से बने इंजनों के वाल्वों के इस्पात में सिलिकन की मात्रा ३·७५ प्रतिशत होती है। निकल-क्रोमियम-टंग्स्टन वाल्वों के इस्पात में इसकी मात्रा १·०-२·५ प्रतिशत होती है।

गंधक—जैसा विदित है, इस्पात में गंधक का होना साधारणतया उपद्रवप्रद है। मिश्रधातुकारी तत्व के रूप में इसका उपयोग केवल स्वच्छंदता से कटनेवाले इस्पात में होता है।

सिलिनियम—यह तत्व गंधक के सदृश ही कार्य करता है।

टाइटेनियम—थोड़ी मात्रा में मिलाने से यह इस्पात की स्थिरता बढ़ाता है, और कहते हैं, इसके कारण दाने (ग्रेन) का परिमाण अधिक सूक्ष्म होता है।

टंग्स्टन—२० प्रतिशत तक की मात्रा में टंग्स्टन उच्चवेग-इस्पात का आवश्यक अवयव है; इसलिये कि यह इस्पात को उष्मा उपचार के बाद

अत्यधिक कठोरता प्रदान करता है, जो ऊँचे ताप पर भी स्थिर रह जाती है। गर्म-ठप्पा-इस्पात तथा दूसरे गर्म कार्य के लिये उपयुक्त इस्पात में भी इसका उपयोग होता है। इसमें इसकी मात्रा २ प्रतिशत से लगभग १० प्रतिशत तक होती है।

वैनेडियम—इस्पात में वैनेडियम, फ़ेरो-वैनेडियम के रूप में मिलाया जाता है। यह शक्तिशाली स्वच्छकारक वस्तु है। इससे इस्पात की स्थिरता तथा सफाई बढ़ती है तथा उष्मा उपचारित कारबनमय और मिश्र-धात्वीय इस्पात के यांत्रिक गुण उन्नत होते हैं। हवा में कठोरीकरण के गुण तथा काटने की क्षमता बढ़ाने के लिये १½ प्रतिशत तक वैनेडियम उच्चवेग यांत्रिक इस्पात में प्रयुक्त होता है। एक प्रकार के प्रसिद्ध उच्चवेग इस्पात में वैनेडियम ४·५ जैसे ऊँचे अनुपात में रहता है।

जिरकोनियम—कुछ उच्च क्रोमियम, क्रोमियम-निकल तथा ऑस्टेनाइटमय १८:८ प्रकार के इस्पात में, मुक्त कटने के गुण देने के लिये, थोड़ी मात्रा में यह तत्व गंधक के साथ प्रयुक्त होता है।

निम्न-मिश्र-धात्वीय, उच्च-तनाव-पुष्ट, भवन-निर्माण-इस्पात—प्रामाणिक ब्योरे के अनुसार इन इस्पातों की अंतिम तनाव-पुष्टता ३७-४३ टन प्रति वर्ग इंच है, तथा त्रोटनबिंदु (वह सीमा जिसपर छड़ टूटता है) १⅛"×१⅛" मोटी छड़ के लिये २३ टन प्रति वर्ग इंच है। ये इस्पात मोटे तौर पर निम्नलिखित वर्गों में रखे जा सकते हैं:

(१) सिलिकन इस्पात,
(२) मैंगनीज़ इस्पात,
(३) ताँबे की थोड़ी मात्रा के साथ मैंगनीज़ इस्पात।
(४) मैंगनीज़, क्रोमियम तथा ताँबे की मिलावट का इस्पात,

वर्ग १ : सिलिकन इस्पात की, जिसकी मौलिकता अमरीकी है, अंतिम तनाव-पुष्टता ३७·७-४२·४ टन प्रति वर्ग इंच तथा निम्नतम त्रोटनबिंदु २०·१ टन प्रति वर्ग इंच है। इसकी तनाव-पुष्टता कारबन की ऊँची मात्रा के कारण उत्पन्न होती है (०·४% तक)।

वर्ग २ : इस समूह के इस्पात अधिकतर मैंगनीज़ की मात्रा (लगभग १·२५%) पर निर्भर हैं।

वर्ग ३ : सामान्यतः ०·२५% से ०·५% तक ताँबे की मिलावट होने पर वर्ग (२) के समान ही इस वर्ग की भी साधारण प्रकृति होती है। मैंगनीज़ के साथ ताँबे की मात्रा संक्षारण-प्रतिरोध बढ़ाती है, जो नर्म इस्पात की अपेक्षा ३०-४०% अधिक हो जाती है।

वर्ग ४ : इस वर्ग के इस्पात में मैंगनीज़, क्रोमियम तथा ताँबा मिश्रित रहता है। इसमें ऊँचा त्रोटनबिंदु तथा साथ ही उन्नत संक्षारण-अवरोध मिलता है।

वायुयान तथा मोटरगाड़ियों के इंजन का इस्पात—मोटरगाड़ियों की क्रैंक धुरी सदैव पीटकर ही तैयार की जाती है तथा ४५-६५ टन प्रति वर्ग इंच की साधारण सीमा तक तनाव-पुष्टता प्राप्त करने के लिये उष्मा-उपचारित होती है। आवश्यक इस्पात का चुनाव पुरजे की प्रधान मोटाई पर निर्भर है। छोटी क्रैंक धुरी के लिये ०·४०% कारबन इस्पात, बिना निकल के या १·०% निकल सहित, अथवा निम्न-मिश्रधात्वीय मैंगनीज़-मालिब्डीनम इस्पात को प्राथमिकता दी जाती है। भारी क्रैंक धुरियाँ निकल-क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात की बनती हैं, जो ५५-६५ टन प्रति वर्ग इंच तनाव-पुष्टता के लिये उष्मा-उपचारित रहती हैं। निकल-क्रोमियम इस्पात में, जो पानी चढ़ाई हुई अवस्था में उपयुक्त होता है, पानी चढ़ाने पर भुरभुरापन बचाने के लिये मालिब्डीनम की मिलावट एक मानक प्रचलन है।

हवाई इंजन की क्रैंक धुरी के लिये नाइट्राइडिंग इस्पातों का उपयोग प्रचलित है। ये क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात होते हैं जो ६०-७० टन प्रति वर्ग इंच तनाव-पुष्टता तक उष्मा-उपचारित किए जाते हैं।

मोटर में संबंधक दंडों (कनेक्टिंग रॉड) को मध्यम कारबन या मैंगनीज़-मालिब्डीनम इस्पात से, जो ४५-६५ टन प्रति वर्ग इंच तनाव-पुष्टता तक उष्मा-उपचारित होते हैं, पीटकर बनाया जाता है। हवाई इंजन के संबंधक दंड के लिये ३·५% निकल इस्पात, ५५-६५ टन प्रति वर्ग इंच तनाव-पुष्टता देने के लिये उपचारित, तथा निकल-क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात, ६५-७० टन प्रति वर्ग इंच तनाव-पुष्टता तक उपचारित, अनुकूल हैं।

मोटर के वाल्वों के लिये ३·५% सिलिकन और ८·५% क्रोमियम वाले इस्पात का उपयोग होता है तथा कभी कभी ऑस्टेनाइटमय इस्पात, जिसमें १३% क्रोमियम, १३% निकल, २·५% टंग्स्टन तथा ०·४% कारबन होता है, निष्कासक (एग्जॉस्ट) वाल्व के लिये प्रयुक्त होता है।

क्रैंक धुरी तथा टैपट पृष्ठ-कठोरीकृत इस्पात से बनाए जाते हैं, जिसमें ५% निकल इस्पात अथवा ४% निकल और १·३ % क्रोमियम-वाले इस्पात का प्रयोग होता है।

दाँतीदार चक्रों का विनाश थकान (फ़ैटीग) से उतना नहीं होता जितना घिसने के कारण। ये अधिकतर पृष्ठ-कठोरीकृत इस्पात से बनाए जाते हैं: जैसे ०·२०-०·२८% कारबन सहित २ प्रति शत निकल-मोलिब्डेनम इस्पात, ३% निकल इस्पात अथवा ५% निकल इस्पात।

गैस टर्बिन इस्पात—इस कार्य में प्रयुक्त सामग्री मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में विभक्त की जा सकती है। इनमें से पहला फेरिटिक (परलिटिक) या अन्-आस्टेनाइटमय वर्ग कहा जा सकता है, जिसमें वे मिश्र धातुएँ हैं जो उदाहरणतः ६००° सें० अधिकतम ताप तक कार्य के लिये अनुकूल हैं।

दूसरी श्रेणी में वे मिश्र धातुएँ हैं जिनका विकास प्रधानतः चिप्पड़ न बनने देने की ऊँची क्षमता के लिये हुआ है तथा जिनकी भार सँभालने की क्षमता पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। इस वर्ग में आनेवाले इस्पातों की रासायनिक संरचना में अधिक अंतर है। फेरिटिक तथा आस्टनाइटमय दोनों प्रकार की मिश्र धातुएँ इसी में हैं। कम शक्ति के अंतर्दह इंजन में वाल्व-इस्पात के रूप में प्रयुक्त होनेवाले सादे ६% क्रोमियम इस्पात से लेकर ढाले अथवा पीटकर बनाए गए ६५% निकल और १८% क्रोमियमवाली मिश्र धातुओं तक, जो नमक के घोलवाले उष्मकों में तथा अन्य संक्षारक परिस्थितियों में उच्च ताप पर प्रयोग के लिये उपयुक्त होती हैं, इस वर्ग में संमिलित है।

तीसरी श्रेणी में वे आस्टेनाइटमय मिश्र धातुएँ आती हैं जो ६००° सें० से ऊपर के ताप पर धीरे धीरे होनेवाले स्वतः परिवर्तन के विरुद्ध ऊँची प्रतिरोधक शक्ति के लिये ही बनाई गई हैं। इस स्थिति में मोरचा तथा चिप्पड़ न बनने देने की अच्छी क्षमता भी आवश्यक है। इस तृतीय वर्ग का आधारभूत पदार्थ प्रसिद्ध १८% क्रोमियम और ८% निकलवाला 'स्टेनलेस' इस्पात है, परंतु कुछ नवीन तथा श्रेष्ठ मिश्र धातुएँ अति जटिल प्रकृति की हैं। इनमें लोहा केवल अल्प मात्रा में ही एक अशुद्धि के रूप में रहता है।

वाष्प टर्बिन के लिये इस्पात—आधुनिक वाष्प टर्बिन, परिशुद्ध मशीन किए हुए ऐसे अंगों से बनी रहती है जिन्हें उच्च ताप पर अत्यधिक तनाव तथा बहुधा कठिन संक्षारण की स्थिति सहन करनी पड़ती है तथा जो लंबी अवधि तक लगातार कार्य में लगे रहते हैं। टर्बिन की धुरी पीटकर बनाए गए, तेल में बुझाकर कठोर किए गए तथा कुछ पानी उतारे हुए कारबन इस्पात की होती हैं, जिसमें कारबन लगभग ०·४% तथा मैंगनीज़ ०·५ से १·०% तक होता है। उच्च दबाववाले टर्बिन की धुरी आंतरिक तनाव रहित किए तथा पानी चढ़े कारबन-मालिब्डीनम-वैनेडियम इस्पात से बनती है। टर्बिन के सिलिंडर के लिये प्रायः सादा कारबनवाले अथवा कारबन-मैंगनीज़ वाले (मैंगनीज़ १·४-१·८ %) इस्पात का उपयोग होता है। केवल उन सिलिंडरों के लिये जो अति उच्च ताप पर कार्य करते हैं ०·५% मालिब्डीनम इस्पात की आवश्यकता पड़ती है। ब्लेड के लिये विविध स्टेनलेस इस्पात तथा ऊँची निकल मिश्रधातुएँ प्रयुक्त हुई हैं। आजकल सबसे अधिक प्रयुक्त होनेवाला पदार्थ १३% क्रोमियम-निम्न-कारबन इस्पात है।

बायलर—आजकल के बायलर ६००° सें० तक ताप तथा ३,२०० पाउंड प्रति वर्ग इंच से अधिक दाब पर कार्य करते हैं। ढोल (ड्रम) सरल कारबन-इस्पात, अथवा ३% निकल, ०·७% क्रोमियम और ०·६% मालिब्डीनमवाले इस्पात से लवंगित (रिवेट) करके, अथवा वेल्ड करके, अथवा तप्त पीटकर बनाए जाते हैं। बायलर की नलियाँ प्रायः कारबन-इस्पात, अथवा क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात की ठोस खिंची हुई होती हैं।

दाबसह बरतन—आधुनिक रासायनिक उद्योग में रासायनिक-क्रिया कराने तथा विभिन्न गैसों को रखने के लिये दाबसह बरतनों की आवश्य-

कता पड़ती है। इन बरतनों के लिये उपयुक्त पदार्थ तीन वर्ग के होते हैं : कारबन इस्पात, मिश्रधातु इस्पात तथा स्टेनलेस इस्पात। सामान्यतः मध्यम तनाव-पुष्ट इस्पात, जिनमें मैंगनीज की मात्रा १·५ से १·८% तक तथा ०·२५% कारबन रहता है तथा जिनकी तनाव-पुष्टता ३७ से ४५ टन प्रति वर्ग इंच तक होती है, मध्यम तथा उच्च दाब पर कार्य के लिये दाबसह बरतनों में उपयुक्त होते हैं।

रासायनिक उद्योग में इस्पात—सदैव विकसित होती हुई नई रासायनिक विधियों के कारण तथा उन विशेष, नवीन परिस्थितियों का सामना करने के लिये जो इन विधियों में उपस्थित होती हैं, विभिन्न प्रकार के इस्पात तथा अन्य धातुओं का उपयोग होता है। रासायनिक उद्योग में माल रखने के बरतनों, अनेक मशीनों और बहुत प्रकार के निर्माण-बरतनों तथा नलियों आदि के लिये नरम इस्पात ही अत्यधिक प्रयुक्त होता है। क्रोमियम तथा क्रोमियम-निकल आस्टेनाइटमय संक्षारण-अवरोधक इस्पात का उपयोग रासायनिक उद्योग में बहुत है। प्रचलित इस्पात की रासायनिक संरचना में १८% क्रोमियम, ८% निकल तथा लगभग ०·१८% कारबन रहता है तथा इसे टाइटेनियम या नियोबियम की सहायता से स्थायीकृत कर दिया जाता है। परंतु ऐसे इस्पात का संक्षारण-अवरोध २·५-३% मालिब्डीनम मिलाने से अत्यधिक बढ़ जाता है। रासायनिक उद्योग में उच्च ताप पर कार्य के लिये २५% क्रोमियम तथा २०% निकलवाला इस्पात व्यवहृत होता है।

औजार तथा ठप्पे के लिये इस्पात—आधुनिक उत्पादन-विधियों का विकास औजार बनाने में काम आनेवाल ऐसे इस्पात की उन्नति पर ही बहुत कुछ निर्भर रहा है जो उत्तरोत्तर कठिन परिस्थितियों में भी कार्य कर सके।

वैसे तो औजारी इस्पात अगणित प्रकार के हैं, पर इन्हें सुविधापूर्वक इन सात समूहों में बाँटा जा सकता है :

(१) सादे कारबन औजारी इस्पात,
(२) निम्न-मिश्रधात्वीय औजारी इस्पात,
(३) तेल में बुझाकर कठोर किया जानेवाला औजारी मैंगनीज इस्पात,
(४) आघात-प्रतिरोधक औजारी इस्पात,
(५) उच्चकारबन उच्चक्रोमियम मिश्रधातु,
(६) उच्च वेग इस्पात तथा गरम ठप्पे का इस्पात,
(७) निकल-क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात।

ऊपर दिए हुए एक या अधिक मौलिक गुण, इनमें से प्रत्येक समूह में अधिक अंश तक पाए जाते हैं।

सादा कारबन औजारी इस्पात—एक बार पानी में बुझाकर इसका पृष्ठ कठोर, कोमल तथा साधारण कठोरता का बनाया जा सकता है।

निम्न-मिश्रधात्वीय औजारी इस्पात—कारबनवाले औजारी इस्पात में ०·२ से ०·५% तक वैनेडियम की उपस्थिति दानेदार होना रोकती है तथा कठोरीकरण की क्षमता को लाभदायक सीमा तक बढ़ाती है। १·५% क्रोमियम मिलाने से कठोरीकरण की क्षमता तथा घर्षण-अवरोध बढ़ता है और यदि मैंगनीज ०·५ तथा ०·७५% के बीच में स्थिर रखा जाय तो यह तेल में बुझाकर कठोरीकरण योग्य इस्पात हो जाता है। १·२% कारबन तथा १·३% टंग्स्टन वाला इस्पात, जो प्रायः धातुकट आरी के फल (हैकसॉ ब्लेड) के लिये प्रयुक्त होता है, इसका एक अच्छा उदाहरण है।

तेल में बुझाकर कठोरीकरण योग्य मैंगनीज औजारी इस्पात—तेल में बुझाकर कठोरीकृत प्रामाणिक इस्पात में ०·८-१·०% कारबन तथा १·०-२·०% मैंगनीज रहता है।

आघात प्रतिरोधक इस्पात—इस प्रकार के इस्पातों में से सरलतम इस्पात में ०·६% कारबन, ०·६% मैंगनीज तथा ०·४-१·४% क्रोमियम रहता है। जिसमें अधिक क्रोमियम रहता है वह मोटे यंत्रों के लिये उपयुक्त होता है।

उच्चकारबन, उच्चक्रोमियम मिश्रधातु—प्रामाणिक मिश्रधातु में २·२-२·४% कारबन तथा १२-१४% क्रोमियम रहता है। इसमें उच्च घर्षण-अवरोध तथा उच्च संक्षारण-अवरोध का गुण होता है। यह तेल में बुझाकर कठोर किया जा सकता है, परंतु १% मालिब्डीनम की मिलावट इसे वायु में कठोरीकरण योग्य मिश्रधातु बना देती है।

उच्च वेग तथा गर्म ठप्पे के लिये उपयुक्त इस्पात—ऊँचे ताप पर कार्य करते समय अच्छी कठोरता तथा काटने की धार सुरक्षित रखने की क्षमता ही उच्चवेग इस्पात का मुख्य गुण है। अधिक उपयोग में आनेवाले इस प्रकार के इस्पात में लगभग ०·७५% कारबन, १८% टंगस्टन, ४% क्रोमियम तथा १·५% वैनेडियम रहता है।

निकल-क्रोमियम-मालिब्डीनम इस्पात—०·३-०·६% कारबन, ४% निकल, १·३% क्रोमियम तथा ०·३% मालिब्डीनम सहित इस्पातों में अत्यधिक चिमड़ापन (टफ़नेस) होता है।

चुंबकयुक्त यंत्रों के बहुत से ऐसे कार्यों में जहाँ पहले केवल विद्युत्‌चुंबक ही व्यवहृत होते थे, अब नवीन खोजों के कारण, स्थायी चुंबक सफलतापूर्वक प्रयुक्त होते हैं। चुंबक-इस्पात दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—वह जो मॉर्टेनसिटिक इस्पात होता है तथा वह जिसमें अवक्षेपण की विधि द्वारा चुंबकीय कठोरता उत्पन्न की जाती है। मॉर्टेनसिटिक इस्पात क्रोमियम इस्पात (कारबन ०·६%, क्रोमियम ३·५%), टंग्स्टन इस्पात (कारबन ०·७%, क्रोमियम ०·३% तथा टंग्स्टन ६%) तथा कोबल्ट इस्पात (३५% कोबल्ट, १% कारबन, ५-६% क्रोमियम, लगभग १% टंग्स्टन और १·५% मालिब्डीनम) को मिलाकर बनाया जाता है। अवक्षेपण द्वारा कठोरीकृत मिश्रधातुओं में ऐल्यूमिनियम, निकल, कोबल्ट तथा ताँबा, कुछ टाइटेनियम, नियोबियम या मालिब्डीनम के साथ, रहते हैं।

१९०० ई० तक, साधारण उपयोग में, लोहा ही अकेले 'नरम' लौह-चुंबकीय वस्तु था। तत्पश्चात् अनेक मिश्रधातुओं का प्रवेश हुआ, जिनमें समुचित उष्मा-उपचार से, ऊँची प्रारंभिक चुंबकशीलता (पर्मिएबिलिटी) तथा निम्न मंदायन (हिस्टेरीसिस) हानि उत्पन्न होती है। इन्हें पार-मिश्रधातु कहते हैं। निकल-लोहा की बहुत सी मिश्रधातुएँ, जिनमें दूसरी धातुओं की अल्प प्रतिशत में ही मिलावट रहती है, इस क्षेत्र में अति श्रेष्ठ ठहरी हैं। इन मिश्रधातुओं में ३५-९०% निकल रहता है तथा इनमें मिलाई जानेवाली प्रधान धातुएँ मालिब्डीनम, क्रोमियम तथा ताँबा हैं।

इंजीनियरी में ऐसे इस्पात तथा मिश्रधातुओं के अनेक उपयोग हैं, जो यांत्रिक तनाव सह सकें या सहारा दे सकें, परंतु आसपास में चुंबकीय क्षेत्र की वृद्धि न करें। इनकी चुंबक-प्रवृत्ति (ससेप्टिबिलिटी) को लगभग शून्य तथा चुंबकशीलता को लगभग इकाई तक पहुँचना चाहिए। इस कार्य में प्रयुक्त होनेवाले पदार्थ निम्नलिखित हैं : (१) आस्टेनाइटमय मिश्रधातु ढलवाँ लोहा तथा इस्पात, (२) तापसमकारी मिश्रधातु जिनमें प्रधानतः निकल (३०-३६%), और लोहा (५९-७०%) रहता है तथा साथ में कभी कभी मैंगनीज या क्रोमियम (५%) होता है, तथा (३) निश्चुंबकीय इस्पात (कारबन ०·४५%, मैंगनीज ८·५-९·५%, निकल ७·५-८·५%, क्रोमियम ३·०-३·५%)। (हु० के० त्रि०)

इस्फहान ईरान का एक प्रसिद्ध नगर तथा उसकी पूर्वकालीन राजधानी है। इसका प्राचीन नाम इस्पहान था। यह जायें देहरूद के किनारे समुद्रतट से ५,३७० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह मोटर की सड़कों द्वारा तेहरान, कर्मान तथा शीराज से मिला हुआ है। कदाचित् स्वस्थ जलवायु, उर्वरा मिट्टी तथा जल की प्रचुरता के कारण प्राचीन काल से ही यह महत्वपूर्ण स्थान है। यह नगर २० वर्गमील के क्षेत्र में फैला है, परंतु इसके अधिकांश भाग जीर्ण शीर्ण अवस्था में हैं। इसका बाजार विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह तीन मील लंबा नगर के हृदयस्थल में एक रेखा में उत्तर-दक्षिण फैला हुआ है। 'चहल सितून' (चालीस स्तंभ तथा 'हश्त बिहिश्त' (आठ स्वर्ग) यहाँ के ऐतिहासिक स्मारक हैं; इनमें ईरानी संस्कृति तथा वास्तुकला का परिचय मिलता है। इसकी जनसंख्या लगभग १,९२,००० है। [लें० रा० सिं०]

इस्माइल, सर मिर्ज़ा, अमीनुल्मुल्क जन्म २३ अक्टूबर, सन् १८८३ ई०। मैसूर और सेंट्रल कालेज बँगलोर में शिक्षा हुई। १९०८ में महाराजा मैसूर के सहायक सचिव और कुछ काल बाद मैसूर के दीवान नियुक्त हुए। बंबई विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर भी रहे। लंदन में होनेवाली पहली और दूसरी राउंड टेबुल कांफ्रेंसों में संमिलित हुए थे। सर मिर्ज़ा भारत के शिक्षा संबंधी चिंतकों में से थे। नागपुर, अलीगढ़, आगरा, बनारस, पटना, ढाका आदि विश्वविद्यालयों के उनके दीक्षांत भाषणों से उनकी शिक्षा संबंधी योग्यता का पता चलता है। मैसूर लौटने से पहले वे जयपुर राज्य के दीवान रहे। १९५६ ई० में उनका देहांत हुआ। [र० स० ज०]

इस्माइलिया स्वेज़ थलडमरूमध्य में तिम्सा झील के उत्तर-पश्चिमी तट पर मिस्र का एक नगर है जो भूमध्यसागर से ५० मील तथा काहिरा से ९३ मील दूर है। इसे सन् १८६३ ई० में स्वेज नहर की खुदाई के समय खेदिव इस्माइल ने बसाया था, अतः इसका नाम इस्माइलिया पड़ गया। इसकी गलियों तथा मकानों की स्वच्छता तथा क्रम में आधुनिकता की गहरी छाप है। यह तीन ओर उद्यानों तथा एक ओर झील से घिरा हुआ है। स्वेज नहर के किनारे पर 'के मोहमत अली' (मोहम्मद अली का घाट) है, जहाँ नहर की खुदाई के समय फरदीनाँ दि लेपेस महोदय निवास करते थे। घाट के अंत में जलकल है जो पोर्ट सईद को मीठा जल पहुँचाता है। इस नगर में बहुत से सरकारी कार्यालय, गोदाम तथा सांस्कृतिक भवन हैं। इसकी जनसंख्या लगभग १५,५०० है। [ले० रा० सि०]

इस्लाम उस धर्म का नाम है जिसकी स्थापना हज़रत मुहम्मद ने मक्का में अपने १० वर्ष के शांतिपूर्ण उपदेशों (६१२-६२२ ई०) तथा १० वर्ष तक मदीना के इस्लामी गणराज्य के नियंत्रण (६२२-६३२) की अवधि में की थी। इस अवधि में बहुत ही थोड़े रक्तपात के द्वारा समस्त अरब प्रदेश इस्लाम धर्म का अनुयायी बन गया। इस्लाम का शाब्दिक अर्थ है परित्याग, विसर्जन या आज्ञाकारिता।

इस्लाम के प्रमुख तत्वों का संक्षिप्त विवेचन निम्नांकित है। इस्लाम का आधार कुरान या पैगंबर का 'इलहाम' है जिसे उन्होंने संपादित कर कुरान के माध्यम से प्रकाशित किया। उस इलहाम (ईश्वरीय प्रेरणा के क्षणों में पैगंबर द्वारा कहे गए वचन) के अतिरिक्त स्वयं उनके द्वारा उपदिष्ट बात भी लिपिबद्ध नहीं होनी चाहिए। इसी कारण 'हदीस' तक, जो स्वयं पैगंबर के वचन थे, और जो इस्लामी पद्धति का एक भाग है तथा जिसकी मान्यता के संबंध में काफी मतभेद है, पैगंबर की मृत्यु के लगभग एक शताब्दी बाद तक लिपिबद्ध नहीं किए गए।

(१) इस्लाम धर्म की प्रमुख विशेषता उसका कट्टर एकेश्वरवाद है। यह समस्त मुसलमानों के लिये 'कलमा' में इस प्रकार संनिहित किया गया है—"अल्लाह (ईश्वर) के अतिरिक्त और कोई देवता नहीं है और मुहम्मद उसी के पैगंबर हैं।" इस एकेश्वरवादी सिद्धांत के अंतर्गत दो परंपराएँ विकसित हुईं—(१) भौतिकवादी, और (२) रहस्यवादी। पहली परंपरा, जहाँ तक संभव हो सकता है, कुरान के शाब्दिक अर्थ को मान्यता देते हुए ईश्वर के सिंहासन, चौकी, चेहरे इत्यादि की शब्दावली में कुरान को व्यक्त और स्वीकार करती है। रहस्यवादी इसके विपरीत कुरान की शब्दावली का ध्वन्यात्मक तथा असांसारिक अर्थ लगाते हैं। उनके लिये अल्लाह एक अनिवार्य सत्ता (वजीबुल-वुजूद) है और वे अपने समस्त सिद्धांतों को कुरान की नीचे लिखी जैसी अनेक उक्तियों पर आधारित करते हैं—"वह (अल्लाह) प्रथम भी है और अंतिम भी, वह दृश्य भी है और वास्तविक भी, और वह पूर्ण ज्ञानवान् भी है।" "हमारा आदि और अंत दोनों अल्लाह में ही है।" एक रहस्यवादी के लिये ईश्वर (अल्लाह) सृष्टि का समष्टीकरण है। "सब अच्छे नाम उसी के लिये हैं", यह कुरान का मत है, अतः मुसलमान को अल्लाह के पर्यायवाची शब्द, जैसे फारसी के 'खुदा' या तुर्की के 'तेंगिरी' शब्द के प्रयोग में कोई आपत्ति नहीं है।

(२) अरब के किसी भी धार्मिक या आर्थिक आंदोलन में इस्लाम का आधार खोजना संभव नहीं है। फिर भी जीवन के सिद्धांत तथा संसार के इतिहास के अनुरूप स्वयं को ढालने में इस्लाम को कोई कठिनाई नहीं हुई। कुरान का सिद्धांत है, "ईश्वर पहले निर्माण करता और फिर निर्देश करता है"। प्रत्येक जीव को उसका निर्देश (हिदायत) अपनी चेतना या अनुभव द्वारा ज्ञानप्राप्ति की शक्ति के रूप में प्राप्त होता है।

किंतु समाज में रहनेवाले व्यक्तियों को ईश्वर अपना निर्देश अंतःप्रेरणा (वही) द्वारा देता है। और 'वही' को व्यक्ति के दिशाज्ञान के लिये व्यक्त करता है। कुरान में कुल पैगंबरों का उल्लेख नहीं है किंतु मुसलमानी विश्वास के अनुसार पैगंबरों की संख्या १,२४,००० है।

(३) पैगंबर के मतानुसार ईश्वरीय एकता का मतलब है सामाजिक समानता और भाईचारा। पैगंबर के इस सिद्धांत के संबंध में अनेक कठिनाइयाँ हुईं। जनमत के पक्ष में होने के कारण वे अरब में प्रचलित अनैतिक कुरीतियों को समाप्त कर सके, किंतु मदीना के गणतंत्र की स्थापना के समय हुई लड़ाइयों में मनुष्य के भाईचारे का सिद्धांत केवल मुसलमानों के भाईचारे के सिद्धांत तक सीमित रह गया। पैगंबर ने विवाह, उत्तराधिकार, न्यायालय के समक्ष गवाही आदि के संबंध में स्त्रियों को विशेषाधिकार प्रदान किए, जो समकालीन किसी भी अन्य जाति की स्त्रियों को प्राप्त न थे। किंतु पूर्ण समानता असंभव थी। पैगंबर दासप्रथा से घृणा करते थे। युद्ध में पराजितों को उन्होंने कभी दास नहीं बनाया। उनका निर्देश था कि किसी दास को मुक्त कर देना मुसलमान के लिये सर्वश्रेष्ठ कामों में से एक है। किंतु वे इस प्रथा का अंत न कर सके। मृत्यु से पूर्व अपने अनुयायियों से उन्होंने अनुरोध किया कि वे अपने दासों को अपने समान ही रहन सहन प्रदान करें।

(४) एक ईश्वर में विश्वास करने के सिद्धांत का एक पहलू यह भी है कि दलित मानव समाज की मुक्ति के लिये प्रयत्न किया जाय। कुरान की दलित व्यक्तियों की परिभाषा में ये लोग आते हैं—'फ़कीर (ऐसे व्यक्ति जो जीविकोपार्जन करने में असमर्थ हैं), मसाकीन (ऐसे व्यक्ति जिन्हें अस्थायी आवश्यकता हो), यात्री, अपाहिज तथा ऐसे व्यक्ति जो आवश्यकता होते हुए भी आत्मसंमान के कारण सहायता नहीं माँगते। पैगंबर ने गरीबी को दूर करने के लिये प्रयत्न किए। उपर्युक्त प्रकार के व्यक्तियों तथा राज्य के कार्यसंचालन के लिये पैगंबर ने कर न लेकर सहायता की माँग की। इस संबंध में यमन के प्रशासक को उन्होंने यह आदेश दिया—"धनवान से लेकर गरीबों में बाँट दो।"

(५) गैरमुस्लिम जातियों से क्या बर्ताव हो इस संबंध में पैगंबर के सिद्धांत स्पष्ट हैं। आनेवाली सदियों में मुसलमान प्रशासकों द्वारा किए गए अत्याचारों के लिये पैगंबर कदापि उत्तरदायी नहीं ठहराए जा सकते। "तुम्हारे लिये तुम्हारी आस्था (दीन), मेरे लिये मेरी आस्था"—कुरान स्पष्टतः धार्मिक स्वतंत्रता में विश्वास करता है। ऐसे व्यक्तियों के लिये जिनपर अनुचित रूप से आक्रमण हुआ है, कुरान आत्मरक्षा के सिद्धांत का प्रतिपादन करता है। इसके अतिरिक्त पैगंबर ने अरब राज्य के शासक के नाते नियमित रूप से एक निश्चित धनराशि वहाँ दी और मुस्लिम संस्थाओं से केंद्रीय राज्य के व्यय के लिये प्राप्त की और उन संस्थाओं के आंतरिक मामलों में उन्होंने हस्तक्षेप नहीं किया। जजिया नामक कर, जो गैरमुसलमानों पर उनके मुसलमान न होने के कारण लागू किया जाने लगा था, पैगंबर के समय में नहीं था। अरबेतर प्रदेशों में इस्लामी क्रांति के विकास का कारण जानने के लिये यह समझना आवश्यक है कि उस समय के प्रत्येक सभ्य देश में मनुष्य समाज दो वर्गों में विभाजित था। विभाजन का आधार या तो दासप्रथा थी या जातिप्रथा। वस्तुतः एक वर्ग तो शासकों का था, जिसके पास धन एवं संस्कृति के अधिकार सुरक्षित थे और दूसरा वर्ग था शोषितों का, जिनको धर्म एवं संस्कृति के अधिकार अप्राप्य थे। अतः इस्लाम का विकास अति शीघ्र हुआ, किंतु शीघ्र ही यह भी शासकवर्ग का सिद्धांत होकर रह गया; फलस्वरूप ७१५ ई० के लगभग इस्लाम का विस्तार अवरुद्ध हो गया। इस समय के बाद से यह केवल कुछ ही देशों में विकसित हो सका और भारतवर्ष एक ऐसा ही अपवाद है। मनुष्य जाति की भविष्य की समस्याएँ धर्म के आधार पर नहीं सुलझाई जा सकेंगी। "एक के बाद कोई पैगंबर नहीं होगा", यह मुहम्मद का कथन है।

सं०ग्रं०—मौलाना अबुल कलाम आज़ाद : तरजुमानुल कुरान।

[मु० ह०]

इस्लामाबाद काश्मीर की एक प्राचीन नगरी है जो पूर्वकाल में काश्मीर घाटी की राजधानी भी रह चुकी है। यह झेलम के दाहिने तट पर श्रीनगर से ३४ मील की दूरी पर स्थित है। यों तो इसके निकट बहुत से सोते हैं, परंतु अनंतनाग नामक उष्ण जल के सोते की पवित्रता सर्वोपरि है तथा इसी के नाम पर हिंदू लोग इस्लामाबाद को अनंतनाग कहते हैं। हो सकता है इसका प्राचीन नाम अनंतनाग ही रहा हो जिसे मुसलमानों ने इस्लामाबाद का नाम दे दिया हो। यहाँ अनंतचतुर्दशी पर बड़ा प्रसिद्ध मेला लगता है। यह नगरी पूर्वकाल में बड़ी उन्नति पर थी तथा अपने शाल, दुशालों के लिये इसकी यथेष्ट प्रसिद्धि थी, परंतु आज यह अवनतावस्था में है। यहाँ कुछ लोग शाल आदि के शिल्प में अब भी लगे हुए हैं, परंतु अधिकांश लोगों के जीविकोपार्जन का मुख्य आधार कृषि है। इसकी जनसंख्या सन् १९०१ ई० में ६,३६० थी। [लि० रा० सिं०]

इस्लामी विधि या शरियत उस कानून का नाम है जो मुसलमानों के विभिन्न वर्गों तथा उपवर्गों से विकसित हुआ है। शरियत संबंधी विज्ञान को फिक़ (न्यायशास्त्र) कहते हैं। इस संबंध में सभी न्यायशास्त्री एकमत हैं कि कुरान तथा पैगंबर के अधिकृत वचन (हदीस) ही शरियत के मूलाधार हैं; किंतु इजमा-इ-उम्मत (जनमत), राय (धारणा या युक्ति), इस्तिहसान (जनहित), इस्तिसलाह (सुधार) तथा उर्फ (रिवाज़) आदि की वैधानिक मान्यता के संबंध में उनमें मतभेद है। सुन्नी न्यायशास्त्र की चार प्रमुख पद्धतियों—हनफी, मालिकी, शाफ़ई तथा हंबली—की स्थापना महान् अब्बासी खलीफाओं के शासनकाल (७५०-८४२) में हुई थी। इसके पश्चात् यह मान लिया गया था कि इजतिहाद या नवीन अर्थ-प्रतिपादन का द्वार बंद हो गया है और पीछे आनेवाले युग के बड़े लेखकों—जैसे मरघिनान के इमाम बुरहानुद्दीन (मृत्यु सन् ११९०)—ने इस सहज क्रम को स्वीकार किया। जिन बातों पर न्यायशास्त्रियों का मतैक्य था उनको उन्होंने ज्यों का त्यों लिपिबद्ध कर दिया, किंतु जिन विषयों पर न्यायपंडित असहमत थे वहाँ उन्होंने विभिन्न न्यायशास्त्रियों (फिक़) के व्यक्तिगत विचारों को अलग अलग लिपिबद्ध किया और निर्णय न्यायाधीश या काजी पर छोड़ दिया। सुन्नी काजी इस बात के लिये स्वतंत्र था कि किसी भी मान्य न्यायशास्त्री के विचारानुसार निर्णय दे अथवा नहीं।

इस्लामी शरियत की पुस्तकों के वर्ण्य विषय को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—इबादत (प्रार्थना या अभ्यर्थना), मुआमिलात (असैनिक विषय), तथा उकूबात (दंड)।

मुसलमानी असैनिक विधि युक्ति और सहज बुद्धि पर आधारित होने के कारण निस्संदेह मध्य युग की प्रचलित पद्धतियों में सर्वश्रेष्ठ थी। पश्चिमी अफ्रीका से चीन की सीमा तक व्याप्त इस्लाम की एकरूपता भी इसके लिये वरदान सिद्ध होती थी। एक काजी का निर्णय, देशों की सीमा की परवाह न करके सभी मुसलमान काजियों द्वारा मान्य होता था। यहाँ तक कि ये निर्णय गैरमुसलमान शासकों द्वारा मुसलमान प्रजा के लिये नियुक्त किए गए क़ाजियों तक को स्वीकार होता था।

शरियत के धर्म संबंधी सिद्धांतों को मुसलमानी धार्मिक चेतना ने भौतिक और अधार्मिक कहकर अस्वीकार कर दिया। अपराध संबंधी शरियत की विधि, जिनमें हुदूद अर्थात् कुरान में दी गई दंडव्यवस्था भी शामिल है, लोकप्रिय न हो सकी, और यह दंडव्यवस्था असंभव सी सिद्ध हुई क्योंकि व्यावहारिक रूप से गवाही के कानून को मानकर शरियत-अपराध को सिद्ध कर पाना असंभव था।

मध्ययुग में शरियत की विधि उर्फ (रिवाज) तथा राजकीय विधि (जवाबित, आइन, तौरह) में विरोध रहा, व्यवहार में शरियत की विधि उपर्युक्त दोनों प्रकार की विधियों के अधीन रहती थी। राजनीतिक संस्थाओं और सामाजिक विधि पर भी शरियत मौन थी।

किसी भी मुसलमान राष्ट्र के लिये यह संभव नहीं हो सका है कि वह शरियत को आधुनिक आवश्यकताओं और संस्थाओं, जैसे बैंक, बीमा, राष्ट्रीय ऋण, श्रमिकों के मुआविजे आदि के अनुरूप ढाल सके। प्रगतिवादी मुसलमान राष्ट्रों ने यूरोप की विधि पर आधारित विधियों को स्वीकार कर लिया है। किंतु व्यक्तिगत विधि, जैसे उत्तराधिकार तथा विवाह की नियमावली अभी तक अछूती छोड़ दी गई हैं। [मु० ह०]

इस्लामी संस्थाएँ मुसलिम जगत् में प्रचलित संस्थाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: विशुद्ध धार्मिक संस्थाएँ, धर्मनिरपेक्ष संस्थाएँ तथा अंशतः धार्मिक संस्थाएँ।

इस्लाम की विशुद्ध धार्मिक संस्थाओं के ये पाँच अरकान या स्तंभ हैं: ईश्वर में विश्वास, नित्य पाँच वक्त की नमाज, जीवन में एक बार मक्का की तीर्थयात्रा, रोजा तथा ज़कात या आय का २॥ प्रति शत दान। प्रार्थना में सामूहिकता के तत्व को इस्लाम ईसाई मत से भी अधिक मान्यता प्रदान करता है। मसजिद के अंदर अब भी पैगंबर द्वारा प्रतिपादित वर्गरहित समाज सुरक्षित रह सका है। प्रत्येक शुक्रवार और विशेष रूप से प्रत्येक ईद की नमाज पर प्रत्येक मुसलमान की उपस्थिति वांछित होती है।

मुसलमानों की सबसे प्रमुख धर्मनिरपेक्ष संस्था उनकी विशिष्ट प्रकार की राजतंत्रात्मक शासनप्रणाली है। शासक अपने पुत्र या अपने भाई को अपना उत्तराधिकारी घोषित करता था, किंतु यह नियुक्ति शासक की मृत्यु के पश्चात् राज्य के उच्च पदाधिकारियों की स्वीकृति के पश्चात् ही कार्यान्वित हो सकती थी। दूसरे, राज्य के किसी भी पदाधिकारी को शासक पदच्युत कर सकता था। तीसरे, राजकीय कर्मचारियों के विवाह और उत्तराधिकार संबंधी विषय शरियत से नियंत्रित न होकर राजकीय नियमों या ज़वाबित द्वारा नियंत्रित होते थे। यद्यपि अयोग्य मुसलमान शासकों का दुःखद अंत हुआ, तथापि मध्यकालीन योग्य मुसलमान शासकों की शक्तियाँ किसी भी जाति के अन्य शासकों से अधिक थीं।

इस्लाम राजतंत्र और पुरोहित प्रथा दोनों का विरोधी है। किंतु राज्य को कुछ आंशिक धार्मिक कर्तव्यों का पालन करना होता है और इसके लिये राजा अपने इच्छानुसार धार्मिक विद्वानों की नियुक्ति करता था और उनको निकाल भी सकता था। ऐसे कर्मचारियों में प्रमुख काजी हुआ करते थे। इनकी नियुक्ति मुकदमों की संख्या के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में हुआ करती थी। काजी केवल मुकदमों का निर्णय करता था, वह अभियोग नहीं लगा सकता था। अतः शासक अमीर-इ-अदल नामक कर्मचारी की नियुक्ति करता था जिसका कर्तव्य अपराधियों के विरुद्ध अभियोग लगाना होता था। सामाजिक नैतिकता, जैसे सही नाप तौल की इकाइयों की व्यवस्था आदि, की सुरक्षा के लिये मुहतसिब नामक कर्मचारियों की नियुक्ति होती थी। सद्र नामक कर्मचारी धार्मिक विषयों, जैसे मसजिद और खैराती संस्थाओं आदि की देखभाल करते थे। इस्लाम और रोम की न्यायपद्धति का एक अन्य विशिष्ट पदाधिकारी मुफ्ती (न्यायवेत्ता या न्यायशास्त्री) होता था। सैद्धांतिक रूप से कोई भी मुसलमान किसी भी मामले में अपनी राय (फतवा) दे सकता है। किंतु इस नियम में राज्य ने हस्तक्षेप करके यह घोषित किया कि यह अधिकार केवल विद्वानों को ही प्राप्त था और वास्तव में इसका तात्पर्य यह था कि राज्य या तो अपने पक्ष के फतवों को स्वीकार करेगा या उन फतवों को स्वीकार करेगा जो विशुद्ध रूप से तटस्थ प्रकृति के होंगे।

उपर्युक्त सभी पदाधिकारी बाह्य विद्वान् (उल्मा-इ-ज़ाहिरी) माने जाते थे और यह विश्वास किया जाता था कि इन पदाधिकारियों ने अपनी आत्मा को राज्य के हाथों बेच दिया है और ये सब भ्रष्ट और बेईमान हैं। इस प्रकार भारत के मुसलमान और हिंदू दोनों ही उन महात्माओं का आदर करते रहे हैं जो राज्य के कार्यों से तटस्थ रहे। किंतु भारत में इस्लाम के प्रादुर्भाव की छः लंबी शताब्दियों में एक भी ऐसा महान् काजी अवतरित न हो सका जिसको आनेवाली पीढ़ियाँ याद रखतीं। [मु० ह०]

इस्सस का युद्ध यह युद्ध ईरान और सिकंदर के बीच हुआ था। सीरिया में फ़रात नदी से थोड़ी दूर पर मिरियांद्रस के पास अलेग्जांद्रिया था, वहीं उत्तर की ओर इस्सस के मैदान में दारा की फौजें खड़ी थीं और दक्खिन की ओर अपने रिसालों और पैदलों के साथ मकदूनिया का राजा सिकंदर डटा था। दारा की सेनाएँ देली की धारा के दोनों ओर चलकर ग्रीक सेना पर हमले के लिये बढ़ीं। इधर सिकंदर ने दारा की हरावल पर हमला किया। हरावल टूट गई। ईरानी मार्ग और उसकी सेना बड़ी संख्या में मारी गई। दियोदोरस और प्लूतार्क ने यह संख्या १ लाख १० हजार बताई है। मृत मकदूनियाई सैनिकों की संख्या साढ़े चार सौ ही बताई जाती है जिसे स्वीकार करना कठिन है। इस्सस का युद्ध ३३३ ई० पू० के अक्टूबर में हुआ था।

ईरान के विरुद्ध सिकंदर का यह पहला अभियान था, अंतिम ३३१ ई० पू० में हुआ। दारा के पूर्वजों ने कभी ग्रीस पर चढ़ाई कर एथेंस को जला डाला था और ईरान की विजय करते समय सिकंदर भूला न था कि उसे ईरान और उसके सम्राट् के प्रतिनिधि दारा तृतीय से बदला लेना है। ईरान की राजधानी पर्सिपोलिस को जलाकर उसने एथेंस का बदला लिया पर वह अरबला की लड़ाई के बाद हुआ जो बाख्त्री पर उसके हमले के पहले ईरान के विरुद्ध अंतिम अभियान था। इस्सस के युद्ध में ईरान के विध्वंस का आरंभ था जिसके परिणाम में सीरिया से हिंदूकुश और आमू दरिया तक एशिया की जमीन सिकंदर के अधिकार में आ गई। इस्सस के युद्ध ने प्रमाणित कर दिया कि शत्रु की सेना की संख्या चाहे जितनी बड़ी हो, विजय संख्या से नहीं, सैन्य-संचालन के कौशल से होती है। दारा के पास संख्या थी, सिकंदर के पास रणकौशल था। [ओं० ना० उ०]

ईंट मिट्टी के बने उस लघु खंड को कहते हैं जिसे गीली अवस्था में उसकी लंबाई चौड़ाई को एक मनोनुकूल स्वरूप देकर बना दिया जाता है तथा आग में पकाकर इस प्रकार कड़ा कर दिया जाता है कि उस पर बाहरी वातावरण या जलवायु का कोई असर न हो सके, तथा ऐसी ईंटों को दीवार या स्तंभनिर्माण के काम में लाए जाने के बाद वे उस भार को उचित रीति से वहन करने में सक्षम हों।

ईंटों के कुछ विशेष प्रकार नीचे चित्रित हैं :
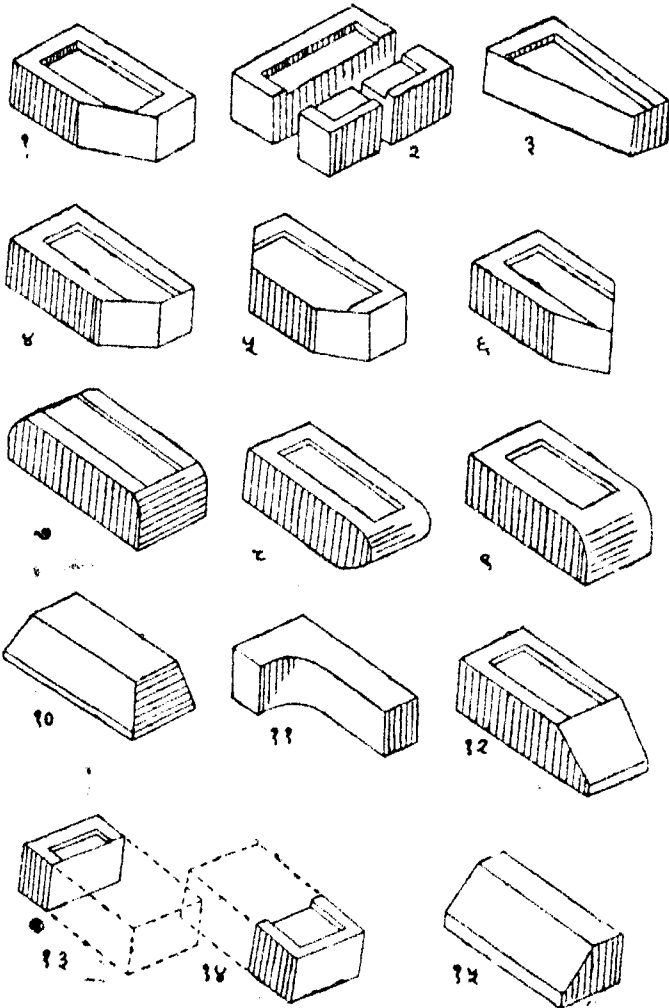
विशेष आकृति की ईंटें

१. कोना-कटी ईंट; २. इस प्रकार की आधी ईंट को मिस्त्री लोग खंडा कहते हैं और चौथाई ईंट को रोड़ा; ३. मेहराब या कुएँ में चिनाई की ईंट; ४–१२. गोला, गलता, कॉर्निस, स्तंभ आदि में प्रयुक्त होने वाली ईंटें; १३–१४. तिहाई या चौथाई ईंट; १५. कोर कटी ईंट।

अच्छी ईंटों को आकार में ठीक और समान होना चाहिए। इनकी कोरें सीधी और कोण ठीक हों (वाराणसी के मिस्त्री कहते हैं कि ईंट की नास कोर ठीक हो) और ये बीच में कच्ची अथवा अधपकी न रह गई हों। इनकी सतहें कठोर और चौरस हों। ऊपरी सतह अपेक्षाकृत अधिक कड़ी हो। कठोरता एवं ठोसपन की जाँच दो ईंटों को हाथों में लेकर एक से दूसरे को ठोंककर और ध्वनि सुनकर की जा सकती है। इस प्रकार ठोंकने पर यदि गिरी हुई या दबी आवाज निकले तो समझिए कि उसका भीतरी भाग अभी कड़ा नहीं हो पाया है और ईंट भली भाँति पकी नहीं।

अच्छी कड़ी ईंटों में जल सोखने की कोई विशेष क्षमता नहीं होती। जो ईंट अपने भार के सातवें हिस्से से अधिक पानी न सोखे वह ठीक होती है। यदि इससे अधिक सोखे तो समझना चाहिए कि वह कुछ कच्ची है और जलवायु के प्रभाव को ठीक से सहन कर सकने की क्षमता उसमें नहीं आ पाई है।

अच्छी ईंट में छिद्र, गुठलियाँ या ढेले, कंकरीट अथवा चूने का असंमिलित अंश इत्यादि नहीं होना चाहिए। चूने के टुकड़ विशेष रूप से अवांछनीय एवं हानिकर होते हैं, क्योंकि पानी पड़ते ही ये भुरभुरे होने लगते हैं और फूलकर ईंटों में दरार अथवा उन्हें बिलकुल टुकड़े टुकड़े कर देते हैं।

ईंटों को पाथने के लिये लंबाई चौड़ाई का एक स्थिर मानक होना चाहिए जिससे विविध भट्ठों से आई ईंटें एक दूसरे के साथ मेल खा सकें। प्रत्येक ईंट में लंबाई एवं चौड़ाई का अनुपात एक और दो का होना चाहिए। [श्री० कृ०]

ईंट का काम ईंट के काम या उसकी चिनाई का अर्थ है ईंटों को इस प्रकार चिनना कि उनसे बनी दीवार सुदृढ़ हो।

ईंटों की जोड़ाई या चिनाई में ईंटों के बीच गारे (गीली मिट्टी), चूने और बालू, चून और सुर्खी, छाई और चूने अथवा सिमेंट और बालू का प्रयोग किया जाता है। परंतु दीवारों की दृढ़ता केवल गारे आदि पर निर्भर नहीं है। ईंटें इस प्रकार रखी जाती हैं कि वे एक दूसरे के सहारे टिकी रहती हैं, परंतु आवश्यकता पड़ने पर दीवार को बिना विशृंखलित किए ही उसमें से दो चार ईंटें खींचकर बाहर निकाल भी ली जा सकती हैं।

ईंट के काम में कई तरह की चालें (बॉण्ड) काम में लाई जाती हैं। उनमें से मुख्य रीतियाँ नीचे बताई गई हैं। स्मरण रखना चाहिए कि दीवार के अनुदिश रखी ईंट को वाराणसी की ओर पट्टा कहते हैं और अनुप्रस्थ रखी ईंट को तोड़ा या तुड़िया; ईंट की लंबाई के अनुदिश चीरकर दो आधी ईंटों में से प्रत्येक को खंडा कहते हैं; चौड़ाई के अनुदिश तोड़कर दो आधी ईंटों में से प्रत्येक को अद्धा कहते हैं। खंडे के आधे को रोड़ा कहते हैं।

इंग्लिश रीति—इस रीति में बाहर से देखने पर प्रत्येक रद्दे में या तो केवल पट्टे या केवल तोड़े दिखाई पड़ते हैं। पट्टे और तोड़ेवाले रद्दे एक के ऊपर एक आते रहते हैं।

द्विगुण फ्लेमिश रीति—प्रत्येक रद्दे में पट्टे और तोड़े एक के बाद एक आते रहते हैं। दीवार के दोनों ओर ऐसा ही दिखाई पड़ता है।

एकल फ्लेमिश रीति—मकान के बाहर से देखने पर प्रत्येक रद्दे में पट्टे और तोड़े एक के बाद एक आते रहते हैं, परंतु भीतर से देखन पर दीवार इंग्लिश रीति से जुड़ी जान पड़ती है।

केवल पट्टे—कुछ भीतें प्रत्येक रद्दे में केवल पट्टे रखकर बनाई जाती हैं। ऐसी भीत आधी ईंट मोटी होती है।

केवल तोड़े—प्रत्येक रद्दे में केवल तोड़े ही लगाए जा सकते हैं; मेहराबदार जुड़ाई, दीवार का पाद (नीचेवाला रद्दा), छज्जा, कार्निस आदि बनाने के काम में ऐसी जुड़ाई की जाती है।

बगीचे या हाते की भीत—ऐसी भीतों में तीन पट्टों की बगल में एक तोड़ा रहता है।

फ़्लेमिश जोड़ाई की अपेक्षा इंग्लिश जोड़ाई अधिक मजबूत होती है, परंतु फ़्लेमिश जोड़ाई से अधिक सपाट दीवार बनती है। उदाहरणतः, यदि ईंटें ९ इंच लंबी हैं और ९ इंच मोटी दीवार बनानी है तो दो पट्टों के बीच में न्यूनाधिक गारा रखकर दीवार की मोटाई ठीक ९ इंच कर दी जा सकती है, परंतु ईंटों की वास्तविक लंबाई न्यूनाधिक रहती है (यद्यपि कहने के लिये उनकी लंबाई ९ इंच होती है)। अब ९ इंच की दीवार जोड़ने पर जहाँ पट्ट रहेंगे वहाँ ईंटों की छोटाई बड़ाई के अनुसार दीवार भीतर घुस जायगी या बाहर निकल पड़ेगी। फ़्लेमिश जोड़ाई में पट्ट अधिक और तोड़े कम रहते हैं। इसी से फ़्लेमिश जोड़ाई अधिक सपाट

ईंट की चिनाई

१–२. इंग्लिश रीति, सामने से और पीछे से, ३–४. द्विगुण फ़्लेमिश रीति, सामने से और पीछे से; ५–६. एकल फ़्लेमिश रीति, सामने से और पीछे से; ७. हाते की भीत; ८. केवल पट्ट।

होती है। हाते की चहारदीवारी के लिये भी इसी कारण तीन रद्दे पट्टों के और तब केवल एक रद्दा तोड़ों का रखा जाता है। इससे दीवार अवश्य कुछ कमजोर बनती है, परंतु ऐसी दीवार पर अधिक बोझ नहीं रहता कि विशेष मजबूती की आवश्यकता पड़े। दीवार पर पलस्तर करना हो तो भी दीवार यथासंभव सपाट ही बननी चाहिए, अन्यथा अधिक मसाला खर्च होता है।

ईंट के काम में सुव्यवस्थित एकरूपता केवल ईंट की नास कोर ठीक होने पर ही नहीं निर्भर रहती, बल्कि जोड़ की नाप पर भी निभर होती है, क्योंकि यदि प्रत्येक रद्दे के बीच के मसाले की ऊँचाई आपस में ठीक मेल नहीं खाएगी तो ईंटें सच्ची रहकर ही क्या करेंगी? ईंट के काम में जोड़ की मोटाई नियंत्रित रखने के लिये चार रद्दे की मोटाई पहले से निर्धारित कर दी जाती है। उदाहरणतः यदि ईंट की ऊँचाई २¾ इंच है और गारे के जोड़ की ऊँचाई को चौथाई इंच रखना है तो यह नियम बना दिया जा सकता है कि जोड़ाई के कार्य में प्रत्येक चार रद्दों की ऊँचाई ठीक १२ इंच रहे। [श्री० कृ०]

ईंट का भट्ठा

ईंटों को भट्ठे में पकाया जाता है। भट्ठे तीन प्रकार के होते हैं:

(१) खुले भट्ठे, जैसे पजावे,
(२) अर्ध अनवरत,
(३) अनवरत (लगातार)।

इनमें से अंतिम के कई विभाग किए जा सकते हैं, जैसे घेरेदार, आयताकार, ऊपर हवा खींचनेवाला, नीचे हवा खींचनेवाला, इत्यादि।

खुला भट्ठा
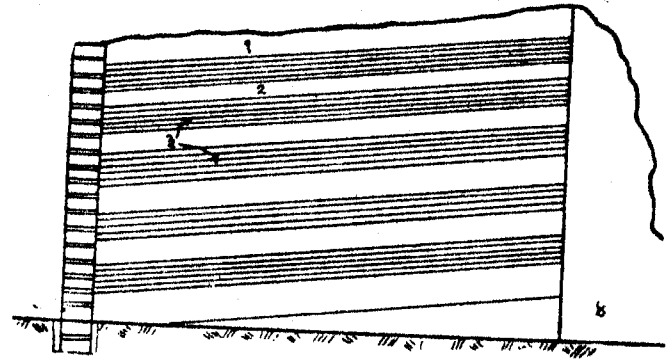
१-२. जलावन; ३. कच्ची ईंटें; ४. ढालू फर्श।

खुला भट्ठा—गीली मिट्टी से बनाई, सुखाई, फिर ताप का पूर्ण असर आने के लिये एक दूसरे से थोड़ी थोड़ी दूरी पर इकट्ठी की गई कच्ची ईंटों के समूह को ढेर (अंग्रेजी में क्लैंप) कहते हैं। अच्छी रीति से बने ढेर में एक आयताकार या समलंब चतुर्भुजाकार फर्श होता है जो लंबाई के अनुदिश ढालू होता है। निचला सिरा भूमि को एक फुट गहरा खोदकर बनाया जाता है और ऊपरी सिरा जमीन को पाटकर ऊँचा कर दिया जाता है। ढाल ६ में १ की होती है। फर्श पर दो फुट मोटी तह किसी तुरंत आग पकड़ लेनेवाले पदार्थ की, यथा सूखी घास, फूस, लीद, गोबर, महुए की सीठी आदि की, रख दी जाती है। इसके ऊपरी सिरे पर कच्ची सुखाई ईंटों की पाँच छः कतारें रख दी जाती हैं। फिर ईंटों और जलावन को एक के बाद एक करके रखा जाता है। ज्यों ज्यों ढेर ऊँचा होता जाता है, जलावन के स्तर की मोटाई धीरे धीरे कम कर दी जाती है। सब कुछ भर जाने के बाद ढेर पर गीली मिट्टी छोप दी जाती है जिससे भीतर की उष्मा यथासंभव भीतर ही रहे। ढेर को पूर्णतया जलने में छः से लेकर आठ सप्ताह तक लग जाते हैं और इसके ठंढा होने में भी इतना ही समय लगता है। इस रीति में जलावन पर्याप्त कम लगता है; परंतु ईंटें बढ़िया मेल की नहीं बन पातीं; अतः यह ढंग अंत में लाभप्रद नहीं सिद्ध होता।

अर्ध अनवरत भट्ठा—अर्ध अनवरत भट्ठे चक्राकार अथवा आयताकार बनाए जाते हैं और वे अंशतः या पूर्णतः भूमि के ऊपर रह सकते हैं।

अनवरत भट्ठा—अनुविक्षेप (प्लैन)

१-१२. विविध कक्ष; क. चिमनी; ख. ईंट

जलावन के लिये लकड़ी (चाहे सूखी चाहे गीली), बड़े इंजनों की भट्ठियों से झरा अधजला पत्थर का कोयला या लकड़ी का कोयला प्रयुक्त हो सकता है। दोनों ओर मुँह बना रहता है जो निकालने और भरने के काम आता है। आग प्रज्वलित करने के बाद इन मुँहों को पहले रोड़ों और ढोंकों से और बाद में गीली मिट्टी से भली भाँति ढक दिया जाता है जिसमें भीतर की गरमी भीतर ही रहे।

अनवरत भट्ठे—अनवरत भट्ठे कई प्रकार के होते हैं। कुछ भूमि के नीचे बनाए जाते हैं और वे खाई भट्ठे (ट्रेंच किल्न) कहलाते हैं। कुछ अंशतः भूमि के ऊपर और अंशतः नीचे बनाए जाते हैं। खाई भट्ठों में अगल बगल दीवार बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। 'बुल' का भट्ठा इसी प्रकार का भट्ठा है।
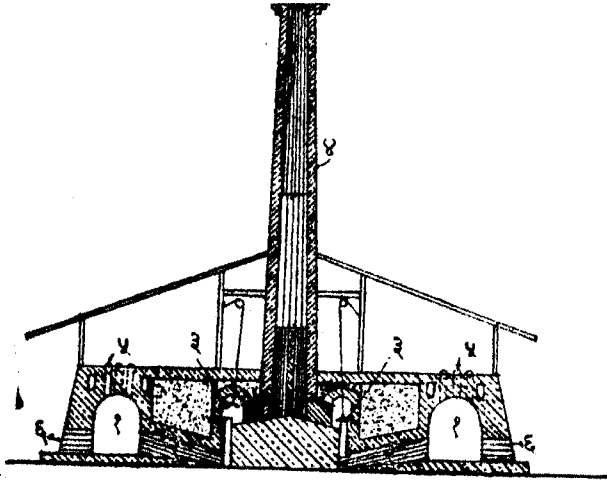
अनवरत भट्ठा—ऊर्ध्वाधर काट (सेक्शन)

१. वलयाकार कोष्ठ जिनमें ईंटें रखी और पकाई जाती हैं; २. गसों के लिये मार्ग जो कोष्ठों को चिमनी से मिलाते हैं; ३. लोहे का मंदक (डैंपर); ४. चिमनी; ५. कोयला झोंकने के छिद्र; ६. कोष्ठों के द्वार।

बुल का भट्ठा बड़े परिमाण में लगातार ईंट उत्पादन के लिये उपयुक्त है। इसमें आग का घेरा बराबर बढ़ता रहता है। जसे जसे आग आगे बढ़ती है, वैसे वैसे भट्ठे के विभिन्न कक्ष तप्त होते हैं। प्रत्येक कक्ष में निकालने और भरने के लिये एक एक द्वार रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कक्ष में एक धुआँकस (फ़्लू) होता है जिससे हवा घुसती है। एक अन्य धुआँकस वायु की निकासी के लिय होता है जो भीतर ही भीतर चलकर एक केंद्रीय चिमनी से जा मिलता है। वायु ग्रहण करनेवाल धुआँकस में एक मंदक (डैंपर) होता है जिससे वायुप्रवाह मनोनुकूल नियंत्रित हो सकता है। निकासीवाले धुआँकस में भी मंदक लगा रहता है जिसे इच्छानुसार खोला या बंद किया जा सकता है। कक्षों का क्रम ऐसा रहता है कि ठंढे हो रहे अथवा गरम कक्षों से तप्त हवाएँ दूसरे कक्षों में भेजी जा सकें। इस प्रकार चिमनी द्वारा निकल जाने के पहले गरम हवा की आँच का उपयोग ईंटों को सुखाने, गरम करने अथवा आंशिक रूप में पकाने के लिये किया जा सकता है। हर समय प्रत्येक कक्ष में एक न एक क्रिया होती रहती है, जिससे कच्ची ईंटों के बोझे जाने से लेकर पकी ईंटों के निकालने तक के कार्य का क्रम विधिवत् बराबर चालू रहता है।

[श्री० कृ०]

ईक्विक चिली में स्थित एक नगर एवं बंदरगाह है। यह तारापका प्रदेश की राजधानी है जो वालपेरैंजो से ८२० मील उत्तर, २०° १२' १५' अक्षांश दक्षिण तथा ७०° ११' १५' देशांतर पश्चिम पर स्थित है। यहाँ की जनसंख्या सन् १९५२ ई० में ३९,५७६ थी। यहाँ समुद्रतट उत्तर-दक्षिण दिशा में है तथा नगर एक सँकरे समतल मैदान पर, समुद्र एवं खड़ी पहाड़ी के बीच बसा हुआ है। नगर की ओर उन्मुख एक नीचा बंजर द्वीप, सेरानो या ईक्विक है, जो पत्थर के १,५०० फुट लंबे पुल द्वारा नगर से संबद्ध है। यह द्वीप दक्षिण से आनेवाले झंझावातों से बंदरगाह की रक्षा करता है। नगर आयताकार है और सड़कें नीची हैं। व्यापारिक दृष्टि से ईक्विक बहुत महत्वपूर्ण है। यहाँ से आयोडीन तथा सोडियम नाइट्रेट निर्यात किया जाता है। व्यापारिक दृष्टि से इस बंदरगाह का चिली में दूसरा स्थान है। यह नगर सन् १८३० ई० तक पेरू के मछुओं की बस्ती था, किंतु चिली द्वारा सन् १८७७ ई० में अधिकृत कर लिया गया।

[श्या० सुं० श०]

ईख ऊख या गन्ना वस्तुतः घास की जाति का पौधा है जो साधारणतः दस बारह फुट लंबा होता है, परंतु ४२ फुट तक लंबे पौधे भी देखे गए हैं। ईख में बाँस की तरह गाँठें होती हैं। प्रत्येक गाँठ पर खड्ग की भाँति दो दो पत्तियाँ होती हैं। मोटाई में साधारण ईख लगभग एक इंच व्यास की होती है, परंतु तीन इंच व्यास तक की ईख भी उगाई गई है। तने में सफद गूदा रहता है, जो मीठे रस से भरा रहता है। तने को पेरकर रस निकाला जाता है, जिससे गुड़ और चीनी बनती है। तना बाहर से हरा, पीला, बैंगनी या लाल होता है। ईख की जन्मभूमि दक्षिण-पूर्वी एशिया कही जाती है। भारत के प्राचीन ग्रंथों में भी ईख का वर्णन 'शर्करा' नाम से पाया जाता है। यों तो ईख का उत्पादन भारत के प्रायः सभी भागों में होता है, परंतु उत्तर प्रदेश, बिहार, पूर्वी पंजाब, बंबई और मद्रास में ईख की खेती अधिक मात्रा में की जाती है। उत्तर प्रदेश में तो ईख की फसल अधिकांश किसानों की आय का मुख्य साधन है। यहाँ प्रति वर्ष लगभग ३० लाख एकड़ भूमि में ईख बोई जाती है जो संपूर्ण भारत के ईख के क्षेत्रफल का ६० प्रति शत है। इसी कारण यहाँ लगभग १२ लाख टन गुड़ और खाँड़ के अतिरिक्त १० लाख टन चीनी बनाई जाती है, जो समस्त भारत में बनाई जानवाली चीनी का लगभग ५० प्रति शत है।

ईख की फसल बोआई के १०-१२ महीने पश्चात् तैयार होती है। बोने के लिय ईख के टुकड़ों या पैंड़ों का ही बीज के रूप में प्रयोग किया जाता है। ऐसे प्रत्येक पैंड़े पर तीन तीन कलियाँ या आँखें होनी चाहिए। प्रति एकड़ खेत की बोआई के लिये १४-१५ हजार स्वस्थ एवं नीरोग तीन तीन आँखवाले पैंड़ों की आवश्यकता होती है, जो ४० से ६० मन तक ईख से प्राप्त किए जा सकते हैं।

ईख की उन्नतिशील जातियों को ही बोना चाहिए, क्योंकि देशी और अन्य पुरानी जातियों की अपेक्षा प्रायः उनकी उपज अधिक होती है। उनमें चीनी या गुड़ का पड़ता अधिक बैठता है और रोग भी कम लगते हैं। उत्तर प्रदेश में विभिन्न क्षेत्रों में बोई जानेवाली ईख की मुख्य मुख्य जातियाँ को० ३१२, को० ४२१, को० शा० २४५, को० शा० ३२१, को० ४५३, को० ३५६, को० ३१३, को० शा० १०९ और को० ५२७ हैं। इनमें से को० ३१२, को० ४२१, को० शा० ३२१ और को० ४५३ जातियों की खेती अब बंद कराई जा रही है, क्योंकि इनमें अब अनेक प्रकार के रोग एवं अवगुण पैदा होने लगे हैं। इनके स्थान पर कुछ नई नई जातियाँ, जैसे को० शा० ५१०, को० शा० ४४३, को० शा० ४१६, को० ८५६, को० ८४६ और को० ६५१ इत्यादि, जो पुरानी जातियों की अपेक्षा उत्तम सिद्ध हो चुकी हैं, गत ४-५ वर्षों में संचालक, ईख अनुसंधान, शाहजहाँपुर द्वारा प्रचलित की गई हैं।

ईख के लिये यों तो दोमट या दोमट मटियार भूमि सबसे उत्तम होती है, परंतु कुछ जातियाँ हलकी दोमट में और कुछ पानी रुकनेवाली नीची भूमि में भी सफलता से उगाई जा सकती हैं। बोआई अधिकतर फरवरी-मार्च में की जाती है, परंतु पिछले ५-६ वर्षों से सितंबर-अक्टूबर की बोआई की प्रथा बढ़ती जा रही है। इस ऋतु में बोई हुई ईख की उपज १०-१५ प्रति शत अधिक होती है और उसमें चीनी या गुड़ का पड़ता लगभग ०·५ प्रति शत अधिक बैठता है।

साधारणतः ईख को लगभग १२० पाउंड प्रति एकड़ नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है जो आधा गोबर की खाद, कंपोस्ट या हरी खाद और आधा रासायनिक खाद के रूप में देना उचित होता है। फास्फोरस-वाली खादें इस प्रदेश के कुछ ही क्षेत्रों में उपयोगी सिद्ध हुई हैं। पूर्वोक्त

खादों को बोआई के पूर्व ५० से ७५ पाउंड प्रति एकड़ फास्फोरिक ऐसिड के साथ देना चाहिए, परंतु ईख की फसल बोने के पूर्व हरी खाद की फसल में इसे डालने से ईख की उपज पर प्रायः सभी क्षेत्रों में अच्छा प्रभाव पड़ता है।

उत्तर प्रदेश में ईख की फसल के लिये तीन चार सिंचाइयाँ अनिवार्य होती हैं। सितंबर अक्टूबर में बोई हुई ईख को जनवरी में एक बार अधिक सींचने की आवश्यकता होती है। तराई और भाट (कछार) जमीनों में केवल एक दो सिंचाई से ही काम चल जाता है। फसल बोने के एक सप्ताह के भीतर एक हलकी गोड़ाई और गर्मियों में प्रत्येक सिंचाई के पश्चात् कम से कम एक गोड़ाई करने से फसल का जमाव और उत्पादन अच्छा होता है। वर्षा ऋतु में आवश्यकतानुसार ईख पर मिट्टी चढ़ाना और मेड़ों को बाँधना चाहिए, जिससे अच्छी बढ़ी हुई फसल के गिरने की आशंका कम रहे।

ईख में 'काना' और 'उकठा' रोग विशेष हानिकारक होते हैं। नीरोग और स्वस्थ बीज बोने से और चार सालवाला या कम से कम तीन सालवाला फसल चक्र अपनाने से न केवल फसलें बीमारियों से सुरक्षित रहती हैं बल्कि भूमि की उर्वरा शक्ति भी नष्ट नहीं होती और बराबर अच्छी उपज मिलती रहती है। कँसुआ (कीड़े) और दीमकों से फसलों को बचाने के लिये २० प्रति शत 'गामा-बी० एच० सी०' के घोल को ४ पाउंड प्रति एकड़ के हिसाब से १५० गैलन पानी में मिलाकर बोआई के समय पेड़ों पर छिड़कना चाहिए। इसी प्रकार फसल का जमाव सुधारने के लिये एरीटान (तीन प्रति शत) के ०·५ प्रति शत घोल (एक पाउंड एरीटान, २० गैलन पानी) में बोआई के पूर्व पेड़ों को डुबा लेना चाहिए।

फसल की कटाई का काम प्रायः अक्टूबर नवंबर से मार्च अप्रैल तक चलता है। बोई हुई फसल काटने के बाद उसकी पेड़ी की फसल एक साल या अधिक से अधिक दो फसल तक लेने से किसानों को विशेष लाभ होता है। परंतु पेड़ी में खाद, सिंचाई, गोड़ाई और अन्य देखरेख उसी प्रकार करनी चाहिए जैसे नई बोई ईख में।

उत्तर प्रदेश में ईख की खेती का खर्च लगभग ५००-६०० रुपए और उपज ४५० मन प्रति एकड़ होती है। ईख का भारत सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य एक रुपया सात आना प्रति मन है। अनुमान किया जाता है कि इस प्रदेश में कुल ७० करोड़ मन ईख हर साल पैदा की जाती है जिसमें से लगभग ५१ प्रति शत उपज गुड़ बनाने के काम में, ३१ प्रति शत चीनी बनाने में और शेष १८ प्रति शत खँडसारी के काम में, चूसने के काम में और बोवाई में प्रयुक्त होती है।

चीनी मिलों में ईख के रस से चीनी के अतिरिक्त टाफी, लेमन ड्राप और शुगरक्यूब इत्यादि बनाए जाते हैं और शीरे से शराब, स्पिरिट और पेट्रोल में मिलाने के लिये ऐलकोहल आदि। ईख की खोई से कागज और दफ्ती बनती है। शीरे के साथ खोई को एक विशेष ढंग से मिलाकर पशुओं के लिये चारा भी तैयार किया जाने लगा है। जिन मिलों में रस की सफाई के लिये गंधक का प्रयोग होता है उनके गाढ़े रस को छानने से बची सिट्ठी (प्रेस मड) बहुमूल्य खाद होती है जिसे ईख की फसल में डालने से उपज में विशेष वृद्धि होती है। [ज० गो० श्री०]

ईजियन सागर

यह भूमध्य सागर की एक भुजा है जिसके पश्चिम में यूनान और पूर्व में टर्की हैं। यह डार्डेनेल्स और बॉसपोरस जलसंयोजकों द्वारा मारमारा और काला सागर से जुड़ा है। 'ईजियन' शब्द का संबंध ईजी नगर से अथवा ईजिया (अमेजन की रानी) से, अथवा ईजियस (थीसियस के पिता) से बताया गया है। संरचना की दृष्टि से यह सागर एक प्राचीन ध्वस्त स्थलखंड है जो लगभग पूर्णतया निमज्जित हो गया है। इसके चारों ओर नवीन भंजित पर्वत हैं जो स्वयं थोड़ी मात्रा में निमज्जित हैं। इन दशाओं के फलस्वरूप यह सागर द्वीपों से भरा है और इसमें यथाक्रम गहरी और उथली द्रोणियाँ हैं। यहाँ कुछ ज्वालामुखी द्वीप भी स्थित हैं। द्वीपों में गेहूँ, अंगूर, अंजीर, मुनक्का, गोंद, शहद, मोम, कपास और रेशम का उत्पादन होता है।

[रा० ना० मा०]

ईजियाई सभ्यता

जो सभ्यता १२वीं सदी ई० पू० से पहले दोरियाई ग्रीकों के ग्रीस पर आक्रमण के पूर्व क्रीत और निकटवर्ती द्वीपों, ग्रीस की सागरवर्ती भूमि, उसके मिकीनी-केंद्रीय प्रांतों तथा इतिहासप्रसिद्ध त्राय में विकसित हुई और फैली उसे पुराविदों ने 'ईजियाई सभ्यता' नाम दिया है। पुरातात्विक अनुसंधानों और खुदाइयों से क्रीत, मिकीनी और लघुएशिया के त्राय नगर में जिन खंडहरों के दर्शन हुए हैं वे मिस्री, सुमेरी और सैंधव सभ्यता के समकालीन माने जाते हैं। वहाँ की सभ्यता उन्हीं सभ्यताओं की भाँति कांस्ययुगीन थी, लौहयुग की पूर्ववर्ती। इन सभी स्थानों में प्रासादों और भवनों के खंडहर मिले हैं। क्रीतीय सभ्यता का प्राचीनतम केंद्र और उस राज्य की राजधानी ग्रीस के दक्षिण के उस द्वीप के उत्तरी तट पर बसा क्नोसस था। क्नोसस के राजमहल के भग्नावशेष से प्रगट है कि उसमें समृद्धि का निवास था और उसमें भव्य भित्तिचित्रों से अलंकृत बड़े बड़े हाल और ऊपरी मंजिलों में जाने के लिये चक्करदार सोपानमार्ग (जीने) थे। स्नानागारों और अन्य कमरों में नल लगे थे जिनमें निरंतर जल प्रवाहित होता रहता था। यह सभ्यता अपने मिनोस उपाधिधारी राजाओं के नाम से 'मिनोई' या मिकीनी नगर से संबंधित होने के कारण मिकीनी भी कहलाती है।

ईजियाई सभ्यता का आरंभ ई० पू० तृतीय सहस्राब्दी के आरंभ से संभवतः कुछ पूर्व ही हो चुका था और उसका अंत ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य के लगभग हुआ। वैसे तो उस सभ्यता का आधार स्थानीय प्रस्तरयुगीन सभ्यता है, पर पुराविदों का अनुमान है कि उसके निर्माताओं का रक्त और भाषा का संबंध एक ओर तो पश्चिमी बास्कों से था, दूसरी ओर बर्बरों और प्राचीन मिस्रियों से। उनके मिस्रियों सरीखे कटिवस्त्र तथा शेष भाग की नग्नता से पंडितों का अनुमान है कि वे संभवतः मिस्र से ही जाकर क्रीत द्वीप में बस गए थे। चित्राक्षरों में लिखे भ्रांत मिस्री नाविक के वृत्तांत से भी इस अनुमान की आंशिक पुष्टि होती है। क्रीत के उन प्राचीन निवासियों का उत्तर की यूरोपीय श्वेत जातियों से किसी प्रकार का रक्तसंबंध परिलक्षित नहीं होता। पहले ईजियाइयों ने शुद्ध धातु, ताँबे आदि का उपयोग किया, फिर मिश्रित धातु काँसे का, जो ताँबे और टिन के मिश्रण से बनता था। यह टिन भारत से जाता था जहाँ उसके संस्कृत नाम 'बंग' से बंगाल प्रसिद्ध हुआ। वहीं से यह मिश्रित काँसा बाबुल और मिस्र भी गया था। ईजियाई सभ्यता में लिपि का भी प्रयोग होता था पर भारतीय सैंधव लिपि की ही भाँति वह भी अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है। वह पढ़ ली जाय तो उस सभ्यता का और भी गहरा रहस्य खुले।

इस सभ्यता के प्रकाशन का श्रेय पुरातात्विक विज्ञान के जनक श्लीमान और सर आर्थर ईवांस को है। श्लीमान ने होमर के महाकाव्य 'ईलियद' में वर्णित त्राय को खोद निकाला और उसके बाद ईवांस ने क्नोसस को खोदकर मिनोस के राजमहलों का उद्धार किया। सर आर्थर ने ईजियाई सभ्यता को नौ स्तरों में विभाजित किया है—प्राचीन मिनोई युग, मध्य मिनोई युग, उत्तर मिनोई युग। फिर उनमें से प्रत्येक के अपने अपने तीन तीन—प्रथम, द्वितीय और तृतीय—युग हैं। मिस्री सभ्यता के स्तरों से मिलान करके इस सभ्यता के युगों की उनसे समसामयिकता और भी पुष्ट कर ली गई है। लगता है, १४०० ई० पू० के लगभग इस महान् और समृद्ध नागरिक सभ्यता का अंत हुआ जब एशियाई ग्रीकों के भीषण आक्रमणों और भूचाल ने मिलकर उसे मिटा दिया।

प्राचीन और मध्य मिनोई युगों में धातुओं का उपयोग प्रभूत मात्रा में हुआ। काँसे और ताँबे की ही कटारें और तलवारें बनती थीं। जीवन ऊँचे स्तर का था और बर्तन बनाने के लिये मिट्टी की जगह धातुएँ काम में लाई जाने लगी थीं। सोने और चाँदी के बर्तन भी खुदाइयों में मिले हैं। मिट्टी के बर्तन बनते अवश्य थे, परंतु उनकी काया अधिकतर धातु के बर्तनों की नकल में ही सिरजी जाती थी। मिट्टी के बर्तनों की कला स्वयं ऊँचे दर्जे की थी। ईजियाई द्वीपों में क्रीत ने सबसे पहले भांडों को चित्रित करना शुरू किया। दूसरी विशिष्ट प्रगति प्राचीन मिनोई युग के प्रथम चरण में हुई जिसमें विभिन्न प्रकार के भांड बनने लगे। सुराहियाँ टोंटीदार या चोंचनुमा बनने लगीं, फिर उनमें अत्यंत आकर्षक दमखम दिए

जाने लगे। फिर तो अगले प्राचीन युग में घुमावदार भांडों की बाढ़ सी आ गई।

यही युग त्राय नगर की दूसरी बस्ती का था, द्वितीय त्राय का। श्लीमान ने छः छः त्राय एक के नीचे एक लघुएशिया में खोद निकाले हैं। प्राचीन मिनोई सभ्यता के तृतीय चरण के समानांतर प्रमाण त्राय की खुदाइयों में मिले हैं। वहाँ भी बहुमूल्य धातुओं की बनी वस्तुएँ—सोने की पिन और जंजीरें, सोने चाँदी के बर्तन मिले हैं जिससे उन्हें पुराविदों ने 'प्रियम का खजाना' नाम उचित ही दिया है। वहाँ के बर्तनों में प्रधान काले रंग के और उलूकशीर्ष हैं। इसी प्रकार क्रीत और त्राय के नीचे के द्वीपों में भी उसी सभ्यता के बिखरे हुए चिह्न, कलात्मक बर्तन आदि मिले हैं। वहाँ भी शवसमाधियों की शैली प्रधान सभ्यता के अनुरूप है। क्रीती और इन द्वीपों की शवसमाधियों में दफनाई मूर्तियों की शैली प्रायः वही है जो मिस्री कब्रों की मूर्तियों की है।

प्राचीन मिनोई युग के अंतिम चरण की विशेषता पत्थर की कोरकर बनाई वस्तुओं में है। पत्थर में कढ़े हुए फूल और समुद्री जीवों के अभिप्राय तब की कला में विशेष प्रयुक्त हुए। इनके निर्माण में प्रधानतः संगमरमर या चूना मिट्टी का उपयोग हुआ है। जहाँ तक धातु के बर्तनों का प्रश्न है, लगता है, त्राय के सुनारों ने बाबुली धातुकर्म की नकल की थी। वही डिजाइनें बाद में पत्थर और मिट्टी के बर्तनों पर बनीं। मिस्र ने भी इसी शैली का कालांतर में उपयोग किया। बर्तनों का इतना आकर्षक निर्माण उस प्राचीन काल के दो आविष्कारों का विस्मयकारक परिणाम था। भांड कला के इतिहास में निश्चय उन आविष्कारों का असाधारण महत्व है। ये थे कुम्हार के आवाँ (भट्ठी) और चक्के या पहिए के आविष्कार। संभवतः इसका आविष्कार पूरब में हुआ, एलाम में, या भारत की सिंधु घाटी में, या दोनों में, शायद ४००० ई० पू० से भी पहले। क्रीत और त्राय के जीवन में संभवतः उनका आयात प्राचीन मिनोई युग के अंतिम चरण में हुआ। चित्रलिपि से कुछ मिलती लिखावट क्रीत के ठीकरों पर खुदी हुई है। गीली मिट्टी में लिखावट प्रायः वैसे ही संपन्न हुई है जैसे बाबुल और सुमेर में हुआ करती थी, परंतु उनके तौर तेवर मिस्री लिखावट से मिलते जुलते हैं। अभी तक यह लिखावट पढ़ी नहीं जा सकी। वास्तु का आरंभ हो गया था। क्नोसस के महलों के पूर्ववर्ती पत्थर के मकानों के खंडहर उसी युग के हैं।

मिनोस राजाओं का राज्य—मिनोई राजाओं की राजधानी क्रीत के उत्तरी तट पर बसे क्नोसस में थी। मध्य मिनोई युग में मिनोस राजाओं ने प्रायः समूचे क्रीत और निकटवर्ती द्वीपों पर अधिकार कर लिया। फाइस्तस और आगिया त्रियादा के महल भी क्नोसस के राजाओं के ही बनवाए माने जाते हैं। लोकपरंपराओं और अनुश्रुतियों में फाइस्तस का वर्णन उपनिवेश के रूप में हुआ है।

क्नोसस के राजप्रासाद का निर्माण नवप्रस्तरयुगीन भग्नावशेषों के ऊपर हुआ है। क्नोसस के प्रासादों के भग्नावशेष क्रीत के उत्तरी तट पर कांदिया के आधुनिक नगर के निकट ही हैं। वहाँ के पश्चिमी प्रवेशद्वार की विशालता और फाइस्तस के गैलरीनुमा रंगप्रांगण, जो पत्थर के बने हैं, वास्तुकला की प्रगति में उस प्राचीन काल में एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। क्नोसस के उत्तरी और फाइस्तस के दक्षिणी राजमहल प्रायः एक ही समय बने थे। क्रीत के दक्षिणी तट पर फाइस्तस के महलों के खंडहर हैं और उनके पास ही आगिया त्रियादा के राजप्रासाद के भग्नावशेष भी हैं, यद्यपि वे बने उत्तर-मिनोई-युग में थे।

लगता है, क्नोसस के महल युगों तक बनते और आवश्यकतानुसार बदलते चले आए थे। राजाओं की बढ़ती हुई समृद्धि, कला की प्रगति और सुरुचि के परिष्कार के अनुकूल समय समय से उनमें परिवर्तन होते गए। इस प्रकार के परिवर्तन कुछ मध्ययुग में भी हुए थे, परंतु पिछले युग में तो इन महलों के रूप ही बदल डाले गए। जिस रूप में उनके खंडहर आज पुराविदों के प्रयत्न से प्रस्तुत हुए हैं उनसे प्रगट है कि इन महलों में असाधारण बड़े बड़े हाल थे, घुमावदार सोपानमार्ग थे, ढलान पर उतरनेवाले लंबे कक्ष थे, और बाहरी प्रासाद से संलग्न भवन थे—और फिर दूर, क्रीती सभ्यता का नागरिक विस्तार पश्चिम के पर्वतों के ऊपर तक चला गया था। प्रधान राजप्रासाद अपनी उच्चस्तरीय जीवनसुविधाओं के साथ अत्यंत आधुनिक लगता है। उन सुविधाओं का एक प्रधान अंग उनकी गंदे जल की नालियाँ हैं। मिस्री फराऊनों और पेरिक्लीजकालीन एथेंस के कोई मकान उसके जोड़ के न थे। हाँ, यदि प्रासादनिर्माण की शालीनता में इसका कोई पराभव कर सकता है तो वे निनेवे के असुरबनिपाल के सचित्र प्रासाद हैं। फिर भी दोनों में काफी अंतर है। जहाँ असुरबनिपाल के महल सूने हैं और ठंढे तथा जाड़ों के लिये असुविधाजनक लगते हैं वहाँ मिनोई राजप्रासाद गरम और आरामदेह हैं और उनकी चित्रित दीवारों से लगता है कि उनमें भरापूरा जीवन लहरें मारता था। उनके भित्तिचित्रों से प्रगट है कि क्नोसस के महलों के भीतर राजा का दरबार भरा रहता था, और उसमें नर और नारी परिचारकों की संख्या बड़ी थी। राजा और उसके दरबारी सभी प्रसन्न और जीवन को निर्बंध भोगते हुए चित्रित हुए हैं। चित्रों की आकृतियाँ अनेक बार कठोर और निश्छंद रूढ़िगत सी हो गई हैं, कुछ भोंडी भी हैं, परंतु उनकी रेखाएँ बड़ी सबल हैं। उनके खाके निश्चय असाधारण कलावंतों ने खींचे होंगे। भित्तिचित्रों से प्रमाणित है कि दरबार के आमोदप्रमोदों में नारियाँ उसी स्वच्छंदता से भाग लेती थीं जैसे पुरुष। नर और नारी दोनों समान अधिकार से सामाजिक जीवन में भाग लेते थे, और प्रतीत तो ऐसा होता है कि राजमहल और समाज के जीवन में नारी का ही प्रभुत्व अधिक था। इसमें संदेह नहीं कि उस प्राचीन जगत् में क्रीत की सभ्यता ने जितने अधिकार नारी को दिए, पुरुष का समवर्ती जो स्थान उसे दिया वह तब के जीवन में कहीं और संभव न था।

भित्तिचित्रों में नारी की त्वचा श्वेत और पुरुष की रक्तिम चित्रित हुई है, प्रायः मिस्री रीति के अनुसार। दरबारी दाढ़ी मूँछ मुड़ाकर चेहरे साफ रखते थे और केश लंबे, जिन्हें वे नारियों की ही भाँति वेणियों में सजा लेते थे। अनेक बार तो साँड़ों की लड़ाई देखते लड़कों में लड़कियों का पहचानना कठिन हो जाता है और यदि उनकी त्वचा रूढ़िगत रंगों से स्पष्ट न कर दी गई होती तो दोनों का दर्शन नितांत समान होता। नारियों में परदा न था, यह तो उस काल के चित्रित दृश्यों से अनुमित हो ही जाता है, वैसे भी खिड़कियों में बिना घूँघट के बैठी नारियों की आकृतियों से उनकी इस अनवगुंठित स्थिति का प्रकाश होता है। नारियाँ गर्दन और बाहुओं को निरावृत रखती थीं, हारों से ढक लेती थीं, वस्त्र कटि पर कस लेती थीं, और नीचे अपने घाँघरे की चुनटें आकर्षक रूप से पैरों पर गिरा लेती थीं। पिछले युग के चित्रों में नारियाँ, कम से कम राजमहल की, मस्तक पर किरीट भी पहने हुए हैं। पुरुषों का वेश उनसे भिन्न था, अत्यंत साधारण। वे कटि से नीचे जाँघिया पहनते थे, अनेक बार मिस्री चित्रों के पुरुषों की घुटनों तक पहुँचनेवाली तहमत की तरह, किंतु रंगों के प्रयोग से चमत्कृत। मिस्री पुरुषों की भाँति उनके शरीर का ऊर्ध्वार्ध नंगा रहता था, और जब तब वे कोनदार टोपी पहनते थे। पुरुषों के केश वेणीबद्ध या खुले ही कमर तक लटकते थे या जब तब वे उनमें गाँठ लगा सिर के ऊपर बाँध लेते थे। क्नोसस के पुरुष भी पिछले युग के खत्तियों की भाँति पैरों में ऊँची सैंडिल या बूट पहनते थे। मिनोई सभ्यता की नरनारियों का रंगरूप प्रायः आज के इटलीवालों का सा था। उनके नेत्र और केश काले थे, नारियों का रंग संभवतः धूमिलश्वेत और पुरुषों का चटख ताम्र।

जीवन सुखी, आमोदमय और प्रसन्न था। लोग नर-पशु-युद्ध देखते और उनमें भाग लेते थे। परंतु उनके पास संभवतः रक्षा के साधन कम थे, कम से कम कवच खुदाइयों में नहीं मिला है। तलवार का उपयोग वे निश्चय करते थे।

आमोद के जीवन में स्वाभाविक ही धर्म की कठोर रूढ़ियाँ समाज को आतंकित नहीं कर पातीं और मिनोई समाज में भी उनका अभाव था। परंतु उनके देवता थे, यद्यपि उनको स्पष्टतः पहचान पाना कठिन है। फिर भी यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि लोगों का विश्वास वृक्षों, चट्टानों, नदियों आदि से संबंधित देवताओं में था और कम से कम एक विशिष्ट सर्प-देवी की मातृपूजा वे अवश्य करते थे। इस प्रकार की मातृदेवी की आकृतियाँ जो सर्प धारण करती हैं वहाँ चित्रित मिली हैं।

महलों के भित्तिचित्रों से तो प्रगट ही है कि चित्रकला विशेष रूप से कलावंतों द्वारा विकसित हुई थी, और उनमें रंगों का प्राधान्य एक तक्नीक का आभास भी देता है। पत्थर को कोरकर मूर्ति बनाने अथवा

उसकी पृष्ठभूमि से उभारकर दृश्य लिखने की कला ने निःसंदेह एशियाई देशों के अनुपात में प्रश्रय नहीं पाया था, और उनकी उपलब्धि अत्यंत न्यून संख्या में हुई है। आगिया त्रियादा से मिले कुछ उत्कीर्ण दृश्य निश्चय ऐसे हैं जिनकी प्रशंसा किए बिना आज का कलापारखी भी न रह सकेगा।

अंतिम युग—पिछले युगों में ईजियाई सभ्यता के निर्माताओं ने राजनीतिक दृष्टि से अनेक सफल प्रयत्न किए। आसपास के समुद्रों और द्वीपों पर उन्होंने अपना साम्राज्य फैलाया और प्रमाणतः उनका वह साम्राज्य ग्रीस और लघुएशिया (अनातोलिया) पर भी फैला जहाँ उन्होंने मिकीनी, त्राय आदि नगरों के चतुर्दिक् अपने उपनिवेश बनाए। परंतु संभवतः साम्राज्यनिर्माण उनके बूते का न था और उन्होंने उस प्रयत्न में अपने आपको ही नष्ट कर दिया। यह सही है कि ग्रीस के स्थल भाग पर उनका अधिकार हो जाने से उनकी आय बढ़ गई पर उपनिवेशों की सँभाल स्वयं बड़े श्रम का कार्य था जिसका निर्वाह कर सकना उनके लिये संभव न हुआ। परिणामतः जब बाहर से आक्रमणकारी आए तब आमोदप्रिय मिनोई नागरिक उनकी चोटों का सफल उत्तर न दे सके और उन्हें आत्मसमर्पण करना पड़ा। परंतु विजेताओं को यह निष्क्रिय आत्मसमर्पण स्वीकार न था और उन्होंने उसे नष्ट करके ही दम लिया।

यह कहना कठिन है कि ये आक्रमणकारी कौन थे। इस संबंध में विद्वानों के अनेक मत हैं। कुछ उन्हें मूल ग्रीक मानते हैं, कुछ एकियाई, कुछ दोरियाई, कुछ खत्ती, कुछ अनातोलिया के निवासी। परंतु प्रायः सभी, कम से कम आंशिक रूप में, यह मानते हैं कि आक्रांता आर्य जाति के थे और संभवतः उत्तर से आए थे जो अपने मिनोई शत्रुओं को नष्ट कर उनकी ही बस्तियों में बस गए। नाश के कार्य में वे प्रधानतः प्रवीण थे क्योंकि उन्होंने एक ईंट दूसरी ईंट पर न रहने दी। आक्रांता धारावत् एक के बाद एक आते गए और ग्रीक नगरों को ध्वस्त करते गए। फिर उन्होंने सागर लाँघ क्रीत के समृद्ध राजमहलों को लूटा जिनके ऐश्वर्य के कुछ प्रमाण उन्होंने उनके स्थलवर्ती उपनिवेशों में ही पा लिए थे। और उन्होंने वहाँ के आकर्षक जनप्रिय मुदित जीवन का अंत कर डाला। क्नोसस और फ़ाइस्तस के महलों में सदियों से समृद्धि संचित होती आई थी, रुचि की वस्तुएँ एकत्र होती आई थीं, उन सबको, आधार और आधेय के साथ, इन बर्बर आक्रांताओं ने अग्नि की लपटों में डाल भस्मसात् कर दिया। सहस्राब्दियों क्रीत की वह ईजियाई सभ्यता समाधिस्थ पड़ी रही, जब तक १९वीं सदी में आर्थर ईवांस ने खोदकर उसे जगा न दिया।

होमरिक काव्य—होमर ने अपने ईलियद में जिस त्राय के युद्ध की कथा अमर कर दी है वह त्राय उसी मिनोई-ईजियाई सभ्यता का एक उपनिवेश था, राजा प्रियम् की राजधानी, जिसके राजकुमार पेरिस ने ईजियाई सभ्यता को नष्ट करनेवाले एकियाई वीरों में प्रधान अगामेम्नन के भाई मेनेलाउ की भार्या हेलेन को हर लिया था। होमर की उस कथा का लघुएशिया के उस ईजियाई उपनिवेश त्राय की नगरी के विध्वंस से सीधा संबंध है और उसकी ओर संकेत कर देना यहाँ अनुचित न होगा। उस त्राय नगरी को श्लीमान ने खोद निकाला है, एक के ऊपर एक बसी त्राय की छः नगरियों के भग्नावशेषों को, जिनमें से कम से कम सबसे निचली दो होमर की कथा की त्राय नगरी से पूर्व के हैं।

महाकवि होमर स्वयं संभवतः ई० पू० ९वीं सदी में हुआ था। उसके समय में अनंत एकियाई वीरगाथाएँ जातियों और जनों में प्रचलित थीं जिनको एकत्र कर एकरूपीय शृंखला में अपने मधुर गेय भावस्रोत के सहारे होमर ने बाँधा। ये गाथाएँ कम से कम तीन चार सौ वर्ष पुरानी तो उसके समय तक हो ही चुकी थीं। इन्हीं गाथाओं में संभवतः एकियाई जातियों का ग्रीस के ईजियाई उपनिवेशों और स्वयं क्रीत के नगरों पर आक्रमण वर्णित था जिसका लाभ होमर को हुआ। कुछ आश्चर्य नहीं जो एकियाई जातियों ने ही ईजियाई सभ्यता का विनाश किया हो। परंतु एकियाई जातियों के बाद भी लगातार उत्तर से आनेवाली आर्य ग्रीक जातियों के आक्रमण ग्रीस पर होते रहे। उन जातियों में विशिष्ट दोरियाई जाति थी जिसने संभवतः १२वीं सदी ई० पू० में समूचे ग्रीस को लौहायुधों द्वारा जीत लिया और सभ्यता की उस प्राचीन भूमि पर, प्राचीन नगरों के भग्नावशेषों के आसपास, और उसी प्रकार क्वाँरी भूमि पर भी, उनके नगर बसे जो प्राचीन ग्रीस के नगरराज्यों के रूप में प्रसिद्ध हुए और जिन्होंने पेरिक्लीज़ और सुकरात के संसार का निर्माण किया।

सं० ग्रं०—एच० आर० हाल: दि एंशेंट हिस्ट्री ऑव् दि नियर ईस्ट मेथुएन ऐंड को०, लिमिटेड, लंदन, १९५०; भ० श० उपाध्याय: दि एंशेंट वर्ल्ड, हैदराबाद, १९५४; एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, खंड १, १९५६; श्लीमांस एक्स्कैवेशंस, १८९१; एच० आर० हाल: दि ओल्डेस्ट सिविलाइजेशन ऑव ग्रीस, १९०१; ईजियन आर्कियालोजी, १९१५। [भ० श० उ०]

ईतियस

ईतियस रोमन जनरल जो पश्चिमी रोमन साम्राज्य के पतन के साथ ५वीं सदी ई० के मध्य मरा। ईतियस रोमनेतर परिवार से आया था और धीरे धीरे अपनी योग्यता से जनरल बन गया। पहले वह गोथराज अलारिक के यहाँ अमानत बनकर रहा फिर हूणराज रूआस के यहाँ। उन्हीं का सैन्यसंगठन उनसे सीख उसने उन्हें परास्त भी किया। कुछ काल बाद उसे रोम के षड्यंत्रों का शिकार भी होना पड़ा, पर बाद में उसका दबदबा पश्चिमी साम्राज्य से खूब बढ़ा। उसने अपने सैन्य-संचालन का परिचय भी गाल में अत्तिला और उसके हूणों को हराकर दिया। पश्चिमी रोमन साम्राज्य एक जमाने तक बहुत कुछ ईतियस के ही बाहुबल और बुद्धि पर टिका रहा था। [ओं० ना० उ०]

ईथर

ईथर अथवा **ईथर** सलफ्यूरिकस (जिस नाम से यह चिकित्सा के क्षेत्र में विख्यात है) एथिल ऐलकोहल और सलफ्यूरिक अम्ल के योग से बनाया जाता है। एथिल और ईथर दोनों ही शब्द लैटिन ईथर अथवा यूनानी एथीन शब्दों से निकले हैं, जिनका अर्थ ज्वलन या जलाना है। यह कहना कठिन है कि सबसे पहले ईथर किसने तैयार किया। १३वीं शती का रसायनज्ञ, रेमंड लली, इसके बनाने की विधि से परिचित था। बाद को बेसिल वैलेंटाइन और वेलेरियस कॉर्डस के लेखों में भी ईथर और उसके गुणधर्मों का उल्लेख पाया जाता है। पर ईथर नाम इस द्रव्य को बाद में ही मिला। वस्तुतः १७३० ई० में जर्मनी के फ्रोबेन ने इसको ईथरियस स्पिरिटस नाम दिया।

रसायनशास्त्र की वर्तमान शब्दावली में उस वर्ग के समस्त यौगिकों को ईथर कहा जाता है जो पानी के अणु के दोनों हाइड्रोजनों को ऐलकिल मूलकों द्वारा प्रतिस्थापित करके बनते हैं। पानी के अणु का यदि एक ही हाइड्रोजन ऐलकिल मूलक द्वारा प्रतिस्थापित हो तो ऐलकोहल वर्ग के यौगिक बनते हैं—

हा—औ—हा	मू—औ—हा	मू—औ—मू
H–O–H	R–O–H	R–O–R
पानी	ऐलकोहल	ईथर
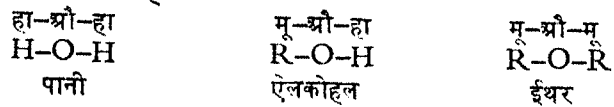
यहाँ मू (R) का अर्थ है कोई ऐलकिल मूलक, जैसे का हा$_{३}$ (CH_3), का$_{२}$हा$_{५}$ (C_2H_5), का$_{३}$हा$_{७}$ (C_3H_7) इत्यादि। इस रचना के अनुसार हम ईथरों को डाइ-ऐलकिल आक्साइड भी कह सकते हैं। यदि किसी ईथर के अणु में दोनों ऐलकिल मूलक एक ही हों, अर्थात् मू-मू (R–R), तो इन्हें सरल ईथर कहा जाता है, पर यदि दोनों मूलक भिन्न भिन्न हों तो इन्हें मिश्रित ईथर कहते हैं। कुछ सरल ईथरों के क्वथनांक नीचे दिए जाते हैं—

ईथर	सूत्र		क्वथनांक
द्विमेथिल ईथर	का हा$_{३}$—औ—का हा$_{३}$	$CH_3–O–CH_3$	–२३·६°
द्वि एथिल ईथर	का$_{२}$हा$_{५}$—औ—का$_{२}$हा$_{५}$	$C_2H_5–O–C_2H_5$	+३४·६°
द्विप्रोपिल ईथर	का$_{३}$हा$_{७}$—औ—का$_{३}$हा$_{७}$	$C_3H_7–O–C_3H_7$	+९०·७°
द्वि-नार्मल-ब्यूटिल ईथर	का$_{४}$हा$_{९}$—औ—का$_{४}$हा$_{९}$	$C_4H_9–O–C_4H_9$	+१४१°
द्वि-आइसो एमिल ईथर	का$_{५}$हा$_{११}$—औ—का$_{५}$हा$_{११}$	$C_5H_{11}–O–C_5H_{11}$	+६०-६१° (१०मि.मी.)

हमारा साधारण प्रचलित ईथर द्विएथिल ईथर है और यह एथिल ऐलकोहल और सलफ्यूरिक अम्ल के योग से तैयार किया जाता है। प्रसिद्ध रसायनज्ञ विलियमसन ने सर्वप्रथम उन सब अभिक्रियाओं का विस्तृत

अध्ययन किया जिनके द्वारा ऐलकोहल ईथर में परिणत हो जाता है। पहले तो ऐलकोहल सलफ्यूरिक अम्ल से संयुक्त होकर एथिल हाइड्रोजन सलफेट बनाता है—

का$_२$हा$_५$औ हा + हा. हा गं औ$_४$ → का$_२$हा$_५$हा.गं औ$_४$ + हा$_२$औ।

$$C_2H_5OH + H.HSO_4 \rightarrow C_2H_5.H.SO_4 + H_2O$$ ।
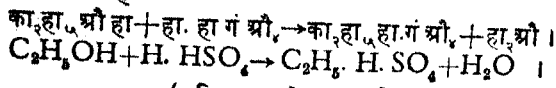
(एथिल हाइड्रोजन सलफेट)

यह एथिल हाइड्रोजन सलफेट ऐलकोहल के दूसरे अणु से संयुक्त होकर ईथर देता है और सलफ्यूरिक अम्ल फिर मुक्त हो जाता है—

का$_२$हा$_५$. हा. गं औ$_४$ + का$_२$हा$_५$औ हा → का$_२$हा$_५$. औ. का$_२$हा$_५$ + हा$_२$गं औ$_४$

$$C_2H_5.H.SO_4 + C_2H_5OH \rightarrow C_2H_5.O.C_2H_5 + H_2SO_4.$$
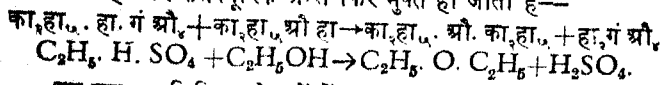
इस प्रकार अभिक्रिया दो पदों में समाप्त होती है। ऐलकोहल में जब सांद्र सलफ्यूरिक अम्ल मिलाया जाता है तो उष्मा उत्पन्न होती है और मिश्रण गरम हो उठता है। बाहर से गरम करके ताप और ऊँचा किया जाता है और ऐसा करने पर ईथर का आसवन आरंभ होता है। साथ ही साथ भभके में ऐलकोहल की धार सतत पड़ती जाती है। उष्मा इस प्रकार नियमित रखते हैं कि ताप १३०° सें० के निकट स्थायी बना रहे। जब सलफ्यूरिक अम्ल के आयतन का पाँच गुना ऐलकोहल क्रिया कर चुकता है, तो ताप १४१° सें० तक बढ़ा देते हैं। इस प्रकार जो ईथर मिलता है उसमें कुछ ऐलकोहल, कुछ सलफ्यूरिक अम्ल और कुछ पानी भी मिला होता है। कैलसियम क्लोराइड मिलाकर पानी अलग कर दिया जाता है और दो तीन बार पुनः आसवन करके शुद्ध ईथर प्राप्त कर लिया जाता है।

ईथर (द्विएथिल ईथर) निरंग, पारदर्शक, वाष्पशील द्रव है, इसका वर्तनांक भी काफी ऊँचा है। इसमें एक विशिष्ट गंध होती है। इसकी वाष्पों को अधिक देर तक सूँघा जाय तो निश्चेतना या मूर्च्छा आ जाती है। यदि शरीर के किसी अंग पर ईथर डाला जाय तो यह शीघ्र उड़ जाता है और ठंढक प्रतीत होती है। इसका स्वाद आरंभ में तो जलता सा पर बाद में ठंढा सा प्रतीत होता है। १५.५° सें० ताप पर इसका आपेक्षिक घनत्व ०.७२ है, अर्थात् यह पानी से हलका है। ३४.६° पर यह उबलता है, और हवा इसकी भाप से ढाई गुनी भारी होती है। यदि द्रव को –१२९° सें० तक ठंढा किया जाय तो यह जमकर हिम बन जाता है। ईथर पानी के साथ अंशतः मिश्र्य है और इसका १२ प्रति शत के लगभग पानी में घुल जाता है। ईथर में भी पानी थोड़ा विलेय है। ईथर बहुत अधिक ज्वलनशील है। इसकी वाष्प तत्काल आग पकड़ लेती है, अतः इसे आग से दूर रखना चाहिए। जब यह जलता है तो इसकी ज्वाला पीत-श्वेत रंग की होती है। भारतवर्ष की ग्रीष्मऋतु के ताप पर यह उड़ जाता है, अतः इसे शीत कमरों में रखना आवश्यक है।

वसा, मज्जा और तेलों के घोलने के लिये ईथर बहुत ही अच्छा विलायक है और इस गुण के कारण ईथर का उपयोग रसायनशालाओं में विलायक के रूप में बहुत किया जाता है। तेलहनों की खली को यदि ईथर द्वारा क्षुब्ध किया जाय, तो खली का समस्त तेल ईथर में घुल जायगा और आसवन करके ईथर और तेल अलग किए जा सकेंगे। ईथर में आयोडीन, गंधक, फासफरस, एवं स्ट्रिकनिन आदि ऐलकलायड भी विलेय हैं।

ईथर का उपयोग हिममिश्रण तैयार करने में भी किया जाता है। ठोस कार्बन डाइआक्साइड और ईथर के मिश्रण द्वारा अति नीचा ताप उपलब्ध हो सकता है।

यदि मनुष्य अथवा पशुओं को ईथर का सेवन कराया जाय, तो आरंभ में तो मादक उत्तेजना प्रतीत होती है पर थोड़ी देर में ही तंद्रा आने लगती है और शनैः शनैः चेतना सुप्त होने लगती है। इस गुण के कारण शल्य-चिकित्सा के प्रारंभिक युग में ईथर का उपयोग संवेदनाहारी या निश्चेतक के रूप में किया जाने लगा था। बाद में यह पता चला कि इस कार्य के लिये क्लोरोफार्म अधिक उपयोगी है। सन् १७९५ में डाक्टर पियरसन ने ईथर वाष्पों का प्रयोग दमा के रोगी के कष्टनिवारण में किया। ईथर द्वारा निश्चेतना उत्पन्न की जा सकती है, इस संबंध में ऐतिहासिक प्रयोग गॉडविन (१८२२), मिचेल (१८३२), जैक्सन (१८३३) एवं वुड औरबेच (१८३४) के हैं। डाक्टर मॉर्टन ने १८४६ में पहली बार ईथर का प्रयोग दाँत निकालने में किया। इस प्रयोग की सफलता का समाचार लंदन में १७ दिसंबर, १८४६ को पहुँचा और २२ दिसंबर को डा० रॉबिन्सन और लिस्टन ने शल्यकर्म में ईथर के प्रयोग को दोहराया। एक वर्ष तक शल्यकर्म में ईथर के उपयोग की धूम रही। इसके बाद ही एडिनबरा के सर जे० वाइ० सिंपसन ने क्लोरोफार्म में ईथर से भी अच्छे निश्चेतक गुणों का अनुभव किया। [स० प्र०]

ईथेलबर्ट इंग्लैंड के प्रसिद्ध प्राचीन लेखक बीड ने इयोरमेनृक के बेटे केंट के राजा ईथेलबर्ट का उल्लेख किया है। ईथेलबर्ट ५०७ ई० में गद्दी पर बैठा और संभवतः हंबर तक उसके राज्य का विस्तार था। इस अंग्रेज राजा का महत्व इंग्लैंड में इसके शासनकाल में ईसाई धर्म के प्रचार से है। पेरिस की राजकुमारी ईसाई बेर्ता से उसने विवाह किया और उसी के प्रभाव से ५९७ में जब ओगस्तीन थैनेट में उतरा तब राजा ने उसके प्रति सहिष्णुता का बर्ताव किया और उसका उपदेश सुनकर स्वयं ईसाई हो गया। एक दूसरा ईथेलबर्ट ईथेलबाल्ड का बेटा, पश्चिमी सैक्सनों का भी राजा था, जो केंट की गद्दी पर ८६५ ई० में बैठा। उसे भी एक जमाने तक डेनों से युद्ध करना पड़ा था। [ओं० ना० उ०]

ईथेलरेड प्रथम (८६६–७१) वेसेक्स और केंट का राजा, जिसका सारा जीवन डेनों से लड़ते बीता। उसके गद्दी पर बैठने के साल ही डेनों ने अपनी एक बड़ी सेना ईस्ट ऐंग्लिया में उतार दी और दो साल बाद जो स्वयं ईथेलरेड के साथ उनका युद्ध शुरू हुआ वह ८७१ ई० में उसके मरने पर भी खत्म नहीं हुआ। कभी हार कभी जीत उसके हिस्से पड़ी और अंत में संभवतः लड़ाई में खाई चोट से ही ईथेलरेड की जान गई। [ओं० ना० उ०]

ईथेलरेड द्वितीय (ल० ९६८–१०१६ ई०) इंग्लैंड का राजा, दूसरा लोकप्रिय नाम ईथेलरेड 'अप्रस्तुत' (दि अनरेडी), राजा एडगर का पुत्र। भाई एडवर्ड की हत्या के बाद ९७८ ई० में गद्दी पर बैठा। एक साल बाद ही डेनों के आक्रमण शुरू हो गए। ईथेलरेड उन्हें धन दे देकर लौटाता रहा। उनके आक्रमणों का फिर तो ताँता बँध गया और उन्होंने एग्ज़िटर और नारविच के आसपास का सारा जनपद रौंद डाला।

ईथेलरेड का राज्यकाल विशेषतः इन डेनी आक्रमणों के लिये ही विख्यात है। १०१३ से इन आक्रमणों ने राजनीतिक रूप लिया और उनकी मात्र लूट खसोट बंद हो गई। धीरे धीरे उत्तरी इंग्लैंड पर डेनों का अधिकार हो गया और लंदन पर भी हमले शुरू हुए। १०१६ में ईथेलरेड की मृत्यु हुई। उसकी रानी एंमा ने इंग्लैंड के डेन विजेता कैन्युट महान् से विवाह कर लिया। एंमा का ईथेलरेड के साथ विवाह स्वयं एक विशिष्ट घटना थी क्योंकि उससे इंग्लैंड और नारमंडी के बीच जो संबंध कायम हुआ उसने नारमनों द्वारा इंग्लैंड की विजय का द्वार खोल दिया।

[ओं० ना० उ०]

ईथेल्स्टान (ल० ८९४–९४० ई०) इंग्लैंड का सैक्सन राजा, प्रसिद्ध अल्फ्रेड का प्रसादप्राप्त पोता और एडवर्ड दि एल्डर का बेटा। ईथेल्स्टान ने अपनी बहन का विवाह नार्थेब्रिया के राजा से किया और उस राजा के मरते ही वह नार्थेब्रिया को दबोच बैठा। अब उसे इंग्लैंड के दूसरे राजाओं ने अपना अधिराज मान लिया। फिर उसने नार्थेब्रिया के मृत राजा के विद्रोही भाई गुथफिथ को देश से निकालकर डेनी फौजों को यार्क से हटाया और वेल्स तथा कार्नवाल के लोगों को अपनी अपनी हदों में रहने को मजबूर किया। ९३४ ई० में स्काटलैंड पर हमला कर उसे परास्त किया।

ईथेल्स्टान ब्रिटेन का पहला राजा था जिसने समूचे देश पर प्रभुता का दावा किया, जो दावा अधिकांश में मुनासिब था। उसी ने पहले पहल इंग्लैंड को यूरोप के अन्य देशों की राजनीति के घने संपर्क में खींचा और वहाँ के राजकुलों से वैवाहिक संबंध स्थापित कर इंग्लैंड की शक्ति बढ़ाई। इस प्रकार विवाहों द्वारा फ्रांस, आस्ट्रिया, जर्मनी आदि उसके राजकुल से संबंधित हो गए। नारवे से उसने अपना दौत्य संबंध इतना घना जोड़ा कि वहाँ का अगला राजा उसी के राजकुल में पला। ईथेल्स्टान ने विवाह

नहीं किया, इससे उसके कोई संतान न थी। उसके जमाने का कानून बड़ी मात्रा में मिलता है जिससे स्वयं राजा की अनुपातविरोधी दंडनीति के विपरीत प्रतिक्रिया प्रकट होती है। उदाहरणतः उसने १२ साल के बालकों को चोरी के लिये प्राणदंड देना बड़ा बेजा समझा और इस संबंध में आयु की अवधि और ऊँची कर दी। [ओं० ना० उ०]

ईद का शाब्दिक अर्थ सामयिक स्थितिपरिवर्तन है। व्यवहार में इस शब्द का प्रयोग दो प्रमुख मुसलमानी प्रार्थना के त्योहारों के लिये होता है—ईदुल फ़िव्र (बक़रीद), जो दसवीं ज़िलहिज्ज को मनाई जाती है, तथा ईदुज्जुहा जो रमज़ान के व्रत के महीने के बाद पहले 'शाबान' को मनाई जाती है। इन प्रार्थनाओं में दो 'रकत' और धर्मोपदेश होते हैं। जहाँ तक संभव हो, ईद की नमाज नगर के किसी खुले हुए स्थान पर संपन्न की जाती है; अन्यथा यह नमाज मस्जिद में भी हो सकती है।

प्रत्येक मुसलमान को, यदि संभव हो, जीवन में एक बार ईदुल फ़िव्र के अवसर पर मक्का की तीर्थयात्रा करनी चाहिए। मुसलमानों का विश्वास है कि हज के कुछ रिवाज पैगंबर इब्राहीम के समय से प्रचलित हैं जिनमें एक यह है कि प्रत्येक हाजी 'मिना' के ऊपर एक पशु की बलि दे। जो मुसलमान हज करने नहीं जाते वे अपने घरों पर ही पशुबलि देते हैं। नियमानुसार उनको बलिपशु का मांस गरीबों को बाँट देना चाहिए।

शिया मुसलमान एक तीसरी ईद भी मनाते हैं जिसका नाम ईद-इ-ग़दीर है। यह नाम मक्का और मदीना के बीच स्थित एक तालाब के नाम पर आधारित है। उनका विश्वास है कि उक्त तालाब पर आकर पैगंबर ने कहा था, "जिस किसी का भी पूज्य मैं हूँ उसका पूज्य अली भी है"। [मु० ह०]

ईदर बंबई राज्य के माहेकांथ एजेंसी में स्थित एक राजपूत रियासत थी। (स्थिति : अक्षांश २३° ६' से २४° २६' तक उत्तर और देशांतर ७२° ४५' से ७३° ३६' तक पूर्व)। इसका क्षेत्रफल १६६६ वर्गमील था। इसकी सीमा उत्तर में सिरोही तथा उदयपुर, पूर्व में डूँगरपुर, दक्षिण तथा पश्चिम में बंबई तथा बड़ौदा राज्य थी। इस राज्य के दक्षिण-पश्चिम भाग में बालुकानिर्मित समतल क्षेत्र है, परंतु अन्य भाग ऊँचे नीचे तथा पहाड़ियों एवं जंगलों से भरे हैं। प्रदेश की जलवायु गरम है। राज्य में साबरमती, हथमती, मेशवा, पाजन, वात्रक आदि नदियाँ बहती हैं। राज्य का इतिहास आठवीं शताब्दी से उपलब्ध है। यहाँ बसनेवालों में अधिकांश कोली हैं। पहाड़ी क्षेत्रों को छोड़कर राज्य की भूमि साधारणतः उपजाऊ है। लगभग १७ प्रति शत भूमि कृषि के काम में लगी है। सन् १८६६ ई० तथा १६०० में घोर अकाल के समय राज्य को बहुत क्षति उठानी पड़ी थी। सन् १६५१ ई० में ईदर प्रदेश की जनसंख्या १,१६,१३८ थी। यह देशी रियासत अब बंबई राज्य में मिला दी गई है।

ईदर (अथवा भारत राष्ट्रीय ऐटलस के अनुसार इदार) नगर भारत के आधुनिक बंबई राज्य के साबर-कंथा जिले में अहमदाबाद नगर से ६४ मील उत्तर-पूर्व में स्थित है। (स्थिति : अक्षांश २३° ५०' उत्तर तथा देशांतर ७३° ४' पूर्व)। यह नगर इलदुर्ग के नाम से भी प्रख्यात है। पहले यह नगर ईदर रियासत की राजधानी था। नगर चारों ओर से ईंटों की दीवार से घिरा है जिसमें भीतर जाने के लिये पत्थर का एक द्वार बना हुआ है। आसपास चट्टानों में निर्मित गुफा मंदिर हैं जो कम से कम ४०० वर्ष पुराने आँके गए हैं। नगर में राजमहल के अतिरिक्त अन्य कई सुंदर भवन हैं। [श्या० सुं० श०]

ईडिपस ग्रंथि मनोविश्लेषण के जन्मदाता डाक्टर सिगमंड फ्रायड ने पुत्र की अपनी माता के प्रति कामवासना (सेक्स) की ग्रंथि को 'ईडिपस ग्रंथि' की संज्ञा दी। प्राचीन ग्रीक लोककथाओं तथा सोफोक्लीज द्वारा लिखित "ईडिपस रेक्स" के अनुसार ईडिपस थीबिज़ के राजा लेउस और रानी जोकास्ता का पुत्र था। ईडिपस के जन्म के पूर्व ही एक ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की थी कि यह अपने पिता का हत्यारा होगा। इसलिये जन्म लेते ही इसे राजा लेउस ने राज्य से निकाल दिया। ईडिपस का उद्धार पड़ोस के राजा के द्वारा हुआ जिसके यहाँ उसका राजकुमारों जैसा लालन पालन हुआ। बड़े होने पर इसने भी ज्योतिषी से परामर्श किया जिसने उसे यह चेतावनी दी कि वह अपनी मातृभूमि छोड़कर चला जाय क्योंकि उसके भाग्य में अपने पिता का हत्यारा और अपनी माता का पति होना लिखा है। ईडिपस राज्य छोड़ चल पड़ा लेकिन मार्ग में ही उसे राजा लेउस मिला जिसे उसने एक हल्की मुठभेड़ में ही मार डाला। वह थीबिज़ पहुँचा जहाँ उसने दैत्य स्फिक्स पर विजय प्राप्त की जिसके आतंक से थीबिज़वासी पीड़ित थे। कृतज्ञ थीबिज़वासियों ने उसे वहाँ का राजा निर्वाचित किया तथा जोकास्ता का हाथ उसके हाथों में दे दिया। बहुत वर्षों तक शांति और संमानपूर्वक राज्य करते हुए उसे जोकास्ता से दो पुत्र और दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुई। कुछ समय उपरांत थीबिज़ में भीषण महामारी फैली। थीबिज़वासियों ने ज्योतिषी से परामर्श किया जिसने कहा कि जब तक लेउस के हत्यारे को थीबिज़ से निष्कासित नहीं किया जायगा तब तक महामारी का प्रकोप शांत नहीं हो सकता। इधर ईडिपस को भी अपनी माता और पिता का रहस्य ज्ञात हो गया। पश्चात्तापवश उसने अपनी आँखें फोड़ लीं तथा उसके पुत्रों ने उसे थीबिज़ से निष्कासित कर दिया। जोकास्ता ने आत्मग्लानिवश फाँसी लगाकर आत्महत्या कर ली।

फ्रायड के अनुसार ईडिपस की यह कथा हर मनुष्य के अंतर में छिपी हुई कामवासना की एक ग्रंथि का सांकेतिक प्रतिनिधान करती है। मनुष्य की प्रथम कामवासना का लक्ष्य माता और प्रथम हिंसा और घृणा के भाव का लक्ष्य पिता होता है। इसी कामवासना की भावग्रंथि को इन्होंने "ईडिपस ग्रंथि" के नाम से संबोधित किया। मनुष्य के जीवन पर इसके प्रभावों की चर्चा करते हुए इन्होंने कहा कि यही ग्रंथि हमारे नैतिक, धार्मिक और सामाजिक नियमों और प्रतिबंधों की पृष्ठभूमि में कार्यरत है। पाप और अपराध की भावना का जन्म इसी से हुआ। अपने को किसी प्रकार का स्वतः आघात पहुँचाने, आत्महत्या करने या अपने को स्वतः दंडित करने के भाव इसी के कारणवश उत्पन्न होते हैं। इनके अनुसार मनुष्य के विकास की जड़ में यह ग्रंथि ही है क्योंकि विकास के प्रारंभ में मनुष्यों ने सर्वप्रथम अपने ऊपर केवल दो प्रतिबंध लगाए। पहला, अपने जन्मदाता या पिता की हत्या न करना और दूसरा, अपनी जननी या माता से विवाह न करना। यही दो प्रथम नैतिक और धार्मिक नियम हैं।

किसी भी प्रकार की मानसिक विकृतावस्था और मुख्यतया मनोदौर्बल्य (साइकोन्यूरोसिस) का भी मूल कारण इन्होंने इसी ग्रंथि को माना। इनका कथन था कि यह ग्रंथि सामान्य और असामान्य दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों में पाई जाती है, अंतर केवल इतना है कि एक ने उसपर विजय प्राप्त कर ली है और इसलिये वह सामान्य है जबकि दूसरा उसका दास है और इसलिये वह असामान्य है। विभिन्न समूहों, जातियों और समाजों के आपसी मतभेद तथा संघर्षों का मूल कारण भी उनके अपने माता पिता के प्रति स्थापित प्रत्ययों की भिन्नता ही है, ऐसा इनका विचार था।

एक ही वस्तु के प्रति प्रेम और घृणा के विपरीत भावों के विद्यमान होने का कारण भी इन्होंने 'ईडिपस ग्रंथि' को ही माना। हमारा संवेगात्मक जीवन, मौलिक रूप में, एक ही वस्तु के प्रति इस प्रकार के विपरीत भावों के समावेश से अपरिचित था। सर्वप्रथम ऐसे भावों की उत्पत्ति संभवतः मातापिता के प्रति हमारे संवेगात्मक संबंधों से ही होती है क्योंकि इनका प्रबलतम रूप मातापिता के प्रति भावों में ही पाया जाता है।

माता के प्रति प्रेम और पिता के प्रति घृणा के भावों को कभी कभी "धनात्मक (पाज़िटिव) ईडिपस ग्रंथि" तथा पिता के प्रति प्रेम और माता के प्रति घृणा को "ऋणात्मक (नेगेटिव) ईडिपस ग्रंथि" कहा जाता है। इस ग्रंथि का एक स्वरूप पुत्री का पिता के प्रति कामवासना की भावना में भी पाया जाता है जिसे "एलेक्ट्रा ग्रंथि" भी कहा जाता है।

फ्रायड के इस कथन के विरोध में कि 'ईडिपस ग्रंथि' सार्वभौमिक है, इसका आधार जन्मजात है तथा यह एक ही स्वरूप में हर मनुष्य में पाई जाती है, नव-फ्रायडीय तथा अन्य आधुनिक सिद्धांतों ने कहा कि इसका आधार संस्कृति माना जाता है, यही इसके स्वरूप का विभिन्न व्यक्तियों में निर्धारण करती है। फेनिचल के अनुसार व्यक्ति के अपने पारिवारिक अनुभव ही उसकी इस ग्रंथि की उत्पत्ति और उसके वास्तविक स्वरूप का निर्धारण करते हैं। ऐडलर ने इस ग्रंथि को मौलिक या जन्मजात

नहीं माना वरन् उसने कहा कि यह माता के अधिक लाड़प्यार का अप्राकृतिक परिणाम है। जुंग के अनुसार यह ग्रंथि मनुष्य की पुनर्जन्म की मौलिक इच्छा का सांकेतिक प्रतिनिधान करती है अर्थात् मनुष्य की मौलिक इच्छा अपने जन्मस्थान में लौट जाने की होती है। रैंक ने जुंग की इस काल्पनिक उड़ान को स्वीकार करते हुए भी यह कहा था कि इस ग्रंथि का सार बालक के अपने मातापिता के प्रति संपूर्ण संबंधों में है। पारिवारिक संबंधों की महत्ता को स्वीकार करते हुए हार्नी ने इसे दो स्थितियों पर आधारित बताया। पहली परिस्थिति मातापिता की उत्तेजक कामवासनाएँ हैं और दूसरी, दूसरों पर आश्रित रहने की आवश्यकताओं तथा माता-पिता के प्रति हिंसात्मक भावनाओं के मानसिक द्वंद्व से उत्पन्न चिंता की स्थिति है। फ्रोम ने पितापुत्र के बीच इस संघर्ष का आधार कामवासना न मानकर पितृप्रधान समाजों की अधिकार प्राप्त करने की भावना माना है।

सलिवन, टाम्सन आदि अन्य विद्वानों ने भी परिवार के अंतर्गत पारस्परिक संबंधों को ही इस ग्रंथि का आधार माना है। [ओं० क०]

ईनिड संयुक्त राज्य अमरीका के ओकलाहोमा राज्य का चौथा बड़ा नगर है। यह समुद्रतल से १,२६६ फुट की ऊँचाई पर विचिता नगर से दक्षिण-पश्चिम में ९५ मील दूर स्थित है। रेल द्वारा ओकलाहोमा नगर इससे केवल ८८ मील दूर है। इसकी केंद्रीय स्थिति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह न केवल एक बड़ा रेलवे जंकशन है, वरन् प्रांतीय मार्ग तथा अंतर्प्रांतीय मार्ग भी इसकी बगल से जाते हैं। यहाँ नगरपालिका का एक हवाई हड्डा भी है। यहाँ कई अन्न उच्चालित्र (ग्रेन एलिवेटर) हैं, जिनमें एक दो करोड़ बुशेल का भांडार रखा जा सकता है। सर्वप्रथम सन् १९०७ ई० में इसके निकट प्राकृतिक गैस का पता चला था और सन् १९१६ ई० में मिट्टी के तेल की सफल खोज हुई, जिसने इस नगर को अत्यंत समृद्धिशाली बना दिया है। आज यह एक बड़ा औद्योगिक केंद्र है जहाँ मिट्टी के तेल को शुद्ध करने के कारखाने हैं तथा ट्रैक्टर, कृषि संबंधी अन्य मशीनें, रेलवे इंजन तथा मालगाड़ियाँ बनाई जाती हैं। यह शिक्षा का भी एक बड़ा केंद्र है; शिक्षा संस्थाओं में फिलिप्स विश्वविद्यालय (सन् १९०७ ई० में स्थापित) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ईनिड का शिलान्यास सन् १८९३ में हुआ था तथा उसी वर्ष इसे नगर की श्रेणी भी प्राप्त हो गई थी। सन् १९०० में इसकी जनसंख्या केवल ३,४४४ थी, सन् १९५० में ३६,०१७ हो गई। [लि० रा० सिं०]

ईनियस ताक्तिकस संभवतः स्तीफालस का निवासी जो ई० पू० ३६७ में आर्कादी संघ का सेनापति था। इसने युद्ध विद्या के संबंध में अनेक ग्रंथों की रचना की थी जिनका सारसंग्रह पिर्हस ने किया था। दुर्गरक्षा संबंधी इसकी रचना नष्ट होने से बच गई है। इस ग्रंथ से पता चलता है कि उन दिनों दुर्गों की रक्षा, बाह्य शत्रुओं की अपेक्षा आंतरिक विरोधी गुटों से की जानी अधिक आवश्यक थी। भाषा की दृष्टि से भी इस अवशिष्ट रचना का इसलिये महत्व है कि इसमें अत्तिका की भाषा से बाहर की यूनानी भाषा का स्वरूप देखने को मिलता है जिससे पश्चात्कालीन जनसामान्य की भाषा के तत्वों का कुछ पता चलता है। [भो० ना० श०]

ईनिस आंकिसिज और अफ्रोदीती का पुत्र। होमर के 'ईलियद' में उसका त्राय के वीरों में उल्लेख है। लातीनी कवि वर्जिल ने उसी पर अपना प्रसिद्ध काव्य 'ईनिद' लिखा। ग्रीक और लातीनी परंपरा के अनुसार, कहते हैं, त्राय के विध्वंस के पश्चात् उसने गृहदेवताओं और वृद्ध पिता को पीठ पर लिया और पुत्र का हाथ पकड़ भगदड़ में बाहर की राह ली। उसकी पत्नी उसी भगदड़ में खो गई। फिर वह सागर की राह फिरता रहा। अंत में तूफान ने उसे अफ्रीकी तीर पर डाल दिया। ईनिस के संबंध की घटनाएँ तो अधिकतर पुराण ही हैं पर उन्होंने यूरोप के प्राचीन साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है और उसके चरित को लेकर मध्यकाल में अनेक यूरोपीय भाषाओं में रोमांचक कथाएँ भी प्रस्तुत हुई हैं। [भ० श० उ०]

ईरान पश्चिमी एशिया का एक राजतंत्र है जो १९३५ ई० के पूर्व पर्सिया (फारस) कहा जाता था। २,००० ई० पूर्व में इसका नाम आर्याना था। इसके दक्षिण में फारस एवं ओमान की खाड़ियाँ तथा अरब सागर, पश्चिम में ईराक एवं तुर्की, उत्तर में रूस एवं कैसपियन सागर तथा पूरब में पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान हैं। यह उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व दिशा में १४०० मील लंबा तथा उत्तर से दक्षिण ८७५ मील चौड़ा है।

स्थिति---२५° उत्तर अक्षांश से ४०° उत्तर अक्षांश, ४४° पूर्व देशांतर से ६३° ३०′ पूर्व देशांतर। क्षेत्रफल : १६,४०,००० वर्ग किलोमीटर (६,२९,००० वर्ग मील); जनसंख्या (१९५६ ई०) : १,८९,४४,८२१। ईरान का अधिक भाग मरुस्थल है। अतः जनसंख्या प्रायः सर्वत्र विरल है, जिसका औसत घनत्व केवल ३३ प्रति वर्ग मील है। प्रमुख नगरों में १० नगरों की जनसंख्या एक लाख से अधिक है। वे हैं तेहरान (१५,१३,१६४), टेब्रीज (२,९०,१९५), इस्फ़हान (२,५४,८७६), मेसेद (२,४२,१६५), अबादान (२,२६,१०३), शिराज (१,६९,०८८), करमनशाह (१,२५,१८१), अह्वाज (१,१९,८२८), रश्त (१,०९,४९३) एवं हमादान (१,००,०००)। तेहरान यहाँ की राजधानी है, फारसी राज्यभाषा है।

मरुस्थल में भूमि कई प्रकार की है और वहाँ के देशवासियों ने इनको विशेष नाम दिए हैं। बजरी या बालू के कड़े पृष्ठ को दश्त कहते हैं, बिना जल या वनस्पति के क्षेत्रों को लूट कहते हैं और काले कीचड़ के दलदलों को, जिनपर बहुधा नमक की पपड़ी बँध जाती है, कवीर कहते हैं। कवीरों से यात्रियों को बहुत डर लगता है, क्योंकि ऊपर से दृढ़ दिखाई पड़नेवाली पपड़ी के नीचे बहुधा गहरा दलदल रहता है जिसमें यात्री डूबकर मर जाते हैं।

ईरान आल्प्स्-हिमालय-भंजतंत्र (फ़ोल्ड सिस्टम) के अंतर्गत है। इसकी उत्तरी एवं दक्षिणी सीमा पर क्रमानुसार एलबुर्ज एवं जैग्रस पर्वतश्रेणियाँ हैं जो पश्चिम में आर्मीनिया की गाँठ में मिलती हैं। ईरान तीन प्राकृतिक खंडों में विभक्त है :

(१) एलबुर्ज पर्वत---यह परतदार चट्टानों का बना है, जिसमें अनेक ज्वालामुखी पहाड़ हैं। ईरान की डेमावेंड नामक सर्वोच्च चोटी की ऊँचाई १८,६०० फुट है।

(२) मध्य का पठार---पर्वतों से घिरा यह विस्तृत पठार प्राचीन मणिभ चट्टानों का बना है। इसकी ऊँचाई ४,००० फुट है। इसका पूर्वी भाग अधिक चौड़ा है जहाँ मरुस्थल पर दलदल मिलते हैं। यहाँ सिस्तान एवं जाज मुरियन द्रोणी (बेसिन) की ऊँचाई केवल १,००० फुट है।

(३) जैग्रस पर्वत---उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को फैला यह पर्वत ईरान की दक्षिण-पश्चिमी सीमा निर्धारित करता है। इस्फहान के पश्चिम लूरीस्तान एवं बख्तियारी प्रदेश में इसके सर्वोच्च भाग की ऊँचाई १४,००० फुट है।

ईरान के आधे से अधिक भाग (३,५०,००० वर्ग मील) का जलपरिवाह आंतरिक है। आंतरिक परिवाह के क्षेत्र में पूर्व में दश्त-ए-लुट, सिस्तान एवं जाज मुरियन नामक द्रोणियाँ हैं, पश्चिम में उर्मिया झील (२०,००० वर्ग मील) एवं मध्य में दश्त-ए-कवीर है। उत्तर में सफीद रूद, गारगन एवं अत्रेक नामक नदियाँ कैसपियन सागर में गिरती हैं। दक्षिण-पश्चिम में ईरान की एकमात्र नाव चलाने योग्य नदी कारूँ बख्तियारी पर्वत से निकलकर शत-अल-अरब की सहायक बनती है।

ईरान की जलवायु, कैसपियन तटीय भाग को छोड़, अति विषम है। अत्यधिक तापांतर (४०° फा०), अल्पवृष्टि एवं अति प्रचंड वायु, पर्वतावृत पठारों एवं द्रोणी की जलवायु की विशेषताएँ हैं। वर्षा जाड़े में रूमसागर से आनेवाले चक्रवात से होती है। कैसपियन प्रांतों में सर्वाधिक वर्षा (लगभग ५०″) होती है। पठार के उत्तर-पश्चिमी भाग में वर्षा लगभग १२″, मध्य में ६″ तथा दक्षिण-पूर्व में हुसेनाबाद एवं सिस्तान में केवल २″ होती है। फारस की खाड़ी के तटस्थ क्षेत्र में वर्षा १०″ होती है। जाड़े में पर्वतों पर तुषारपात होता है। ग्रीष्म ऋतु में सिस्तान मरुस्थल में बालू एवं धूलयुक्त अति प्रचंड वायु लगभग ७० मील प्रति घंटे के वेग से प्रायः १२० दिन तक चलती है। यह प्रदेश आँधियों का देश कहा जाता है जो "१२० दिन की आँधी" के लिये कुख्यात है।

कैसपियन प्रांतों में ३,००० फुट की ऊँचाई तक रूमसागरीय जलवायु-तुल्य वनस्पति मिलती है। इमारती लकड़ी मजनदेरन, गिलान, फार्स एवं कुर्दिस्तान प्रांतों में प्राप्त होती है। मध्य ईरान के पठार एवं पहाड़ियाँ वृक्षविहीन हैं। बबूल करमन, करमनशाह एवं खुरासान में मिलता है। दक्षिणी ईरान में खजूर की प्रचुरता है। जैतून के पेड़ 'रूदबर' में प्राप्त हैं।

ईरान फल की उपज के लिये प्रसिद्ध है। खरबूजा, तरबूज, अंगूर, खूबानी, चेरी, बेर एवं सेब साधारणतः सभी जगह उपजाए जाते हैं। टब्रीज एवं मेशेद के सतालू (शफतालू), इस्फहान के खरबूजे एवं चेरी, डेमावेंड के सेब, नतांज की नाशपाती तथा करमनशाह के अंजीर विशेष प्रसिद्ध हैं।

यहाँ की अस्थायी (खानाबदोश) जातियों एवं कृषकों का मुख्य व्यवसाय ऊन के लिये भेड़ पालना है। ऊन दरी एवं कालीन बनाने के काम आता है। अजरबैजान एवं खुरासान के प्रांत घोड़ा, गधा, भेड़ एवं बकरे के लिये विख्यात हैं। ईरान में परिवहन की असुविधा के कारण तेल के अतिरिक्त अन्य खनिजों का विकास नहीं हुआ है। १९४८ ई० में खनिज तेल की संचित निधि ९,४०० लाख टन निर्धारित की गई थी। इसका उत्पादन १९५७ ई० में ३५० लाख टन था। तेल का प्रमुख क्षेत्र दक्षिण-पश्चिम ईरान में खूजिस्तान है जहाँ मस्जिद-ए-सुलेमान, हत्फ केल, आगा जरी, गच सारन, नत्फ सफीद, एवं लाली नामक छः खानें हैं। इनके निकट अबादान में संसार का सबसे बड़ा तेल शुद्ध करने का कारखाना है, जिसकी

ईरान

कैसपियन प्रांतों के अतिरिक्त, शेष ईरान में नदियों एवं कनातों या करेजों (अर्थात् सोतों और नालों) द्वारा सिंचाई करके खेती होती है। फारस की खाड़ी के तटस्थ मैदान में शुष्क कृषि प्रचलित है। गेहूँ, जो, बाजरा, कोदो, कुटकी, जवारी एवं मक्का प्रायः सभी भागों में होते हैं। चावल के लिये कैसपियन क्षेत्र प्रसिद्ध है। पठारी भाग की मुख्य उपज गेहूँ एवं मक्का है। रूई विशेषतः कैसपियन तट तथा खुरासान, इस्फहान, एवं येज्द प्रांतों में होती है। तंबाकू उर्मिया, काशान एवं इस्फहान जिलों में उपजाया जाता है। अफीम के उत्पादन पर १९५६ ई० से प्रतिबंध लगाया गया है। गिलान, मजनदेरन, येज्द एवं काशान क्षत्र में रेशम के कीड़े पाले जाते हैं।

क्षमता ५,००,००० बैरल शुद्ध तेल प्रतिदिन है। पश्चिम ईरान में, ईराकी सीमा के निकट, तेल का दूसरा क्षेत्र नत्फ-ए-शाह है। यहाँ का तेल करमनशाह में शुद्ध किया जाता है। अन्य खनिजों में कोयला तेहरान एवं मजनदेरन में, लोहा करमन, सम्नन, इस्फहान, एवं अनारक में, ताँबा अब्बासाबाद एवं जेंजन में, सीसा अनारक में, तथा फीरोजा निशापुर में मिलते हैं। कुछ संखिया, सज्जी, मैंगनीज, शैल लवण, गंधक, राँगा आदि भी प्राप्त हैं।

ईरान में प्रधानतः शिल्पकला एवं कुटीर उद्योग का विकास हुआ है। बहुमूल्य दरियाँ, कालीन, रेशमी वस्त्र एवं धातुशिल्प के लिये यह प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है। हाल में तैल कारखानों के अतिरिक्त चीनी, सीमेंट,

और रेशमी, सूती एवं ऊनी वस्त्रों के कारखाने भी खोले गए हैं। सूती एवं ऊनी वस्त्र उद्योग का प्रमुख केंद्र इस्फहान है, जो रुई एवं कच्चे ऊन के उत्पादन क्षेत्र में स्थित है। सूती वस्त्र उद्योग के अन्य केंद्र शाही, मजनदेरन, बहशहर, कास्विन, करमन, मेशेद, एवं येज्द हैं। टेब्रीज एवं कस्विन ऊनी वस्त्र उद्योग के अन्य केंद्र हैं। रेशम उद्योग चालूस एवं रेश्त में तथा जूट उद्योग शाही एवं रेश्त में विकसित हैं। करमन दरी बुनने का प्रमुख केंद्र है। इसके अन्य केंद्र टेब्रीज, सुलतानाबाद, तेहरान, शिराज, हमादान, खुर्रमाबाद, बिजार, सैम्ना एवं कशान हैं। चीनी की मिलें तेहरान एवं कैसपियन क्षेत्र में हैं। दियासलाई टेब्रीज, जंजान, तेहरान एवं इस्फहान में बनती है। तेहरान आधुनिक उद्योग का केंद्र है जहाँ काच, शस्त्र एवं कारतूस, रसायन, प्लैस्टिक, साबुन, सिगरेट, कृषियंत्र एवं अर्क चुम्राने के कारखाने हैं। १९५९-५६ ई० में ईरान ने १,२६,००० कंबल, २० लाख मीटर ऊनी, ४०० लाख मीटर सूती एवं ६० लाख मीटर रेशमी वस्त्रों का उत्पादन किया।

ईरान के मुख्य आयात चीनी, चाय, सूती वस्त्र, इस्पात, मशीन, मोटर गाड़ियाँ, टायर एवं रसायन हैं। यहाँ के मुख्य निर्यात पेट्रोल, दरियाँ, एवं कालीन, रुई, सूखे एवं ताजे फल, ऊन, चमड़ा, तेलहन आदि हैं।

[नं० कि० प्र० सिं०]

ईरान का इतिहास

ईरान (फ़ारस अथवा पर्शिया) की सबसे पहली सभ्यताओं ने जहाँ जन्म लिया उस भूभाग को इतिहास 'एलाम' के नाम से पुकारता है। दक्षिण जागरूस से बहती हुई कारूँ नदी तरह तरह की उपजाऊ मिट्टी लाकर एलाम को सरसब्ज बनाती हुई ईरान की खाड़ी में गिरती है। एलाम में ठीक उस समय अनेक शहर आबाद हुए जिस समय सिंधु नदी के किनारे मोहन-जोदड़ो की सभ्यता अपने विकासपथ पर अग्रसर हो रही थी। दौलत और तिजारत, सामाजिक संस्थाएँ, राज और शासनप्रबंध, विद्या और कलाकौशल दोनों जगह एक साथ फले फूले और दोनों जगह की सभ्यताएँ साथ साथ उन्नति करने लगीं। पश्चिम में तख्ते जमेशीद (पर्सेपोलिस), शूश, काशान और निहावंद, उत्तर में अस्त्राबाद और अनाब जैसे बहुत से प्राचीन ईरानी शहरों की खुदाई से ताँबा, पीतल, काँसा, सोना, जवाहिरात और मिट्टी के ऐसे बर्तन मिले हैं जिनसे उस जमाने की ईरानी संस्कृति और उसकी उन्नति की मंजिलों का पता चलता है। एलाम में शूश और अनज़ान के राजकाजी संबंध और वहाँ की राजकीय संस्थाएँ हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के राजकाजी संबंधों और संस्थाओं से बेहद मिलती जुलती हैं।

एलाम का राज्यशासन पुरोहितों के हाथों में था। एलाम में सब देवी देवताओं के ऊपर एक सबसे बड़े देवता की सत्ता में लोग विश्वास करते थे। एलाम में सूरज और चाँद की, जल और स्थल के देवताओं की, प्रेम की देवी और संतानोत्पत्ति की देवी की पूजा होती थी। मातृदेवी भी पूजी जाती थी। वहाँ कुछ पशुओं और वृक्षों को भी पवित्र मानकर पूजा जाता था, जैसे वृषभ, नाग, सिंह आदि। हर घर और हर गाँव में एक छोटा-सा मंदिर होता था जहाँ इन देवताओं की मिट्टी या पत्थर की छोटी छोटी मूर्तियाँ होती थीं। इनके अतिरिक्त बहुत बड़े बड़े मंदिर होते थे जो 'जगूरात' या 'सिग्गुरात' कहलाते थे। ये बिलकुल किले की तरह होते थे और इनमें बेशुमार दौलत और लाखों मन गल्ला जमा रहता था। सिंधु सभ्यता की तरह एलाम का समाज भी पुराने रीति रिवाजों के तंग साँचों में जकड़ा हुआ था। किसी को उससे बाहर निकलने या नई बात करने की अनुमति न थी।

उस समय एलाम की प्राचीन ईरानी सभ्यता पर एक भयानक आफत टूट पड़ी। उत्तर से आर्य आक्रमणकारियों ने, घोड़ों पर सवार लोहे के हथियार लिए, धावा बोल दिया। उन्होंने एलाम को रौंदकर अपने अधीन कर लिया। धीरे धीरे पुराने ईरानियों और नए आक्रमणकारियों की नस्लें एक दूसरे में घुल मिलकर एक हो गईं। ये आर्य ही आधुनिक ईरानियों और भारतवासियों, दोनों के पूर्वज थे। उनकी नस्ल एक थी, बोली एक थी, धर्म एक था और संस्कृति एक थी।

आर्यों के ईरान में बस जाने के बाद उनपर वहाँ की परिस्थितियों का पूरा पूरा प्रभाव पड़ा। ईरान में तरह तरह के भूभाग हैं—कहीं पहाड़ और कहीं रेगिस्तान, कहीं नदियों की घाटियाँ और बीच के मैदान, जो मनुष्यों, पशुओं और हरियाली से भरे हुए हैं, और कहीं सैकड़ों मील लंबे रेतीले मैदान, जिनमें दूर दूर तक न कोई जानदार दिखाई देता है और न कोई घास का तिनका, जहाँ सिवाय हवा की साँय साँय के कोई आवाज सुनाई नहीं देती। उजाले और अँधेरे, नेकी और बदी की शक्तियाँ वहाँ साफ अलग अलग काम करती दिखाई देती हैं।

ईरान के पैगंबर जरतुश्त के सुधारों से पहले ईरानियों का जो धर्म था वही कुछ परिवर्तनों के साथ बाद के हखामनीषी और सासानी युगों में भी प्रचलित रहा। ईरानियों का यह धर्म भारत के आर्यों के वैदिक धर्म से विशेष मिलता जुलता था। इससे भी अधिक ध्यान देने की बात यह है कि जरतुश्त ने ईरानी धर्म को जो नया रूप दिया उसके हर पहलू से यह स्पष्ट है कि वह और वैदिक धर्म दोनों एक ही खानदान से हैं। आर्यों का धर्मग्रंथ 'वेद' और जरतुश्त की पुस्तक 'अवस्ता' दोनों यही घोषणा करती हैं कि ईश्वर एक है।

आज से तीन हजार वर्ष पूर्व के ईरानी अपने को आर्य कहते थे। अवस्ता में भी उन्हें आर्य कहकर पुकारा गया है। प्रसिद्ध ईरानी सम्राट् दारा (५२१-४८५ ई० पू०) ने अपनी समाधि पर जो शिलालेख अंकित करवाया है उसमें अपने को 'आर्यों में आर्य' लिखा है। छठी शताब्दी के ईरान के सासानी सम्राट् भी अपने को आर्य कहते थे। ईरानी अपनी बोली को 'आर्यन' या 'अर्वन' और अपने देश को 'आर्याना' या 'आइ-र्याना' कहते थे, जिसका अर्थ है 'आर्यों का निवासस्थान'। प्रचलित ईरान शब्द इसी आर्याना का अपभ्रंश है।

अवस्ता और ऋग्वेद दोनों में वरुण को देवताओं का अधिराज माना गया है। वेदों में उसे 'असुर विश्वदेवस' या 'असुर मेधा' कहा गया है। अवस्ता में उसे 'अहुर मज्दा' नाम से पुकारा गया है। वैदिक 'असुर' (ईश्वर) ही अवस्ता का 'अहुर' है और ईरानी 'मज्दा' का वही अर्थ है जो संस्कृत 'मेधा' का। वैदिक 'मित्र' देवता ही अवस्ता का 'मिथ्र' है। अवस्ता में ठीक उन्हीं शब्दों में मिथ्र की स्तुति की गई है जिन शब्दों में ऋग्वेद में मित्र की। संस्कृत में मित्र का अर्थ सूर्य भी है। ईरानी भी सूर्य के रूप में मिथ्र की पूजा करते थे। इंद्र का नाम ज्यों का त्यों अवस्ता में मौजूद है।

ईरानी धर्मग्रंथों में प्रारंभ के जिस समाज की कल्पना है वह भारतीय सतयुग की कल्पना से मिलती है। ईरानी पौराणिक कथाओं के अनुसार 'यिम' (वैदिक=यम) मानव जाति का पहला सम्राट् था। यिम आर्यों की प्राचीन पुण्य भूमि 'आर्यनम वाइजो' पर शासन करता था। आर्यों की उस पुण्य भूमि में—'न कष्ट था न क्षोभ, न मूर्खता थी न हिंसा, न गरीबी थी न छलकपट। लोग न बेडौल थे, न कुरूप। बुराई उन्हें छू न सकती थी। चारों ओर सुगंधित वृक्षों के उद्यान थे और घरों में स्वर्णस्तंभ थे। लोगों के पास अगणित सुंदर और अच्छे पशु थे।'

ईरानी यिम को ही मानव जाति का सृजनकर्ता मानते हैं। बाद में वह मृत्यु का देवता माना जाने लगा। यिम मनुष्य के कर्मों की सख्ती से जाँच करता है और पापात्माओं को दंड देता है। एक दूसरी पौराणिक कथा के अनुसार अहुर मज्दा की प्रेरणा से सबसे पहले मश्य और मश्यो नामक संसार के पहले स्त्री पुरुष पैदा हुए। इनके बेटे गय मारेतान ने अहुर मज्दा की शिक्षाओं पर ध्यान दिया। गय मारेतान का पुत्र हावश्यंघ पहला आदमी था जिसने मनुष्य जाति के ऊपर शासन किया। हावश्यंघ का एक नाम पिशदादि भी है। पिशदादि ने लोहा ईजाद किया और सिंचाई के लिये नहरें बनवाईं। उसके पूर्व यिम के समय में सोना, चाँदी, जहाज, गन्ना और चीनी बनाने का ज्ञान लोगों को हो चुका था।

पिशदादि का पुत्र तख्म उर्प्यि भी बड़ा कीर्तिवान् राजा हुआ। उसने ईरान के आर्यपूर्व निवासियों से ३० अक्षरोंवाली लिपि सीखकर सारे देश में उसका प्रचार किया। उसने समाज को चार वर्गों में बाँटा : (१) पुरोहित, (२) योद्धा, (३) किसान और (४) कारीगर। ईरानियों का पवित्र सदरा और जनेऊ (जुन्नार) यिम के समय से ही प्रचलित हुआ।

ईरान के आर्यों ने प्राचीन मागियों से प्रभावित होकर अग्निपूजा को धर्म का सबसे महत्वपूर्ण अंग बना दिया। उनकी वेदी पर अब अग्नि सदा प्रज्वलित रहने लगी। अग्नि पवित्र थी, इसलिये फूँककर जलाना उसे अपवित्र करना और पाप था। अग्नि के बाद पानी का महत्व था। नदी में

कोई गंदी वस्तु साफ करना भी अपराध समझा जाने लगा। पानी के बाद धरती पवित्र समझी जाती थी। मुर्दा सबसे अधिक अपवित्र वस्तु माना जाता था। इसलिये मुर्दों को न तो पवित्र अग्नि में जलाया जाता था, न पवित्र नदी में बहाया जाता था और न पवित्र धरती में गाड़ा जाता था। मुर्दों को गिद्ध और कुत्तों के लिये छोड़ दिया जाता था। सारांश यह कि ईसा से एक हजार वर्ष पहले की मिलीजुली ईरानी जाति में तरह तरह के सैकड़ों देवी देवता पूजे जाते थे, रूढ़ियाँ और कर्मकांड बढ़ गए थे और तरह तरह के बेजा और बुरे रिवाज फैलते जा रहे थे।

ईरानी जाति के उस संकट काल में ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व स्पिताम कुल में महात्मा ज़रतुश्त का जन्म हुआ। ज़रतुश्त के पिता का नाम पौरुशास्व और माँ का दुग्धोवा था। ज़रतुश्त ने घरबार छोड़कर तीस वर्ष तक उषीदारण्य पर्वत पर तपस्या की तब सत्य का प्रकाश उनके अंतर में उदय हुआ। बहुत से देवी देवताओं की जगह ज़रतुश्त ने एक परमात्मा की पूजा का उपदेश दिया। सारे मानव समाज को उसी एक परमात्मा की संतान और आपस में भाई बताया। पृथ्वी पर सच्चे धर्म की स्थापना के लिये ज़रतुश्त ने अपने को अहुरमज़्द का संदेशवाहक बताया। ज़रतुश्त ने सबसे अधिक बल सच्चाई और पवित्र जीवन बिताने पर दिया। ज़रतुश्त के उपदेशों ने राजा विस्तास्प को काफी प्रभावित किया और वह ज़रतुश्त का अनुयायी बन गया। शाहनामा के अनुसार बलख की लड़ाई में तूरानियों ने ७७ वर्ष की उम्र में अहुरमज़्द की प्रार्थना में लीन ज़रतुश्त की हत्या कर डाली।

आर्यों के धर्मग्रंथ वेद और ज़रतुश्त की पुस्तक अवस्ता में से किसी में मंदिरों या मूर्तियों के लिये कोई जगह नहीं है। हर गृहस्थ का, चाहे वह राजा हो या साधारण व्यक्ति, यह कर्तव्य है कि वह हर समय अपने घर में अग्नि प्रज्वलित रखे और उसमें यज्ञ करता रहे। वेदों में जिसे यज्ञ कहा गया है उसी को अवस्ता में 'यस्न' कहा गया है। वेदों और अवस्ता के धर्म ऐसे लोगों के धर्म हैं जो जीवन को खुशी और उमंग के साथ देखते थे। दोनों उच्च जीवन और नेकी के सिद्धांतों के सच्चे खोजी थे। दोनों यह मानते थे कि ईश्वरीय प्रकाश सबको अनंत सुख के लक्ष्य तक पहुँचा देता है।

राजनीतिक दृष्टि से यह वह समय था जब ईरान असुरिया के साम्राज्य के अधीन था। पहली बार सन् ६६४ ई० पू० में एक ईरानी सरदार युवक्षत्र ने असुरिया पर आक्रमण किया। युवक्षत्र हारा। उसने ईरान लौटकर अपनी हार के कारणों पर विचार किया। हर ईरानी सरदार या कुलपति अपने साथ अपनी अलग अलग फौज ले जाते थे। युद्ध के संचालन में इससे बड़ी कठिनाई पड़ती थी। युवक्षत्र ने कुलों और रियासतों की जगह अब समस्त देश की एक सुसंगठित सेना तैयार की। कई वर्ष की तैयारी के बाद युवक्षत्र ने बाबुल के राजा के सहयोग से असुरिया की राजधानी निनेवे पर आक्रमण किया। दो वर्ष के लगातार युद्ध के बाद युवक्षत्र ने असुरिया पर विजय प्राप्त की। इस विजय के परिणामस्वरूप आर्मीनिया, सुरिया, कप्पादोशिया, फ़लस्तीन, असुरिया, पार्थिया, वाल्हीक, सोग्दियाना, उरार्तु, आदि असुरिया साम्राज्य के देशों पर ईरानियों का आधिपत्य स्थापित हो गया। ४० वर्ष राज करने के बाद सन् ५६३ ई० पू० में युवक्षत्र की मृत्यु हुई।

युवक्षत्र की मृत्यु के बाद ईरान के आधिपत्य के लिये युवक्षत्र के बेटे इश्तवेगु और दक्षिण ईरान के प्रांत पर्सु के हखामनीषी वंश के राजा कुरु में भयंकर युद्ध हुआ जिसमें विजय कुरु के हाथों रही। पर्सु के रहनेवाले पारसी कहलाते थे। इसी से बाद में फ़ारस, पारस और पर्शिया शब्द बने। पर्सु के रहनेवाले भी ज़रतुश्ती धर्म के माननेवाले थे और अपने को शेष ईरानियों की तरह आर्य कहते थे।

हखामनीषी वंश का गौरव कुरु के सम्राट् बनते ही कीर्ति के शिखर पर जा पहुँचा। कुरु वीर, नेक, दयावान, उदार, बुद्धिमान और प्रजा का सच्चा हितचिंतक था। १४ वर्ष तक कुरु अपने विजय युद्धों में व्यस्त रहा। उसने तातारियों से ईरान को पूरी तरह स्वतंत्र किया, लीदिया और बाबुल पर आधिपत्य किया और भूमध्य सागर तक अपनी विजयपताका फहराई। पराजितों के साथ उसका व्यवहार बड़ी उदारता का होता था। बाबुल में हजारों यहूदी परिवार निर्वासित अवस्था में पड़े हुए थे। कुरु ने उन्हें वापस फ़लस्तीन भेजा। जुरूसलम के टूटे हुए यहूदी मंदिर का कुरु ने फिर से निर्माण कराया। अपने समय की व्याकुल दुनिया के एक बड़े भाग पर कुरु ने शांति की स्थापना की। उसकी सारी प्रजा सुखी और समृद्ध थी। उस देश में जहाँ एक एक पुरुष की कई कई पत्नियों की प्रथा थी, कुरु ने केवल एक ही विवाह किया। कासंदिनी उसकी एकमात्र प्यारी पत्नी थी जिससे उसे दो बेटे और तीन बेटियाँ हुईं।

मृत्यु से पूर्व कुरु ने पूर्वी प्रांतों का शासन अपने छोटे बेटे बरदिय को सौंप दिया। उसका बड़ा बेटा कंबुजिय अपने पिता की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी बना। कंबुजिय अपने पिता की तरह वीर और परिश्रमी तो था किंतु वह अभिमानी, शक्की और दुष्ट स्वभाव का था। उसने गुप्त रूप से अपने भाई की हत्या करवा दी और इस भेद को छिपाए रखा। उसके बाद ५२५ ई० पू० में उसने मिस्र पर चढ़ाई करके उसे विजय कर लिया। अंत में भाई की हत्या ने उसे आत्मग्लानि से भर दिया। सन् ५२२ ई० पू० में उसने सात बड़े बड़े ईरानी सरदारों को बुलाकर उनसे भाई की हत्या का पाप स्वीकार करके आत्महत्या कर ली।

ईरानी सरदारों ने मिलकर हखामनीषी कुल के एक योग्य सरदार दारा को कंबुजिय का उत्तराधिकारी चुना। दारा कुरु से भी अधिक बुद्धिमान और योग्य शासक सिद्ध हुआ। शांति स्थापना के बाद दारा ने सात वर्ष ईरानी साम्राज्य का संगठन और उसका शासनप्रबंध ठीक करने में लगाए। उसने सारे साम्राज्य को बीस प्रांतों में विभाजित किया। हर प्रांत पर एक एक गवर्नर नियुक्त किया गया जिसे 'क्षत्रप' कहते थे। हर प्रांत की मालगुजारी निश्चित कर दी गई। उचित स्थानों पर फौजी छावनियाँ डाली गईं। साम्राज्य भर में पक्की सड़कों का जाल पूर दिया गया ताकि सेनाओं और डाक के आने जाने में सुगमता हो। हर प्रांत में क्षत्रप के साथ एक एक सेनापति और एक एक मंत्री नियुक्त किया गया। क्षत्रप और सेनापति दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र थे और सीधे सम्राट् से आज्ञा लेते थे। मंत्री उनके कामों की रिपोर्ट सम्राट् को देता था। अपने नाम से दारा ने सोने चाँदी के सिक्के ढलवाए जिससे व्यापार में सुविधा हो। जनता को अधिक से अधिक समृद्ध बनाने का दारा ने पूरा पूरा प्रयत्न किया। ३६ वर्ष तक राज्य करने के बाद ६३ वर्ष की अवस्था में ४८६ ई० पू० में दारा की मृत्यु हुई। दारा की गणना संसार के बड़े से बड़े उदार, दक्ष और दयावान सम्राटों में की जाती है।

दारा के बाद उसका बेटा क्षयार्षा गद्दी पर बैठा। मिस्र के विद्रोह को दबाने के लिये उस क्षयार्षा ने मिस्र पर हमला किया। उसके बाद क्षयार्षा की यूनानियों के साथ कई लड़ाइयाँ हुईं जिनमें थर्मापिली की लड़ाई इतिहास में प्रसिद्ध है। २० वर्ष तक राज्य करने के बाद क्षयार्षा का धोखे से वध कर डाला गया।

क्षयार्षा की मृत्यु के पश्चात् एक के बाद एक सात सम्राट् गद्दी पर बैठे। कभी कभी ईरानियों और यूनानियों में लड़ाइयाँ हुईं लेकिन यूनान के एक बड़े भाग पर और भूमध्य सागर के एशियाई किनारे के सब इलाकों पर ईरानियों का अधिकार रहा। यह स्थिति उस समय तक कायम रही जब ३३१ ई० पू० में अरबेला के मैदान में सिकंदर महान् ने दारा तृतीय को हराकर कुरु का राजमुकुट अपने सर पर रखा। यूनानी इतिहासलेखक स्वीकार करते हैं कि वीरता और साहस में ईरानी यूनानियों से एक इंच पीछे नहीं थे। किंतु यूनानियों के नए सैनिक संगठन, अच्छे हथियारों और सिकंदर के असाधारण व्यक्तित्व के आगे ईरानियों को सर झुकाना पड़ा। यूनानी सेनाओं ने सरकारी कोषागारों और महलों की लूट के बाद ईरानी कला के बहुमूल्य नमूने भी नष्ट कर दिए। अकेले शूश नगर की लूट में सिकंदर को ७३६० मन सोना और ३२,८४५ मन चाँदी मिली थी।

ईरान विजय के नौ वर्ष के भीतर ही सिकंदर की बाबुल में मृत्यु हो गई। सिकंदर के एशियाई क्षेत्रों पर उसके सेनापति सेल्यूकस का अधिकार हो गया। सेल्यूकस के उत्तराधिकारी ईरान पर लगभग १४० वर्षों तक शासन करते रहे। अंत में १७४ ई० पू० में ईरान के एक प्रांत पार्थिया के राजा मित्रदत्त प्रथम ने यूनानियों को सारे ईरान से निकाल बाहर कर दिया। पार्थी सम्राटों ने चार सौ वर्षों से ऊपर अर्थात् २३६ ई० तक ईरान पर राज किया। भारत के साथ उनका घनिष्ठ संबंध था। वे अपने को अहुरमज़्द के सेवक या प्रतिनिधि भी कहते थे।

राजनीतिक निर्बलता के साथ साथ ईरान फिर से संकुचित दृष्टि वाले पुरोहितों के जाल में फँस गया था। धर्म केवल ऊपरी रीति रिवाज की चीज रह गया था। सच्चाई की जगह अंधविश्वासों ने ले ली थी। नई नई रचना करने और उन्नति करने की शक्ति भुला जनता केवल कर्मकांड में फँसकर रह गई थी। उस गँदले पानी को साफ करके धर्म की प्रारंभिक पवित्रता को फिर से वापस लाने के लिये ईरान में महात्मा ज़रतुश्त के बाद कोई नया महापुरुष नहीं पैदा हुआ। सिकंदर ने हखामनीषी साम्राज्य को मिटाकर सम्राट् अशोक के बौद्ध प्रचारकों के लिये रास्ता खोल दिया। सेहून (सीर) और जेहून (आमू) नदियों के किनारे से लेकर हीरमंद तक पूर्वी ईरान बौद्ध प्रचारकों और बौद्ध भिक्षुओं से भर गया। सुग़द से लेकर सीस्तान तक बौद्ध मंदिर और बौद्ध मठ खड़े हो गए। ईरान में जो गरमागरमी और जोश बौद्ध धर्म के प्रचार से पैदा हुआ उससे एक अजीब तरह का नया संगम बना जिसमें ज़रतुश्ती, ईसाई और बौद्ध तीनों धर्म आकर मिल गए। ईरान के इस नए मजहब का नाम 'मानी मज़हब' था।

मनुष्य जीवन के संबंध में महात्मा मानी के विचार बुनियादी तौर पर बौद्ध विचार थे। उनका कहना था कि यह दुनिया दुःख की घाटी है। मनुष्य का जीवन स्वभावतः दर्द और रंज का जीवन है। इससे मुक्ति या निजात का एक ही उपाय है और वह है त्याग और इंद्रियों को वश में करना। उसी का अंतिम परिणाम है फ़ना यानी अपने अलग अस्तित्व को मिटा डालना।

महात्मा मानी सन् २१६ ई० में पैदा हुए। सन् २४३ ई० में वे ईरान के सम्राट् शापुर से मिले और उन्हें करीब करीब अपने धर्म का समर्थक बना लिया। किंतु अंत में मागी पुरोहितों के षड्यंत्र के कारण उन्हें सन् २७७ ई० में सूली पर चढ़ा दिया गया।

तीसरी शताब्दी के प्रारंभ में ईरान में पार्थी सत्ता समाप्त होती है और उसकी जगह सासानी राजकुल की सत्ता आरंभ होती है। सासानी कुल का संस्थापक सासान पर्सपोली में एक मंदिर का पुजारी था। सासान की पत्नी राम बहिश्त बजरंगी के राजा की बेटी थी। उनका बेटा बाबेक एक साधारण हाकिम था। बाबेक का बेटा आर्तक्षत्र (आर्देशिर) सन् २३६ ई० में सारे ईरान का अधिराज बन गया। सासानी राजकुल ने एक बार हखामनीषी कुल की तरह ईरान के यश और कीर्ति को दूर दूर तक फैलाया। आर्तक्षत्र के बाद उसका बेटा शापूर प्रथम गद्दी पर बैठा। यह वह समय था जब ईरान और रोम में बराबर युद्ध जारी थे। उन्हीं में से एक में शाहपुर ने रोम के सम्राट् बेलेरियन को क़ैद कर लिया।

सासानी राजकुल सम्राट् अनुशीरवाँ अथवा नौशेरवाँ आदिल के समय अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा। अनुशीरवाँ ने सन् ५३१ ई० से सन् ५७९ ई० तक ईरान पर शासन किया। अनुशीरवाँ एक वीर सिपाही और चतुर सेनापति था। रोम के सम्राटों से वह लगातार युद्ध करता रहा और सिर्फ़ एक बार छोड़कर वह रोम से सदैव जीता। उसने इथियोपिया, तुर्की और एक दर्जन अन्य नए प्रदेशों पर विजय प्राप्त की। अपनी ८० वर्ष की अवस्था में उसने स्वयं रणस्थल में उतरकर रोमी सेना को तितर बितर किया। उसका साम्राज्य सिंधु नदी से लेकर भूमध्य सागर तक, लाल सागर से लेकर कास्पियन समुद्र तक और आमू नदी से लेकर सीर दरिया तक फैला हुआ था।

अनुशीरवाँ वीर, परिश्रमी, संयमी और उदार था। गिबन लिखता है कि अनुशीरवाँ का शासन—'निष्पक्ष, दृढ़ और जीवनप्रद था।' इसलाम के पैगंबर मोहम्मद साहब अभिमान के साथ कहा करते थे—'मैं न्यायप्रिय अनुशीरवाँ की शाहंशाहियत के जमाने में पैदा हुआ हूँ।' प्रजा की भलाई का उसे सदैव ध्यान रहता था। साहित्य की ओर उसे विशेष रुचि थी। न्याय का वह अनन्य प्रेमी था। उसने विज्ञान और दर्शन की उन्नति के लिये बहुत कुछ किया। मानव जाति के बड़े से बड़े उपकारी नरेशों में अनुशीरवाँ की गिनती की जाती है।

सासानी कुल के २८ सम्राटों ने सन् २२६ ई० से लेकर ६५१ ई० तक—४२५ वर्ष—ईरान के ऊपर राज किया। अनुशीरवाँ के पश्चात् निर्बल और निकम्मे सम्राट् गद्दी पर बैठे। सन् ६२८ ई० में सम्राट् परवेज़ को कत्ल करके उसका बेटा कबाद चतुर्थ गद्दी पर बैठा। कबाद और यज़्दगिर्द तीसरे के बीच, केवल पाँच वर्ष की अवधि में, एक के बाद एक ११ व्यक्ति एक दूसरे की हत्या कर ईरान के तख्त पर बैठे। चारों तरफ़ अशांति छाई हुई थी। साम्राज्य टुकड़े टुकड़े होकर बिखर रहा था। जिसे देखो वही सम्राट् बनने का इच्छुक था। १६ जून, सन् ६३२ ई० को यज़्दगिर्द तीसरा गद्दी पर बैठा। यह वह समय था जब अरब इसलाम के झंडे के नीचे नई आ खड़ा हुआ था। मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद अरबों और ईरानियों में टक्करें हुईं। कई युद्धों के बाद सन् ६४२ ई० में मेहवंद की लड़ाई में ईरानी साम्राज्य की किस्मत का फ़ैसला हो गया। सम्राट् यज़्दगिर्द जान बचाकर भागा। अंत में सन् ६५१ ई० में अपने ही एक देशवासी के हाथों यज़्दगिर्द की मृत्यु हुई। समस्त ईरान पर अरबों का कब्जा हो गया। क्लीमेंट हुआर्ट के शब्दों में—'समस्त ईरान ने इसलाम धर्म स्वीकार कर लिया, किंतु ईरान का हृदय नहीं बदला। उसकी वेशभूषा नहीं बदली, उसके आचार विचार, रहन सहन, संस्कृति और भाषा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। थोड़े ही अरसे में पराजित ईरान ने विजेता अरबों को अपनी संस्कृति का प्रशंसक और अनुयायी बना लिया।'

सन् ६५० तक अरबों ने ईरानी साम्राज्य के बलख और आक्सस प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। केवल उत्तरी मीडिया (तबारिस्तान) का इलाका आगामी सौ वर्षों तक सामंत इलाका बना रहा। अरबों ने राजकीय स्तर पर ज़रतुश्ती धर्म के प्रति सहिष्णुता बनाए रखी किंतु धीरे धीरे ज़रतुश्ती धर्म का ईरान से लोप हो गया। हज़ारों की संख्या में ज़रतुश्ती धर्मावलंबियों ने भारत के पश्चिमी किनारे पर आकर शरण ली। ईरान में उनकी बस्तियाँ अब भी यज़्द के नखलिस्तान में पाई जाती हैं। ईरान की अधिकांश जनता ने इसलाम के अंतर्गत शिया मत को स्वीकार कर लिया।

इसके पश्चात् राजनीतिक दृष्टि से ईरान का इतिहास शताब्दियों तक कोई महत्व नहीं रखता। उमैया और उनके बाद अब्बासी खलीफाओं की हुकूमत ईरान पर कायम रहती है। बाद के अब्बासी खलीफाओं की निर्बलता के जमाने में ९०० से १२२९ ई० तक ईरान के एक बड़े भाग पर समानी कुल का आधिपत्य कायम हो जाता है। समानियों के शासन में ईरानी साहित्य और कला की आशातीत उन्नति के लक्षण दिखाई देते हैं। १०वीं शताब्दी के प्रारंभ में बुवैहिदों की हुकूमत भी ईरान के एक छोटे से भाग पर कायम होती है किंतु गजनवियों के आगे उन्हें सर झुकाना पड़ता है। महमूद गजनवी ने ईरान के एक बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। महमूद के ही शासनकाल में महाकवि फिरदौसी ने 'शाहनामा' नामक अपना अमर महाकाव्य लिखा जिसमें प्राचीन ईरानी नरेशों की कीर्ति और यश का बखान किया गया है।

समानियों के पतन और मंगोलों के ईरान पर आधिपत्य के बीच के काल में पाँच या छः बड़े राजकुल और लगभग ४० छोटे छोटे राजकुल ईरान के राजनीतिक रंगमंच पर अवतरित हुए और थोड़ी देर चमक कर लुप्त हो गए। अब्बासी खलीफा ईरान के नाममात्र के अधिराज बने रहे। १३वीं सदी के उत्तरार्ध में ईरान पर मंगोल सरदार चंगेज़ खाँ का शासन कायम हुआ। चंगेज़ की मृत्यु के बाद उसका मंगोल साम्राज्य उसके सरदारों में बँट गया। उसके एक सरदार तुले या तुलई के हिस्से में ईरान का राज्य आया। तुलई के बाद उसका बेटा हुलाकू ईरान का वास्तविक सम्राट् बना। हुलाकू सन् १२५६ ई० में ईरान के तख्त पर बैठा। लगभग ६०० वर्ष के बाद ईरान का खंडित राज्य एक राष्ट्रीय इकाई बना। सन् १२५८ ई० में हुलाकू ने बग़दाद पर आक्रमण करके अब्बासी खलीफाओं की सल्तनत का सदा के लिये अंत कर दिया। हुलाकू के समय ईरान का साम्राज्य फिर एक बार उन्नति की चोटी पर पहुँच गया। हुलाकू ने ज्ञान विज्ञान, कला-कौशल, गणित और ज्योतिष को काफी प्रोत्साहन दिया। ईरान में मंगोल सत्ता तैमूर की मृत्यु (१४०५ ई०) के साथ बिखरने लगी। तैमूर के चौथे पुत्र शाह रुख ने, जो खुरासान का गवर्नर था, सन् १४४७ ई० तक ईरान पर अपना आधिपत्य कायम रखा।

सन् १४९९ से १७३६ ई० तक सफ़वी राजकुल की सत्ता ईरान पर कायम रही। इस सारे समय में ईरान की तुर्की के साथ कई लड़ाइयाँ हुईं। सफ़वी नरेशों में शाह इस्माईल और उसका बेटा तथा उत्तराधिकारी शाह तहमास्प काफी योग्य शासक साबित हुए।

सफ़वी खानदान की समाप्ति पर ईरान के तख्त पर सन् १७३६ ई० में नादिर शाह का अवतरण हुआ। नादिर शाह ने सबसे पहले तुर्की पर आक्रमण किया। पहल युद्ध में तो वह पराजित हुआ किंतु बाद के दो युद्धों

में उसने टर्की को पूरी तरह पराजित किया और ईरान का वह सब भाग वापस ले लिया जिसपर तुर्की ने कब्जा कर लिया था। सन् १७३८ में उसने दिल्ली पर आक्रमण की तैयारी की। रास्ते में पहले उसने कंधार पर और फिर काबुल पर कब्जा किया और अंत में दिल्ली पर आक्रमण किया। दिल्ली से लौटकर नादिर शाह ने बुखारा और खीब पर आधिपत्य किया। सन् १७४७ में अपनी हत्या से पहले नादिर शाह ने ईरान के रुतबे को फिर एक बार ऊँचा कर दिया।

नादिर शाह की मृत्यु के बाद ईरान गृहयुद्धों और इंग्लिस्तान और फ्रांस की साजिशों का केंद्र बन गया। सन् १९०६ में ईरान में शाह के अंतर्गत वैधानिक सरकार की स्थापना हुई। ३१ अक्तूबर, सन् १९२५ को ईरान की पार्लमेंटी मजलिस ने अपने प्रधान मंत्री रज़ा खाँ को ईरान का बादशाह घोषित किया। ईरान के वर्तमान नरेश (१९६०) रज़ा शाह पहलवी रज़ा खाँ के बेटे हैं। ईरान के रेगिस्तानी इलाके में तेल का अंतहीन जखीरा है। उसी तेल के लोभ में यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों ने ईरान को अपने प्रभाव में जकड़ रखा है। ईरानी देशभक्त इस जकड़ से छूटने के प्रयत्नों में लगे हुए हैं।

अरबों की ईरान विजय से लेकर अब तक ईरान की सांस्कृतिक आत्मा बार बार अपनी महानता का परिचय देती रही है। पूर्वी ईरान, विशेषकर खुरासान बौद्ध धर्म का शताब्दियों तक केंद्र रहा है। तसव्वुफ़ अथवा इसलामी वेदांत के फूल सबसे पहले इसी इलाके में खिले। प्रारंभ के प्रसिद्ध सूफ़ी इब्राहीम अजम, अहमद खजविया, अबूअली शकीक, हातम आसम, यहिया बिन मआज, बायजीद विस्तामी और अबूबक्र शिबली सब खुरासान के ही रहनेवाले थे। फाराबी, इब्न सीना, अबू रेहान, अलबेरूनी जैसे प्रसिद्ध विचारक और दार्शनिक सब उसी इलाके के थे। इसी इलाके में तूस के रहनेवाले अल ग़िज़ाली ने, जो इसलाम का सबसे बड़ा विद्वान् माना जाता है, तसव्वुफ़ के ऊपर अगणित विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें लिखीं। इसी प्रदेश में अब्दुल रहमान नूरुद्दीन जामी, फरीदुद्दीन अत्तार और अब्दुल मज्द सनाई हुए जिनकी आध्यात्मिकता की छाप सारे एशिया पर लगी। यहीं संतों के सरताज मौलाना जलालउद्दीन रूमी हुए जिनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मसनवी' संसार के आध्यात्मिक साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती है।

यह स्वाभाविक था कि ईरान का वही हिस्सा जो भारत के धार्मिक विचारों से ओतप्रोत था इसलाम के आगमन के बाद ईरानी संस्कृति की बेदारी और इसलामी तसव्वुफ़ का सबसे बड़ा केंद्र साबित हुआ। बलख का ही रहनेवाला ख़ालिद, जो बलख के बौद्ध पुरोहितों के खानदान का था, अब्बासी खलीफाओं का 'बरामिकी वजीर' बना। उसने बहुत सी संस्कृत पुस्तकों का अरबी में अनुवाद करवाया। इस तरह हम देखते हैं कि राज्य-परिवर्तन और धर्मपरिवर्तन के बावजूद ईरान ने अपनी सांस्कृतिक ऊँचाई को कायम रखी।

सं०ग्रं०—एशियाटिक रिसर्चेज की जिल्दें; जेम्स डारमेस्टर : दि सीक्रेट बुक ऑव दि ईस्ट, भाग १४; दि ज़ेंद अवस्ता; एम० एन० धल्ला : जोरोआस्ट्रियन सिविलाइज़ेशन; जेनेद ए० रागोज़िन : बैबीलोन ऐंड पर्शिया; क्लीमेंट हुआर्ट : एंशेंट पर्शिया ऐंड ईरानियन सिविलाइज़ेशन; गिबन : डिक्लाइन ऐंड फाल ऑव रोमन एंपायर; पी० केरशास्प : स्टडीज़ इन एनशेंट पर्शियन हिस्ट्री; ई० जी० ब्राउन : ए लिटररी हिस्ट्री ऑव पर्शिया; सर जे० मैलकम : दि हिस्ट्री ऑव पर्शिया (१८१५); सर विलियम म्यूर : हिस्ट्री ऑव दि कैलीफ़ेट, इट्स राइज़, डिक्लाइन ऐंड फ़ाल; विश्वंभरनाथ पांडे : ज़रथुस्त्री धर्म और ईरानी संस्कृति (१९५२)।

[वि० ना० पां०]

ईरानी चित्रकला जिन विद्वानों ने ईरानी वस्त्रों, मीनाकारी चौकों और चित्रों का अध्ययन किया है उन्हें पता है कि ईरानी अपनी नक्काशी के लिये संसार में प्रसिद्ध हैं। ईरान में बने कालीन रंगों के संतुलन और अलंकरण के प्रत्यावर्तन के लिये प्रसिद्ध हैं तथा वहाँ की प्राचीन कला के मुख्य अभिप्राय ज्यामितिक और पशुरूप हैं। हखमनी युग की ईरानी कला पर असूरिया का प्रभाव स्पष्ट है, पर ससानी युग से ईरानी कला अपना एक निजस्व रखती है। रंगामेजी तथा चित्रांकन में ईरानी कला का संतुलन अरब, मंगोल और तैमूरी अभियानों के बावजूद अपना निजस्व बनाए रखता है।

मनीखी चित्रित पुस्तकों के जो अंश नष्ट होने से बच गए हैं उनसे पता चलता है कि उस कला का मुस्लिम युग की आरंभिक कला से सीधा संबंध है। इस्लाम के आदेश से ईरान में भी मूर्ति का निर्माण रुक गया, पर अरबों की विजय से उस देश का संबंध दूसरे देशों से बढ़ा और कला के क्षेत्र में भी अनेक अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव उसकी कला पर पड़े। एशिया पर मंगोल विजय के बाद सुदूर पूर्व का रास्ता खुल गया और ईरानी कला पर चीनी कला का प्रभाव स्पष्ट रीति से पड़ने लगा। तैमूरी सुल्तानों में तो अपने दरबार में अच्छे से अच्छे चित्रकारों को एकत्र करने की होड़ सी लगने लगी। इस विदेशी सत्ता का प्रभाव ईरान के जनजीवन पर अच्छा नहीं पड़ा; फिर भी यह अजीब बात है कि इन विदेशियों के अधीन ईरानी कला की आशातीत उन्नति हुई, जो ईरान के राष्ट्रीय शाह सफावियों के समय में रुक सी गई। इसका यही कारण हो सकता है कि जब तक देश में जीवन था, कला और युद्ध साथ साथ चले, पर शक्ति के समाप्त होने पर एकता के साथ ह्रास के लक्षण भी साफ साफ दीख पड़ने लगे।

आरंभिक युग में ईरानी कला का संबंध मनीखी धर्म से था पर २९० ई० में उस धर्म के संस्थापक मनि, जो चित्रकार भी थे, मार डाले गए और उनकी चित्रित पुस्तकें जला दी गईं। पर कला इन सब घटनाओं से मरती नहीं। मुस्लिम युग के आरंभिक काल में धर्म से कला का संबंध टूट गया पर कुछ चित्रकार रईसों और सुल्तानों के आश्रय में अपनी कलासाधना करते रहे। संभव भी यही था क्योंकि इस युग में चित्रों की सामग्री, यानी चटकदार रंग, सोना और कागज इतने महँगे थे कि उनका उपयोग केवल राजाश्रित चित्रकार ही कर सकते थे। चित्रों को सुंदरतापूर्वक बनाने में भी इतनी मेहनत पड़ती थी कि साधारण जन उसका मेहनताना भरने में असमर्थ थे। ईरानी चित्रकला रेखाओं की मजबूती और मोर मुरक के लिये प्रसिद्ध है, उसमें साया देने की क्रिया का अभाव है तथा चेहरे की बनावट तीन चौथाई चश्मी में दिखलाई जाती है। शरीर का अधिक भाग ढका होने से उसकी विशेषता दिखलाने के प्रयत्न का अभाव दीख पड़ता है। इन चित्रों की पृष्ठभूमि वासंती सूर्य की प्रभा से अनुप्राणित रहती है और सैरे में सुपुष्पित वृक्षों, पहाड़ियों और बहते हुए नालों का अंकन रहता है।

ईरानी चित्रकला का असली इतिहास अब्बासी युग (७५०–१२५८) से आरंभ होता है। इस युग की चित्रित पुस्तकों का लेखन अब्बासियों की राजधानी बगदाद में हुआ। इसमें संदेह नहीं कि इस चित्रकला के परिवर्धन में ईरानियों का बड़ा हाथ था, पर उसमें पूर्व के ईसाई चित्रकारों की कारीगरी भी स्पष्ट है। आरंभ में वैद्यक, ज्योतिष और भौतिक शास्त्र के ग्रंथों को चित्रित करने की आवश्यकता पड़ी। इस वर्ग की चित्रित पुस्तकें अधिकतर १२वीं सदी की हैं। इनमें राशियों तथा जलयंत्रों को चित्रित करनेवाली पुस्तकें थीं जिनमें अल जज़री लिखित यंत्रशास्त्र तथा दियोसकारिदेस मुख्य हैं। एक उल्लेखनीय बात यह है कि दियोसकारिदेस (छठी सदी की प्राचीन चित्रित और अलंकृत पुस्तकें, जिनके आधार पर मध्यकाल तक अलंकृत प्रतिलिपियाँ बनती रहीं) की चित्रित पुस्तकों में वनस्पतियों के चित्र तो यूनानी ढंग के हैं पर मानव आकारों का अंकन, रंगामेजी और वेशभूषा मनीखी चित्रों और बीज़ानतीनी कुट्टमित भूमि की याद दिलाते हैं। इन वैज्ञानिक पुस्तकों के लिखवाने और चित्रण कराने का श्रेय तो रईसों को है पर इब्न मुकफ्फा के कलीला व दिम्ना और हरीरी के मकामात को चित्रित कराने का श्रेय दूसरों को है। पहली पुस्तक संस्कृत के पंचतंत्र का अनुवाद है और दूसरी में अबूज़ैद के चतुराई भरे कारनामों के किस्से हैं। इन पुस्तकों की जो भी हस्तलिखित प्रतियाँ बच गई हैं उनसे पता चलता है कि सादगी होने पर भी उनकी रेखाओं में जान है। वैसे उनके रंग साधारण हैं। इनके चित्रों से १२वीं सदी के अरब जीवन पर काफी प्रकाश पड़ता है। कुछ विद्वानों ने यह भी सुझाया है कि इनमें से कुछ पुस्तकें शायद महमूद ग़ज़नवी (९९८–१०३०) के राज्यकाल में ग़ज़नी में लिखी गईं क्योंकि वहीं फिरदौसी ने शाहनामा लिखकर ईरान की प्राचीन विभूति को पुनः जागरित किया था। पर यह धारणा निर्मूल है। ठीक बात तो यह है कि १२वीं सदी की अब्बासी कला का इराक और ईरान में एक ही रूप था।

ईरान के इतिहास की यह एक अजीब घटना है कि मंगोल अभियानों ने उसकी संस्कृति और अर्थव्यवस्था को नष्ट करके भी कला को बड़ा प्रोत्साहन

दिया। १४वीं सदी जिस तरह ईरानी काव्य का स्वर्ण युग है उसी तरह चित्रकला का भी। तैमूर के वंशजों के युग में चित्रकला परिणति को प्राप्त हुई पर सफावी युग में उसकी प्रगति रुक सी गई। १४वीं सदी की ईरानी चित्रकला को मंगोल शैली कहा गया है, क्योंकि उसमें मंगोलों की आकृतियों, वेशभषा और रहन सहन का चित्रण है। पर वास्तविकता यह है कि इस नवीन शैली का उद्गम चीन था तथा इस शैली ने ईरानी शैली को एक नई दिशा दी। पशुपक्षियों तथा वृक्षों के अंकन में नवीनता इस शैली की विशेषता है।

प्रसिद्ध मंत्री और इतिहासकार रशीदुद्दीन (१२४६–१३१८) ने तबरीज़ के बाहर एक उपनगर बनवाया और वहाँ अपनी पुस्तकों के चित्रण के लिये बहुत से चित्रकार रखे। १३०६ और १३१२ के बीच बने जामि-उत्तवारीख़ के चित्रों से पता चलता है कि उनमें बाइबिल, मुहम्मद के जीवन और बौद्ध घटनाओं के अंकन भिन्न भिन्न शैलियों के द्योतक हैं। मंगोल इतिहास संबंधी चित्रों में चीनी प्रभाव स्पष्ट है। रशीदुद्दीन की मृत्यु के बाद अरब साहित्य की अनेक पुस्तकों का चित्रण, जिनमें दमोत का शाहनामा भी है, शैलीगत आधारों पर शायद १३३० में हुआ। इसके चित्रों से यह विदित होता है कि इस युग में ईरानी शैली धीरे धीरे अपना निजस्व स्थापित करती जा रही थी।

१३८१ और १३९२ के बीच ईरान पर तैमूर के खूनी आक्रमण हुए। उनके साथ ही ईरानी संस्कृति पर चीन का प्रभाव बढ़ा। तैमूर ने समरकंद में बहुत से कलाकार इकट्ठे कर लिए थे जिससे कला की उन्नति में कोई अवरोध नहीं पड़ा। तैमूरी युग के चित्र प्रारंभिक चित्रों से कहीं प्रशस्त हैं। जमीन और आसमान दिखलाने की प्रथा, भिन्न भिन्न खंडों में आकृतियों और घटनाओं का प्रदर्शन तथा सैरे का वास्तविक अंकन इस शैली की विशेषताएँ हैं। शाहनामा, लैलामजनूँ, कज़वीनी की तारीख़–ए–गुज़ीदा, इस्कंदरनामा इत्यादि के चित्रों से आरंभिक तैमूरी युग के चित्रों की शैली का पता चलता है।

शाहरुख की मृत्यु (१४४७) के बाद उस समय कला और साहित्य के प्रसिद्ध उन्नायकों में हेरात के सुल्तान हुसैन इब्न बैकरा (मृत्यु १५०६) का नाम आता है। वास्तव में हेराती शैली के संस्थापक सुल्तान हुसैन के मंत्री अली शीर नवाई थे। चित्रों की माँग होने से बहुत से चित्रकार हेरात में इकट्ठा हो गए, जिनमें बिहज़ाद का स्थान मुख्य था। हेरात के चित्र-कारों ने कोई नई शैली न चलाकर प्रचलित ईरानी शैली को खूब माँजा। बिहज़ाद की कला के बारे में अभाग्यवश विद्वानों में मतैक्य नहीं है। जो चित्र बिहज़ाद के माने जाते हैं वे उनकी कृतियाँ हैं अथवा नहीं, इसपर भी कुछ विद्वान् बहुत खोज के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि रंगामेजी, नक्काशी और सैरा के आलेखन में वे बेजोड़ थे तथा युद्ध का चित्रण उनकी विशेषता थी।

सफ़ावी युग ईरान की चित्रकला का राष्ट्रीय युग कहा जा सकता है। सफ़ावी शैली का रुख रूढ़ि की ओर था। इस युग के पहले ही ईरानी शैली काफी मँज चुकी थी इसलिये चित्रकारों ने इसमें कोई नवीनता लाने की आवश्यकता नहीं समझी। अब उनका ध्यान सब ओर से हटकर आलेखन और विषयसंकलन की ओर लग गया। फिरदौसी, निजामी और सादी के काव्यों के चित्रण की मांग बढ़ गई थी। सफ़ावी शाह ईरान के ही थे, इसलिये उनकी कलम में कुछ प्राचीन रूढ़ियों की आशा की जा सकती है; पर वास्तव में चित्रकला में इस रूढ़ि के चिह्न कम ही मिलते हैं। तहमास्पकालीन चित्रों में पशुपक्षियों से अलंकृत हाशिए की प्रथा चल पड़ी। चित्रकारों का ध्यान राजसी दृश्यों से हटकर कभी कभी देहाती दुनिया पर भी पड़ने लगा। तत्कालीन वेशभूषा और रस्म रिवाज के अध्ययन के लिये ये चित्र अपनी विशेषता रखते हैं। प्रसिद्ध चित्रकारों में मीर सय्यद अली, मीरक और सुल्तान मुहम्मद, जो पशुओं के चित्रण में प्रसिद्ध थे, के नाम लिए जा सकते हैं। शाह तहमास्प के अंतिम दिनों में (१५७४) ईरानी चित्रकार धीरे धीरे पुस्तकचित्रण की प्राचीन प्रथा से विलग होने लगे तथा अच्छे चित्रकार शबीह बनाने और वनभोजन इत्यादि के अंकन में लग गए। चित्रकला और लिपिकला के संबंधविच्छेद से कला ने एक नया रूप ग्रहण किया जिसके फलस्वरूप ईरानी कपड़ों में भी शबीहों की नकल होने लगी।

बाद की सफावी चित्रकला पुस्तक आलेखन से बिलकुल अलग हो गई पर साथ ही साथ वह रूढ़िगत भी होती गई। चित्रकार स्याहकलम चित्र बनाने लगे और सस्ते पड़ने से उनकी जनता में माँग काफी बढ़ गई। इस शैली के आचार्य रिज़ा अब्बासी माने गए हैं जो शाह अब्बास प्रथम (१५८७-१६२९) के समकालीन थे। १७वीं सदी में ईरानी कला पर यूरोपीय प्रभाव भी पड़ा पर वह प्रभाव परिसीमित ही रहा। अलंकरण में यूरोपीय चित्रों से कुछ अंश नकल करके उनके चारों ओर ईरानी दृश्य और आकृतियाँ भर दी जाती थीं।

शाह अब्बास द्वितीय के बाद ईरानी कला का क्रमशः ह्रास होने लगा तथा चित्रकार पुरानी चित्रित पुस्तकों की नकल में अथवा स्याह-कलम तसवीरें बनाने में अपना समय लगाने लगे। १९वीं सदी म तो यूरोप से प्रभावित ईरानी चित्रकला की अपनी कोई हस्ती नहीं रह जाती।

ईरानी सुलेख-करीब दो हजार वर्षों से लेखनकला ईरान की राष्ट्रीय भावनाओं और रसानुभूति की द्योतक रही है। मध्य युग में सुलेखन कला चित्रकारों तथा नक्काशों की कलाओं का मुख्य अंग बन गई। चित्रकला और सुलेखन कला का चोली दामन जैसा साथ हो गया, यहाँ तक कि ईरान के अनेक चित्रकारों ने अपनी कला सीखने के पहले सुलेखन कला यानी खुशक़ती का अभ्यास किया। ईरान के प्राचीन इतिहास में लेखन की शैलियाँ अनेकों बार बदलीं, पर सुलेखन का सिद्धांत कभी नहीं बदला।

हखमनी युग में कीलाक्षरों की सुंदरता रंगों के उपयोग से बढ़ाई गई तथा ससानी युग में जरथुस्त्र के वचन झिल्लियों पर सुवर्णाक्षरों में लिखे गए। मनीखियों ने अपने धर्मग्रंथ एक विशेष लिपि में अच्छे से अच्छे कागज पर रंगीन स्याहियों से लिखे। ईरानी में अरबों के आने के बाद अरबी लिपि का प्रचार हुआ और कुरान के सिद्धांतों के अनुसार रस-प्रदायक खुशक़त पर विशेष ध्यान दिया गया। अरबी के अनेक बड़े बड़े विद्वानों ने खुशक़ती पर अपने सिद्धांत प्रकट किए। १९वीं सदी के अंत में चौबीस तरह की भिन्न भिन्न लिपियाँ थीं जिनमें रयासी, जिसके तेरह भेद थे, मुख्य थी। इस लिपि का प्रवर्तक एक ईरानी था। १०वीं सदी की ईरानी सुलिपि के उदाहरण कम मिलते हैं और जो मिलते भी हैं उनमें कूफी लिपि की बहुलता पाई जाती है, फिर भी ईरानी शैली में अपना निजस्व मिलता है। कूफी लिपि की मोर मुरक और उतार चढ़ाव आलंकारिक दृष्टि से महत्व के हैं और उसकी इस विलक्षणता का उपयोग ईरानियों ने अपने ढंग से किया। पर इसका यह अर्थ नहीं कि सीधी सादी पर सुंदर लिपि का उपयोग ११वीं सदी में नहीं होता था।

सेलजुक साम्राज्य की स्थापना के युग में सुलिपिकारों के सामने लिपि लिखने के अनेक तरीके वर्तमान थे पर उन सबका यही उद्देश्य था कि लेखों की सामग्री चाहे कुछ भी हो, उनकी सुंदरता आकर्षक हो तथा अक्षरों की सजावट मिल जुलकर नक्काशी का रूप धारण कर ले। इन लिपियों में कूफी का मुख्य स्थान था पर १२वीं सदी के अंत में नस्खी लेखनविधि का आरंभ हुआ। इस लेखनविधि की खास बात यह थी कि उसने कूफी लिपि के ठोसपन को दूर करके नाजुक मोर मुरकों को स्थान दिया। सुल्स लिपि का उद्देश्य अक्षरों के बढ़ाव चढ़ाव से आलंकारिकता बढ़ाना था। इस युग में खुशक़ती की प्रतियोगिता बढ़ी। १२वीं सदी के प्रसिद्ध खुशक़तनवीस नज्मुद्दीन अबूबक्र मुहम्मद का कहना है कि उसे ७० लिपियों को अलंकारिक ढंग से लिखने का अभ्यास था। उसने खुशक़ती पर एक पुस्तक भी लिखी जिसमें नस्खी, सुल्स, रिका और मुहक़्क़ लिपियों की लेखनशैली का वर्णन है। सुल्तान तुगरिल ने स्वयं खुशक़ती की शिक्षा पाकर अपने हाथों से कुरान की दो प्रतिलिपियाँ कीं।

१४वीं सदी में खुशक़ती की और उन्नति हुई तथा नस्खी और कूफी का उपयोग मस्जिदों को सजाने में किया गया। ईरानी सूफियों ने तो लिपि को परमात्मा के ज्ञान का साधन ही मान लिया और इसी उद्देश्य से अनुप्राणित होकर उस युग के कुछ सुलिपिकों ने अपने खतों की ऐसी योजना निकाली कि वे सूफी मत के प्रतिबिंब से बन गए। मंगोल युग में काशान खुशक़त-नवीसी का प्रधान केंद्र बना रहा।

नस्तलीक लिपि के परिवर्धन से तैमूरी युग को हम ईरानी खशक़तनवीसी का स्वर्णयुग कह सकते हैं। तैमूर का एक मंत्री अमीर बद्रुद्दीन स्वयं

ईरानी चित्रकला (देखें पृष्ठ २९)

मसनवी की एक पुस्तक का सुसज्जित चित्र, १६वीं सदी का पूर्वार्ध
(स्वर्गीय किर्कर मिनैशां के संग्रह से)

ईरानी चित्रकला (देखें पृष्ठ २९)
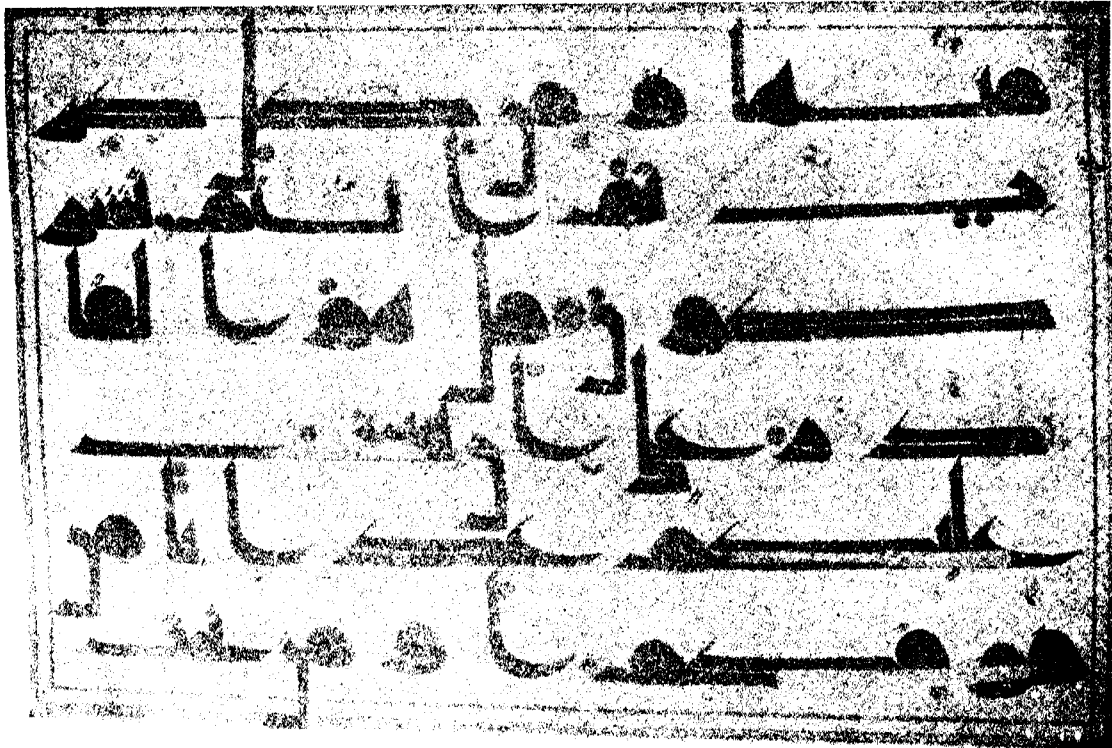
ऊपर : चित्रकला और लिपिकला का समन्वय लिए एक पृष्ठ
नीचे : नवीं-दसवीं सदी में लिखी गई कुरान का एक पृष्ठ (लंबाई १२ इंच)
(करकिन बशीर के संग्रह से)

खुशक़तनवीस था तथा सुल्तान के पोते इब्राहीम मिर्जा और बायसुंगुर (१३९९-१४३३) इस फन में माहिर थे। नस्तलीक लिपि अप्रयास ही आगे बढ़ी। उसमें एक ऐसी संस्कृति के दर्शन होते हैं जो आज तक ईरानी लिपि में बनी है। तैमूरी युग में दीवानी और दश्ती नाम की दो और लिपियाँ चलीं तथा तुग्रा का प्रयोग मस्जिदों के अभिलेखों के लिये किया गया।

कहा जाता है कि नस्तलीक चलाने का श्रेय तबरीज़ के मीर अली को है जो तैमूरी की नौकरी में थे। उनके पुत्र अब्दुल्ला ने उस लिपि की और उन्नति की। अब्दुल्ला के दो शागिर्द थे—मौलाना जफ़र अल्तबरीज़ी और मौलाना अज़हर तबरीज़ी (मृ० १४७५-७६)। मौलाना अज़हर ने, जो स्वयं बड़े सैलानी भी थे, इस लिपि का खूब प्रचार किया। उनके प्रधान शिष्य सुल्तान अली इब्नमुहम्मद अल-मशहदी, जो हेरात के सुल्तान हुसेन मिर्जा (१४७०-१५०६) की सेवा में थे, अपनी शैली के लिये विख्यात थे। ट्रांस-आक्सियाना के कुछ खुशक़तनवीसों ने नस्तलीक को एक नई दिशा देनी चाही, पर सुल्तान अली के प्रयत्न से उनकी कुछ न चल पाई। १५०७ में हिरात के उजबेगों के हाथ पड़ जाने पर सुल्तान अली ने विजेताओं की सेवा स्वीकार कर ली और मीर अली अल-हुसेनी बखारा चले गए जहाँ उन्होंने मीर अली की नस्तलीक शैली की नींव डाली।

१४२० में शीराज़ में महमूद इब्न मुर्तज़ा अल-कातिब अल-हुसैनी नस्तलीक के प्रसिद्ध लेखक हुए। एक दूसरे शीराजी याक़ूब इब्नहसन ने १४५४ में हिंदुस्तान आकर खुशक़तनवीसी पर तुहफ़ात-उल-मुहिब्बीन नामक एक ग्रंथ लिखा।

सफावी युग में ईरानी खुशक़तनवीसी में कोई हेर फेर नहीं हुआ पर इसमें संदेह नहीं कि खुशक़तनवीसों ने सफावी युग की चित्रकला और वास्तु पर काफी प्रभाव डाला। तबरीज़ के शाह महमूद नैशापुरी (मृ० १५४५) शाह इस्माईल के अधीन प्रसिद्ध खुशक़तनवीस थे। इनके हाथ की लिखी शाहनामा और खमसे की प्रतियाँ अब भी मौजूद हैं। बाबा शाह इस्फ़हानी (मृ० १६०३-४) इस युग के प्रसिद्ध सुलिपिक थे। वे तुर्की से हिरात में आकर बसे और वहाँ से तबरीज़ में। शाह अब्बास प्रथम के समय के उच्च कोटि के सुलेखकों में अली रिज़ा अब्बासी (जो चित्रकार रिज़ा अब्बासी से भिन्न हैं) का अपना स्थान था।

१७वीं सदी के मध्य में हाज्जी खलीफा (१६०८-५७) ने खुशक़तनवीसी पर कश्फ़अज़-जुनून लिखकर ईरानी सुलेखन के इतिहास और सिद्धांतों पर प्रकाश डाला। इसी युग म नस्तलीक लिपि के एक रूप शिकस्ता का जन्म हुआ।

१८-१९वीं सदी में ईरानी चित्रकला तो रूढ़िवाद के चक्कर में पड़कर अपना अस्तित्व खो बैठी पर सुलेखन कला की माँग बनी रही। १८वीं सदी में शफीआ के प्रयत्न से शिकस्ता की भी सुलिपियों में गणना होने लगी। १९वीं सदी में भी मिर्ज़ा अली मुहम्मद-ए-बाब (१८२१-५०) ने बाबी संप्रदाय चलाया तथा खत्त-ए-बदी यानी 'नई लेखनशैली' को जन्म दिया जिसका संबंध अर्मीनी अक्षरों से है जिसे कुछ बाबी ही समझ सकते थे। बाद में बहाइयों ने खत्तए-तंजीली यानी 'दर्शक लिपि' चलाई जिसका लघुलिपि होने से अधिक प्रचार नहीं हुआ। पर बहाई खुशक़तनवीसों का ध्यान शिकस्ता नस्तलीक की ओर अधिक था तथा प्रसिद्ध बहाई सुलेखक मुश्कीं कलम के खतों की आज दिन भी माँग है।

ईरान में खुशक़तनवीसी आरंभिक काल से ही धार्मिक भावनाओं का चेतन अथवा अचेतन रूप में प्रतीक थी। समयांतर म लिपि ने मंत्र-शक्ति का रूप ग्रहण कर लिया। तथा उसका प्रभाव ईरानी कला के सब अंगों पर पड़ने लगा। लिपि केवल अलंकारिकता के लिये ही नहीं रह गई, वह अपनी शान शौकत, तरलता और सुंदरता में अपने निजस्व के लिये भी प्रसिद्ध हो गई, जिसके फलस्वरूप अभिलेख सब कलाओं के अंग बन गए। वास्तु के अलंकरण में अभिलेखों के उत्खनन से उनके बड़े पैमाने में होने से अधिक सजीवता और सफाई आई जो कागज के परिमित पैमाने पर संभव नहीं थी। इमारतों पर स्थान काफी होने से कूफ़ी की अलंकारिकता बढ़ाने का सुयोग लेखकों को मिला, पर इमारती लिखाई होने से उसमें इमारती उपयोग की सीमाएँ आ गईं और इसी वजह से ऐसे अक्षरों की कल्पना की गई जो चतुष्कोणों में ठीक से बैठ सकें तथा अलंकरणों में घुलमिल जा सकें।

[मो० चं०]

ईरानी भाषा

ईरानी भाषा भारत-यूरोपीय भाषा परिवार की शाखा हिंद-ईरानी की उपशाखा, ईरानी, भारतीय उपशाखा की भाँति ही महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल में यह प्राचीन फारसी (पारसी) के रूप में एक राजकीय भाषा थी और अवेस्ती के रूप में धार्मिक भाषा। मध्य ईरानी के काल में दो प्रभूत जनभाषाएँ विकसित हुईं, पूर्व प्रदेश में सोग्दी और पश्चिमी प्रदेश में पहलवी। इनके अतिरिक्त फारसी बहुत समय तक एशिया के बड़े भूभाग में संस्कृति की भाषा रही।

प्राचीन फारसी ईरान के दक्षिण-पश्चिमी कोने की भाषा थी। इसका परिचय हमें कीलाक्षरों में खुदे हुए हख़ामनी बादशाहों के अभिलेखों से मिलता है। इनकी लिपि संभवत: अक्कदी लिपि से संबद्ध है। सबसे पुराना अभिलेख अरिय-रम्न (६१०-५८० ई० पू०) का बताया जाता है, किंतु सबसे महत्व के लेख बादशाह दारा (५२०-४८६ ई० पू०) के हैं जो उसके साम्राज्य में सर्वत्र पाए जाते हैं। इनमें भी बिहिस्तून का अभिलेख सर्वप्रसिद्ध है। प्राचीन फारसी के अतिरिक्त ये लेख अन्य दो भाषाओं (एलमी और बेबीलोनी) में भी पाए जाते हैं।

अवेस्ती धर्मग्रंथ की भाषा है। अवेस्ता अहुरमज़्द के उपासक पारसी लोगों का धर्मग्रंथ है। इसमें भिन्न भिन्न कालों में रचित उपासना और प्रार्थना के सूक्त पाए जाते हैं। ऋग्वेद की भाँति अवेस्ता भी श्रुति-परंपरा पर ही निर्भर थी और यह पहलवी वर्णमाला में सासानी बादशाहों के समय में लेखबद्ध की गई। विद्वान् इसके प्राचीन भागों का काल ईसा पूर्व आठवीं सदी निर्धारित करते हैं। यह ईरान के पूर्वी भाग की भाषा थी। प्राचीन ईरानी का अवेस्ती और प्राचीन फारसी को छोड़कर हमें और कोई लेख नहीं मिलता।

मध्य ईरानी के दो समुदाय हैं: एक पश्चिमी और दूसरा पूर्वी। पश्चिमी मध्य ईरानी को पहलवी कहते हैं। इस शब्द का संबंध पहलवीक् जाति से समझा जाता है। यह सासानी साम्राज्य (२२६ ई० पू०—६५२ ई०) की राजभाषा थी और इसमें लिखित बहुत से धार्मिक तथा अन्य ग्रंथ मिलते हैं। इनकी लिपि अरमीनी से प्रभूत तथा प्रभावित मालूम होती है।

मध्य ईरानी की कई भाषाओं के अभिलेख और पुस्तकें अभी ५०-६० वर्ष पूर्व तुर्फ़ान (पूर्वी तुर्किस्तान) में प्राप्त हुई हैं। इनमें पार्थी भाषा उल्लेखनीय है। मध्यकालीन फारसी भी इसी समुदाय की है। इसमें सासानी बादशाहों के अभिलेख मिलते हैं। यही भाषा पजंद नाम से अवेस्ती धर्म की पुस्तकों के लिय भी प्रयोग में आई है।

मध्य ईरानी के पूर्वी समुदाय में पूर्वी तुर्किस्तान में प्राप्त हुए साहित्य की भाषाएँ हैं। इनमें बुखारा और समरकंद के क्षेत्र की प्राचीन भाषा सोग्दी है जो एशिया के मध्यवर्ती विस्तृत क्षत्र की भाषा रही होगी। यह मंगोलिया से लेकर तिब्बत के सीमाप्रांत तक फली हुई थी। इसमें बौद्ध धर्मग्रंथ (बहुधा चीनी भाषा से अनूदित), ईसाई धर्मग्रंथ (सीरियाई भाषा से अनूदित तथा मौलिक) और मनीची ग्रंथ मिलते हैं। सबसे पुराने ग्रंथों का समय ईसवी चौथी शती होगा।

सोग्दी के अतिरिक्त इस समुदाय की दूसरी महत्व की भाषा खोतानी है। इसे सक भी कहते हैं। इसमें बहुत से धर्मग्रंथ आठवीं से १०वीं शती के लिखे हुए प्राप्त हुए हैं। इनम बहुत से बौद्धधर्म संबंधी हैं। लिपि सबकी ब्राह्मी है और शब्दावली में प्राकृत के बहुत से शब्द मिलते हैं।

आधुनिक ईरानी की सबसे महत्वपूर्ण भाषा फारसी है। यह अरबी लिपि में लिखी जाती है। यह अफ़गानिस्तान से लेकर पश्चिम के काफी बड़े भूप्रदेश में संस्कृति की प्रतिनिधि भाषा है। इसमें आठवीं शती ईसवी से लेकर प्रभूत साहित्य का सृजन हुआ है।

गठन की दृष्टि से पामीरी, कुर्दी, बलोची और पश्तो भी ईरानी उपशाखा के अंतर्गत हैं।

विस्तार की दृष्टि से हिंद-ईरानी शाखा की तीन भाषाओं ने महत्व प्राप्त किया—संस्कृत, पालि और फारसी, और ये तीनों सभ्यता और संस्कृति की प्रचारक रहीं। ईरानी उपशाखा में फारसी सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाषा है।

सं०ग्रं०—ए० मेइए : ले लाँग दु माँद (पेरिस, १९५२)।

[बा० रा० स०]

ईरी झील, उत्तरी अमरीका की बड़ी झीलों में सबसे दक्षिणवाली है, जो अक्षांश ४१° ३०' उ० एवं ४२° ५२' उत्तर तथा देशांतर ७८° ५३' प० एवं ८२° २५' पश्चिम के बीच, ह्यूरन तथा ओंटेरियो झीलों के मध्य स्थित है। इसके उत्तरी किनारे पर कनाडा की सीमा, दक्षिण-पूर्व में न्यूयार्क, पेनसिलवेनिया तथा ओहायो, पश्चिम में मिचिगन तथा ओहायो राज्यों की सीमा पड़ती है। इसकी अधिकतम लंबाई उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम तक २४५ मील, औसत चौड़ाई ५० मील (२८ से ५८ मील तक), तथा क्षेत्रफल ९,६०० वर्ग मील है। यह झील समुद्र की सतह से ५७३ फुट की ऊँचाई पर तथा ह्यूरन झील की सतह से ८ फुट नीचे है। इसके जल की अधिकतम गहराई २१० फुट, तथा औसत गहराई १०० फुट है। इसमें डिट्रॉयट नदी मिलती है तथा ओंटेरियो झील को छोड़कर अन्य सभी बड़ी झीलों का जल इसमें आता है। इनके सिवाय उत्तर से ग्रैंड नदी, पश्चिम से मॉमी, संडस्की एवं ह्यूरन तथा दक्षिण से कुयाहोगा नदियाँ मिलती हैं। ईरी के जल का निकास नायागरा नदी के द्वारा होता है जो ओंटेरियो झील में गिरती है। ईरी झील बड़ी झीलों में से सबसे छिछली और यातायात के लिये भयावह है क्योंकि नायागरा जलप्रपात दिन प्रति दिन पीछे की ओर हटता जा रहा है।

इस झील का व्यापारिक महत्व नहरों के निकल जाने से बहुत बढ़ गया है, जो पूर्व से पश्चिम जाने की मुख्य साधन हैं। नायागरा जलप्रपात के पास अटलांटिक सागर से सीधे आने में जलप्रपात के कारण जो असुविधा थी उसको वेलंड नहर दूर कर देती है। ईरी के तट पर सुंदर बंदरगाहों में बफैलो, ईरी, क्लीवलैंड, संडस्की तथा टोलेडो प्रमुख हैं, परंतु बड़े जहाजों के लिये ये उपयुक्त नहीं हैं। [श्या० सुं० श०]

ईरुला यह शब्द तमिल भाषा के **ईरुल** (=श्याम) शब्द से निकला है। दक्षिण भारत में नीलगिरि की पहाड़ियों पर निवास करनेवाली एक अत्यधिक श्यामवर्ण आदिम जाति का नाम ईरुला है। इसके विपरीत 'बडागा' सबसे सुंदर वर्णवाली आदिम जाति है। ईरुला लोग अपनी बोलचाल में अपभ्रंश तमिल का प्रयोग करते हैं तथा एक प्रकार के विष्णुपूजक हैं। इस जाति में विवाह के समय एक भोज देने के अतिरिक्त अन्य कोई विशेष प्रथा नहीं है। इनके यहाँ मृतकों को गाड़ने की प्रथा है, गाड़ते समय शव को पद्मासनावस्था में एवं मस्तक को उत्तर की ओर करके रखा जाता है। ये लोग आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं, किंतु भविष्यवक्ता के रूप में इनका बड़ा आदर होता है। [श्या० सुं० श०]

ईल फ्रांस की एक नदी है। इसका उद्गम जूरा की उत्तरी तलहटी में बेसल से दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। यह उत्तर-उत्तर-पूर्व की दिशा में राइन के समांतर बहती हुई स्ट्रासबुर्ग से नौ मील नीचे बाईं ओर से राइन में प्रवेश करती है। इसकी लंबाई १२३ मील है। यह सँकरी वोसजेस घाटी में बहनेवाली छोटी छोटी नदियों का जल ग्रहण करती है। कोलमार के समीप लाडहोफ से अपने (राइनवाले) संगम पर्यंत ५९ मील की दूरी तक यातायात के योग्य है। ऊपरी ऐलसेस के मुख्य नगर, जैसे मालह्यूज, कोलमार, श्लेस्टाट तथा स्ट्रासबुर्ग इसी नदी के तट पर बसे हैं। यह दो प्रमुख नहरों राइन-मार्न तथा राइन-रोन, को जल प्रदान करती है। ये दोनों नहरें स्ट्रासबुर्ग के समीप से निकाली गई हैं। [श्या० सुं० श०]

ईलियद यूरोप के आदिकवि होमर द्वारा रचित महाकाव्य। इसका नामकरण इलियन नगर (ट्राय) के युद्ध के वर्णन के कारण हुआ है। समग्र रचना २४ पुस्तकों में विभक्त है और इसमें १५६९३ पंक्तियाँ हैं।

संक्षेप में इस महाकाव्य की कथावस्तु इस प्रकार है: ईलियन के राजा प्रियाम के पुत्र पारिस ने स्पार्टा के राजा मेनेलाउस की पत्नी परम सुंदरी हेलेन का उसके पति की अनुपस्थिति में अपहरण कर लिया था। हेलेन को पुनः प्राप्त करने तथा इलियन को दंड देने के लिये मेनेलाउस और उसके भाई अगामेम्नन ने समस्त ग्रीक राजाओं और सामंतों की सेना एकत्र करके इलियन के विरुद्ध अभियान आरंभ किया। परंतु इस अभियान के उपर्युक्त कारण, और उसके अंतिम परिणाम, अर्थात् इलियन के विध्वंस का प्रत्यक्ष वर्णन इस काव्य में नहीं है। इसका आरंभ तो ग्रीक शिविर में काव्य के नायक एकिलीज़ के रोष से होता है। अगामेम्नन ने सूर्यदेव अपोलो के पुजारी की पुत्री को बलात्कारपूर्वक अपने पास रख छोड़ा है। परिणामतः ग्रीक शिविर में महामारी फैली हुई है। भविष्यद्रष्टा काल्कस ने बतलाया कि जब तक पुजारी की पुत्री को नहीं लौटाया जायगा तब तक महामारी नहीं रुकेगी। अगामेम्नन बड़ी कठिनाई से इसके लिये प्रस्तुत होता है पर इसके साथ ही वह बदले में एकिलीज़ के पास से एक दूसरी बेटी ब्रिसेइस को छीन लेता है। एकिलीज इस अपमान से क्षुब्ध और रुष्ट होकर युद्ध में न लड़ने की प्रतिज्ञा करता है। वह अपनी मीरमिदन (पिपीलिका) सेना और अपने मित्र पात्रोक्लस के साथ अपने डेरों में चला जाता है और किसी भी मनुहार को नहीं सुनता। परिणामतः युद्ध में अगामेम्नन के पक्ष की किरकिरी होने लगती है। ग्रीक सेना भागकर अपने शिविर में शरण लेती है। परिस्थितियों से विवश होकर अगामेम्नन एकिलीज़ के पास अपने दूत भेजता है और उसके रोष के निवारण के लिये बहुत कुछ करने को तैयार हो जाता है। परंतु एकिलीज़ का रोष दूर नहीं होता और वह दूसरे दिन अपने घर लौट जाने की घोषणा करता है। पर वास्तव में वह अगामेम्नन की सेना की दुर्दशा देखने के लिये ठहरा रहता है। किंतु उसका मित्र पात्रोक्लस अपने पक्ष की इस दुर्दशा को देखकर खीझ उठता है और वह एकिलीज़ से युद्ध में लड़ने की आज्ञा प्राप्त कर लेता है। एकिलीज़ उसको अपना कवच भी दे देता है और अपने मीरमिदन सैनिकों को भी उसके साथ युद्ध करने के लिये भेज देता है। पात्रोक्लस इलियन की सेना को खदेड़ देता है पर स्वयं अंत में वह इलियन के महारथी हेक्तर द्वारा मार डाला जाता है। पात्रोक्लस के निधन का समाचार सुनकर एकिलीज़ शोक और क्रोध से पागल हो जाता है और अगामेम्नन से संधि करके नवीन कवच धारण कर हेक्तर से अपने मित्र का बदला लेने युद्धक्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है। एकिलीज़ के युद्ध आरंभ करते ही पासा पलट जाता है। वह हेक्तर को मार डालता है और उसके पैर को अपने रथ के पिछले भाग में बाँधकर उसके शरीर को युद्धक्षेत्र में घसीटता है जिससे उसका सिर धूल में लुढ़कता चलता है। इसके पश्चात् पात्रोक्लस की अंत्येष्टि बड़े ठाट बाट के साथ की जाती है। एकिलीज़ हेक्तर के शव को अपन शिविर में ले आता है और निर्णय करता है कि उसका शरीर खंड खंड करके कुत्तों को खिला दिया जाय। हेक्तर का पिता इलियन् का राजा प्रियाम उसके शिविर में अपने पुत्र का शव प्राप्त करने के लिये उपस्थित होता है। उसके विलाप से एकिलीज़ को अपने पिता का स्मरण हो आता है और उसका क्रोध दूर हो जाता है और वह करुणा से अभिभूत होकर हेक्तर का शव उसके पिता को दे देता है और साथ ही साथ १२ दिन के लिये युद्ध भी रोक दिया जाता है। हेक्तर की अंत्येष्टि के साथ इलियद की समाप्ति हो जाती है।

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में इलियद के अंत में एक पंक्ति इस आशय की मिलती है कि हेक्तर की अंत्येष्टि के बाद अमेज़न (निस्तनी) नामक नारी योद्धाओं की रानी पैंथेसिलिया प्रियाम की सहायता के लिये आई। इसी संकेत के आधार पर स्मर्ना के क्विंतुस नामक कवि ने १४ पुस्तकों में इलियद का पूरक काव्य लिखा था। आधुनिक समय में श्री अरविंद घोष ने भी अपने जीवन की संध्या में मात्रिक वृत्त में इलियन नामक ईलियद् को पूर्ण करनेवाली रचना का अंग्रेजी भाषा में आरंभ किया था जो पूरी नहीं हो सकी। नवम पुस्तक की रचना के मध्य में ही उनको चिरसमाधि की उपलब्धि हो गई।

ईलियद में जिस युग की घटनाओं का उल्लेख है उसको वीरयुग कहते हैं। श्लीमान और डेर्फ़ेल्ट की ट्राय नगर की खुदाई के पश्चात् इस युग की सत्यता निर्विवाद सिद्ध हो चुकी थी। ई० पू० १३वीं और १२ शताब्दियाँ इस युग का काल मानी जाती हैं। पर ईलियद के रचनाकाल की सीमाएँ ई० पू० नवीं और सातवीं शताब्दियाँ हैं। होमर की रचनाओं से संबंध रखनेवाली समस्याएँ अत्यंत जटिल हैं। एक समय होमर के अस्तित्व तक पर संदेह किया जाने लगा था। पर अब स्थिति अधिक अनुकूल हो चली है, यद्यपि अब भी होमर के महाकाव्य एक विकासक्रम की चरम परिणति माने जाते हैं जिनमें एक लोकोत्तर प्रतिभा का कौशल स्पष्ट लक्षित होता है।

ईलियद में महाकाव्य की दृष्टि से सरलता और कविकर्म का अभूतपूर्व सामंजस्य है। नीति की दृष्टि से असाधारण काम और क्रोध के विध्वंसकारी परिणाम का प्रदर्शन जैसा इस काव्य में हुआ है वैसा अन्यत्र मुश्किल से मिलेगा। इसके पुरुष पात्रों में अगामेम्नन, एकिलीज़, पात्रोक्लस, मेनेलाउस, प्रियाम, पारिस और हेक्तर उल्लेखनीय हैं। स्त्री पात्रों में हेलेन, हेकुबा, आंद्रोमाकी इत्यादि महान् हैं। युद्ध में मनुष्य और देवता सभी भाग लेते हैं, कहीं मनुष्य गुणों में देवताओं से ऊँचे उठ जाते हैं तो कहीं देवता लोग मानवीय दुर्बलताओं के शिकार होते दृष्टिगोचर होते हु एवं परिहास के पात्र बनते हैं। भारतीय महाकाव्यों के साथ इलियद की अनेक बातें मेल खाती हैं, जिनमें हेलेन का अपहरण और इलियन का दहन सीताहरण और लंकादहन से स्पष्ट सादृश्य रखते हैं। संभवतः इसी कारण मेगस्थनीज को भारत में होमर के महाकाव्यों के अस्तित्व का भ्रम हुआ था।

होमर के अनुवाद बहुत हैं परंतु उसका अनुवाद, जैसा प्रत्येक उच्च कोटि की मौलिक रचना का अनुवाद हुआ करता है, एक समस्या है। यदि अनुवादक सरलता पर दृष्टि रखता है तो होमर के कवित्व को गँवा बैठता है और कवित्व को पकड़ना चाहता है तो सरलता काफूर हो जाती है।

सं० ग्रं०—मूलमात्र : मुनरो और एलेन का आक्सफोर्ड का संस्करण। सानुवाद : लोएब क्लासिकल लाइब्रेरी का संस्करण। सुलभ सस्ते अनुवाद : रिव्यू (पेंग्विन और राउज़ (मेंटर) के संस्करण।

आलोचना : गिल्बर्ट मरे, ऐंशेंट ग्रीक लिटरेचर; नौर्वुड : राइटर्स ऑव ग्रीस; बाउरा : ऐंशेंट ग्रीक लिटरेचर।) [भो० ना० श०]

ईलियन् (अथवा ईलियानुस् ताक्तिकुस्) ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी का एक यूनानी विद्वान् जो रोम में रहता था और जिसने युद्धविद्या के सिद्धांत (ताक्तिके थियोरिया) नामक ग्रंथ की रचना की थी। यह ग्रंथ हाद्रियान् अथवा त्राजान नामक रोमन सम्राट् को समर्पित किया गया था। इसमें व्यायाम और युद्ध संबंधी उन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है जो सिकंदर के ग्रीक उत्तराधिकारियों द्वारा व्यवहृत होते थे। इस ग्रंथ में पूर्वाचार्यों के मतों का विवेचनात्मक वर्णन और व्यायाम संबंधी सूक्ष्म विवरण मिलता है। इसका अनुवाद अरबी में भी हुआ और अरबों के ऊपर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। स्पेन और हालैंड की १६वीं शताब्दी की युद्धविद्या पर भी इस रचना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। [भो० ना० श०]

ईवाँ तृतीय मास्कोवी का ग्रांड ड्यूक। जन्म २२ जनवरी, १४४०; मृत्यु २६ अक्तूबर, १५०५। पिता वासिली द्वितीय के जीवनकाल में ही सहशासक घोषित किया गया, जिससे अन्य राजकुमार उसका स्थान न छीन सकें। रूस के इतिहास में यह अत्यधिक प्रसिद्ध है और "ईवाँ महान्" के नाम से विख्यात है। इसने मास्कोवी के राज्य का विस्तार कर उसे पहले से तीन गुना कर दिया।

१४७१-७८ की दो लड़ाइयों में इसने नोवगोरोदें को जीता। हैप्सबर्ग पवित्र रोमन सम्राट् द्वारा दी 'राजा' की उपाधि अस्वीकृत करते हुए इसने कहा, "अपने देश में हम अपने पूर्वजों के समय से प्रभुत्वसंपन्न रहे हैं और ईश्वर से हमें प्रभुत्वशक्ति प्राप्त हुई है।" धमकी या युद्ध द्वारा उसने यारस्लावी (१४६३), रोस्तोव (१४७४) और त्वेर (१४८५) हस्तगत कर लिये। १४८० में तातार को खिराज देना बंद कर तातारों की दासता का जुआ उसने उतार फेंका।

रूसी जाति का प्रथम सरदार तो यह पहले से ही था, बीजांतीनी साम्राज्य के अंतिम शासक के भाई थामस पालो ओलोगस की कन्या सोफिया (जोए) के साथ दूसरा विवाह कर मास्को की प्रतिष्ठा और उसकी अधिसत्ता में उसने वृद्धि की और बीज़ांतियम के द्विशीर्ष गृद्ध (ईगल) को मास्को के राजचिह्न में स्थान देकर ग्रीक ईसाई धर्म का संरक्षक होने का अपना दावा स्थापित किया। इस विवाह के फलस्वरूप मास्को में पूर्वी दरबारी ढंग और शानशौकत को स्थान मिला और राजा प्रजा से दूर हो गया। वह अपने को 'ओतोक्रात्' (स्वेच्छाचारी) कहता था और विदेशी पत्रव्यवहार में अपने को 'जार' लिखता था।

रूस का प्रवेश बाल्टिक सागर में हो जाय, इस दृष्टि से उसने लिथुआनिया लेने का प्रयत्न किया, किंतु स्वीडन और पोलैंड के कारण उसका यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। दक्षिण में उसने अपना राज्य वोल्गा के मध्य तक फैलाया और तातारों को हराया। सरदारों की सत्ता घटाकर ईवाँ ने रूसी विधि (कानून) का संहिताकरण किया। [अ० कु० वि०]

ईवाँ (भीषण) चतुर्थ मास्कोवी का जार, वासिल तृतीय का पुत्र, जन्म २५ अगस्त, १५३०; मृत्यु १७ मार्च, १५८४। तीन साल की अवस्था में ही राजा घोषित। पहले माता, फिर सरदारों की अभिभावकता रही। १४ वर्ष की आयु में राज्यसत्ता ग्रहण की। बचपन में अपने प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार के कारण सरदारों से इसको घृणा हो गई थी, इससे इसने अपना सलाहकार निम्न वर्ग के योग्य व्यक्तियों को चुना।

आंतरिक सुधार और बाहरी सफलता के साथ इसका शासन आरंभ हुआ। जार और सरदारों में शुरू से मतभेद रहा। प्रिंस कुरवस्की के पोलैंड भाग जाने से उनके प्रति इसका संदेह और अधिक बढ़ गया। राजद्रोह के प्रयत्नों को उत्पीड़न, फाँसी और कारादंड द्वारा कुचलने की इसने कोशिश की। १५५० में राष्ट्रीय परिषद् (जेमस्की सोबोर) का पहला अधिवेशन बुलाया। काजम के खानों को १५५२ में हराया, अस्त्राखान (१५५४) पर अधिकार किया, लिवोनिया और इस्तोनिया की विजय की और लिथुआनिया की विजय के लिये सेना भेजी, किंतु पोलैंड और स्वीडन के विरोध के कारण सफलता नहीं मिली। कज्जाकों की सहायता से साइबेरिया जीत लिया गया।

ईवा चतुर्थ का व्यक्तित्व राजनीतिक बुद्धिमत्ता, सभ्यता और बर्बरता, क्रूरता और अनैतिकता का अद्भुत मिश्रण था। संकटों और दुःखों के कारण पत्नी और पुत्र की मृत्यु के बाद विशेष रूप से यह क्रूर, शक्की और उन्मत्त हो गया। नोवगोरोद को राजद्रोह के संदेह मात्र से धूलिसात् करना, राज्य के उत्तराधिकारी एवं प्रिय पुत्र ईवा को अनियंत्रित गुस्से में मार डालना, इसके पागलपन के उदाहरण हैं। १५६४-१५८० के मध्य दो बार इसन सिंहासन छोड़ने की इच्छा प्रगट की, किंतु अनुरोध करने पर राजा बना रहा। [अ० कु० वि०]

ईवाल, योहान (१७४३-१७८१) डेनमार्क के सबसे महान् कवि। कोपेनहेगेन में जन्म। १५ साल की उम्र में शादी कर ली और सेना में भरती हो गए। सप्तवर्षीय युद्ध से लौटकर फिर उन्होंने पढ़ा लिखा। २३ वर्ष की उम्र में उन्होंन अपन बादशाह के मरने पर जो मरसिया लिखा वह असाधारण सुंदर माना जाता है। उनका नाट्यकाव्य 'आदम ओग ईवा' डेनमार्क की सुंदरतम रचनाओं में से है। ईवाल ने ही पहला मौलिक दुःखांत नाटक लिखा है। उसके बाद अगले १० वर्षों में वे एक से एक सुंदर रचनाएँ प्रकाशित करते गए। १७७९ ई० में उन्होंने अपनी सबसे सुंदर रचना गेय नाटिका 'फिसकेर्ने' लिखी जिसमें डेनमार्क का राष्ट्रीय गान प्रस्तुत हुआ। इसने और 'बालदेर की मृत्यु' ने उनकी ख्याति डेनमाक की सीमाओं के बाहर पहुँचा दी। उनकी शैली में बड़ी ताजगी और रवानी है और उन्होंने डेनमार्क के साहित्य को कुछ वह दिया है जो वर्ड्सवर्थ ने अंग्रेजी को और गेटे तथा शिलेर ने जर्मन साहित्य को। घोड़े से गिरकर वे पंगु हो गए और अंत में क्षय रोग के ग्रास बने। [ओं० ना० उ०]

ईशानवर्मन् यह कन्नौज का मौखरी नृपति था। उसके पहले के तीन राजा अधिकतर उत्तरयुगीन मागध गुप्तों के सामंत नृपति रहे थे। ईशानवर्मन् ने उत्तर गुप्तों का आधिपत्य कन्नौज से हटाकर अपनी स्वतंत्रता घोषित की। उसकी प्रशस्ति में लिखा है कि उसने आंध्रों को परास्त किया और गौडों को अपनी सीमा के भीतर रहने को मजबूर किया। इसमें संदेह नहीं कि यह प्रशस्ति मात्र प्रशस्ति है क्योंकि ईशानवर्मन् के आंध्रों अथवा गौड राजा के संपर्क में आने की संभावना अत्यंत कम थी। गौडों और मौखरियों के बीच तो स्वयं उत्तरकालीन गुप्त ही थे जिनके राजा कुमारगुप्त ने, जैसा उसके अभिलेख से विदित है, ईशानवर्मन् को परास्त कर उसके राज्य का कुछ भाग छीन लिया था। [ओं० ना० उ०]

ईशावास्य उपनिषदों में यही उपनिषद् सर्वप्रथम गिना जाता है। इस उपनिषद् के आरंभ में यह वाक्य आता है—'ईशावास्यमिदं सर्वम्'; और इसी आद्य पद के कारण यह ईशोपनिषद् अथवा ईशावास्योपनिषद् के नाम से विख्यात है। यह शुक्लयजुर्वेद की मंत्र-संहिता का ४०वाँ अध्याय है। उपनिषद् सामान्यतः ब्राह्मणों के अंतर्गत 'आरण्यक' के भाग हैं, परंतु यही एक उपनिषद् ऐसा है जो ब्राह्मणों से भी पूर्ववर्ती माने जानेवाले संहिताभाग का अंश है। इस दृष्टि से यह आद्य उपनिषद् होने का गौरव धारण करता है। इस उपनिषद् में केवल १८ मंत्र हैं जिन्हें वेदांत का निचोड़ मानने में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

इस उपनिषद् का तात्पर्य ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति है अथवा ज्ञान-कर्म-समुच्चय के द्वारा, इस विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। इस मतभेद को दूर करने के लिये आदिम दोनों मंत्र नितांत जागरूक हैं। प्रथम मंत्र में इस जगत् को त्याग के द्वारा भोगने तथा दूसरे के धन पर लोभदृष्टि न डालने का उपदेश है (तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्) और दूसरे मंत्र में इसी प्रकार निष्काम भाव से कर्म करने तथा जीवन बिताने का स्पष्ट उपदेश है:

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।' इस मंत्र का स्पष्ट तात्पर्य निष्काम कर्म की उपासना है। श्रीमद्भगवद्गीता का जीवनदर्शन इसी मंत्र के विपुल भाष्य पर आश्रित माना जाता है। इसके अनंतर आत्मा के स्वरूप का विवेचन किया गया है (मंत्र ४) तथा एकत्व दृष्टि रखनेवाले तत्ववेत्ता के जीवन्मुक्त स्वरूप का भी प्रतिपादन किया गया है (मंत्र ५)। इस उपनिषद् में संभूति तथा असंभूति, विद्या तथा अविद्या के परस्पर भेद का ही स्पष्ट निदर्शन है। अंत में आदित्यगत पुरुष के साथ आत्मा की एकता प्रतिपादित कर कर्मी और उपासक को संसार के दुःखों से कैसे मोक्ष प्राप्त होता है, इसका भी निर्देश किया गया है। फलतः लघुकाय होने पर भी यह उपनिषद् अपनी नवीन दृष्टि के कारण उपनिषदों में नितांत महनीय माना गया है। [ब० उ०]

ईश्वर शब्द भारतीय दर्शन तथा अध्यात्म शास्त्रों में जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहारकर्ता, जीवों को कर्मफलप्रदाता तथा दुःखमय जगत् से उनके उद्धारकर्ता के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कभी कभी वह गुरु भी माना गया है। न्यायवैशेषिकादि शास्त्रों का प्रायः यही अभिप्राय है—एको विभुः सर्वविद् एकबुद्धिसमाश्रयः। शाश्वत ईश्वराख्यः। प्रमाणमिष्टो जगतो विधाता स्वर्गापवर्गादि।

पातंजल योगशास्त्र में भी ईश्वर परमगुरु या विश्वगुरु के रूप में माना गया है। इस मत में जीवों के लिये तारकज्ञानप्रदाता ईश्वर ही है। परंतु जगत् का सृष्टिकर्ता वह नहीं है। इस मत में सृष्टि आदि व्यापार प्रकृति-पुरुष के संयोग से स्वभावतः होते हैं। ईश्वर की उपाधि प्रकृष्ट सत्त्व है। यह षड्विंशतत्त्व रूप पुरुषविशेष के नाम से प्रसिद्ध है। अविद्या आदि पाँच क्लेश, शुभाशुभ कर्म, जाति, आयु और भोग का विपाक तथा आशय या संस्कार ईश्वर का स्पर्श नहीं कर सकते। पंचविंशतत्त्व रूप पुरुषतत्व से वह विलक्षण है। वह सदा मुक्त और सदा ही ऐश्वर्यसंपन्न है। निरीश्वर सांख्यों के मत में नित्यसिद्ध ईश्वर स्वीकृत नहीं है, परंतु उस मत में नित्येश्वर का स्वीकार न होने पर भी कार्येश्वर की सत्ता मानी जाती है। पुरुष विवेकख्याति का लाभ किए बिना ही वैराग्य के प्रकर्ष से जब प्रकृतिलीन हो जाता है तब उसे कैवल्य-लाभ नहीं होता और उसका पुनः उद्भव अभिनव सृष्टि में होता है। प्रलयावस्था के अनंतर वह पुरुष उद्बुद्ध होकर सर्वप्रथम सृष्टि के ऊर्ध्व में बुद्धिस्थरूप में प्रकाश को प्राप्त होता है। वह सृष्टि का अधिकारी पुरुष है और अस्मिता समाधि में स्थित रहता है।

योगी अस्मिता नामक संप्रज्ञात समाधि में उसी के साथ तादात्म्य लाभ करते हैं। उसका ऐश्वरिक जीवन अधिकार संपद् रूपी जीवन्मुक्ति की ही एक विशेष अवस्था है। प्रारब्ध की समाप्ति पर उसकी कैवल्यमुक्ति हो जाती है। नैयायिक या वैशेषिकसंमत ईश्वर आत्मरूपी द्रव्य है और वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिसंपन्न परमात्मा के नाम से अभिहित है। उसकी इच्छादि शक्तियाँ भी अनंत हैं। वह सृष्टि का निमित्त कारण है। परमाणु-पुंज सृष्टि के उपादान कारण हैं।

मीमांसक ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। वे वेद को अपौरुषेय मानते हैं और जगत् की सामूहिक सृष्टि तथा प्रलय भी स्वीकार नहीं करते। उक्त मत में ईश्वर का स्थान न सृष्टिकर्ता के रूप में है और न ज्ञानदाता के रूप में।

वेदांत में ईश्वर सगुण ब्रह्म का ही नामांतर है। ब्रह्म विशुद्ध चिदानंद-स्वरूप निरुपाधि तथा निर्गुण है। मायोपहित दशा में ही चैतन्य को ईश्वर कहा जाता है। चैतन्य का अविद्या से योग होने पर वह जीव हो जाता है। वेदांत में विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार ब्रह्म, ईश्वर तथा जीवतत्त्व के विषय में अवच्छेदवाद, प्रतिबिंबवाद, आभासवाद आदि मत स्वीकार किए गए हैं। उनके अनुसार ईश्वरकल्पना में भी भेद है।

शैव मत में शिव को नित्यसिद्ध ईश्वर या महेश्वर कहा जाता है। वह स्वरूपतः चिदात्मक है और चित्-शक्ति-संपन्न है। उनमें सब शक्तियाँ निहित हैं। बिंदुरूप माया को उपादान रूप में ग्रहण कर शिव शुद्ध जगत् का निर्माण करते हैं। इसमें साक्षात्कर्तृत्व ईश्वर का ही है। तदुपरांत शिव माया के उपादान से अशुद्ध जगत् की रचना करते हैं; किंतु उसकी रचना साक्षात् उनके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत अनंतादि विद्येश्वरों द्वारा परंपरा से होती है। ये विद्येश्वर सांख्य के कार्येश्वर के सदृश हैं, परमेश्वर के तुल्य नहीं। विज्ञानाकल नामक चिदणु माया तत्त्व का भेद कर उसके ऊपर विदेह तथा विकरण दशा में विद्यमान रहते हैं। ये सभी प्रकृति तथा माया से आत्मस्वरूप का भेदज्ञान प्राप्त कर कैवल्य अवस्था में विद्यमान रहते हैं। परंतु आणव मल या पशुत्व के निवृत्त न होने के कारण ये माया से मुक्त होकर भी शिवत्वलाभ नहीं कर पाते। परमेश्वर इस मल के परिपक्व होने पर उसके अनुसार श्रेष्ठ अधिकारियों पर अनुग्रह का संचार कर उन्हें बैंदव देह प्रदान कर ईश्वर पद पर स्थापित कर सृष्टि आदि पंचकृत्यों के संपादन का अधिकार भी प्रदान करता है। ऐसे ही अधिकारी ईश्वर होते हैं। इनमें जो प्रधान होते हैं वे ही व्यवहारजगत् में ईश्वर कहे जाते हैं। यह ईश्वर माया को क्षुब्ध कर मायिक उपादानों से ही अशुद्ध जगत् का निर्माण करता है और योग्य जीवों का अनुग्रहपूर्वक उद्धार करता है। ये ईश्वर अपना अपना अधिकार समाप्त कर शिवत्वलाभ करते हैं। निरीश्वर सांख्य के समस्त कार्येश्वर और यहाँ के मायाधिष्ठाता ईश्वर प्रायः एक ही प्रकार के हैं। इस अंश में द्वैत तथा अद्वैत शैव मत में विशेष भेद नहीं है। भेद इतना ही है कि द्वैत मतों में परमेश्वर सृष्टि का निमित्त या कर्ता है, उसकी चित्शक्ति कारण है और बिंदु उपादान है। कार्येश्वर भी प्रायः उसी प्रकार का है—ईश्वर निमित्त रूप से कर्ता है, वामादि नौ शक्तियाँ उसकी कारण हैं तथा माया उपादान है। अद्वैत मत में निमित्त और उपादान दोनों अभिन्न हैं, जैसा अद्वैत वेदांत में है।

वैष्णव संप्रदाय के रामानुज मत में ईश्वर चित् तथा अचित् दो तत्त्वों से विशिष्ट है। ईश्वर अंगी है और चित् तथा अचित् उसके अंग हैं। दोनों ही नित्य हैं। ईश्वर का ज्ञान, ऐश्वर्य, मंगलमय गुणावली तथा श्रीविग्रह सभी नित्य हैं। ये सभी अप्राकृत सत्त्वमय हैं। किसी किसी मत में वह चिदानंदमय है। गौडीय मत में ईश्वर सच्चिदानंदमय है और उसका विग्रह भी वैसा ही है। उसकी शक्तियाँ अंतरंग, बहिरंग और तटस्थ भेद से तीन प्रकार की हैं। अंतरंग शक्ति सत्, चित्, आनंद के अनुरूप संधिनी-संवित् तथा ह्लादिनीरूपा है। तटस्थ शक्ति जीवरूपा है। बहिरंगा-शक्ति मायारूपा है। उसका स्वरूप अद्वय ज्ञानतत्त्व है। परंतु ज्ञानी की दृष्टि से उसे अव्यक्तशक्ति ब्रह्म माना जाता है। योगी की दृष्टि से उसे परमात्मा कहा जाता है तथा भक्त की दृष्टि से भगवान् कहा जाता है, क्योंकि उसमें सब शक्तियों की पूर्ण अभिव्यक्ति रहती है। इस मत में भी कार्यमात्र के प्रति ईश्वर निमित्त तथा उपादान दोनों ही माना जाता है। ईश्वर चित्, अचित्, शरीरी और विभु है। उसका स्वरूप, धर्मभूत ज्ञान तथा विग्रह सभी विभु हैं। देश, काल तथा वस्तु का परिच्छेद उसमें नहीं है। वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिसंपन्न है। वात्सल्य, औदार्य, कारुण्य, सौंदर्य आदि गुण उसमें सदा वर्तमान हैं।

श्री संप्रदाय के अनुसार ईश्वर के पाँच रूप हैं। पर, व्यूह, विभव, अंतर्यामी और अर्चावतार। परमात्मा के द्वारा माया शक्ति में ईक्षण करने पर माया से जगत् की उत्पत्ति होती है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध वस्तुतः परमात्मा के ही चार रूप हैं। ये चार व्यूह श्रीसंप्रदाय के

अनुसार ही गौडीय संप्रदाय में भी माने जाते हैं। वासुदेव षाड्गुण्य विग्रह हैं परंतु संकर्षणादि में दो ही गुण हैं। इस मत के अनुसार भगवान् के पूर्ण रूप स्वयं श्रीकृष्ण हैं और उनके विलास नारायणरूपी भगवान् हैं। भगवान् के विलास परमात्मा हैं। विलास में स्वरूप एक ही रहता है, परंतु गुणों की न्यूनता रहती है। प्रकाश में स्वरूप तथा गुण दोनों ही समान रहते हैं।

गीता के अनुसार ईश्वर पुरुषोत्तम या उत्तम पुरुष कहा जाता है। वही परमात्मा है। क्षर और अक्षर पुरुषों से वह श्रेष्ठ है। उसके परमधाम में जिसकी गति होती है उसका फिर प्रत्यावर्तन नहीं होता। वह धाम स्वयंप्रकाश है। वहाँ चंद्र, सूर्य आदि का प्रकाश काम नहीं देता। सब भूतों के हृदय में वह परमेश्वर स्थित है और वही नियामक है।

प्राचीन काल से ही ईश्वरतत्व के विषय में विभिन्न ग्रंथों की रचना होती आई है। उनमें से विचारदृष्टि से श्रेष्ठ ग्रंथों में उदयनाचार्य की न्यायकुसुमांजलि है। इस ग्रंथ में पाँच स्तवक या विभाग हैं। इसमें युक्तियों के साथ ईश्वर की सत्ता प्रमाणित की गई है। चार्वाक, मीमांसक, जैन तथा बौद्ध ये सभी संप्रदाय ईश्वरतत्व को नहीं मानते। न्यायकुसुमांजलि में नैयायिक दृष्टिकोण के अनुसार उक्त दर्शनों की विरोधी युक्तियों का खंडन किया गया है। उदयन के बाद गंगेशोपाध्याय ने भी तत्त्वचिंतामणि में ईश्वरानुमान के विषय में आलोचना की है। इसके अनंतर हरिदास तर्कवागीश, महादेव पुणतांबेकर आदि ने ईश्वरवाद पर छोटी छोटी पुस्तकें लिखी हैं।

रामानुज संप्रदाय में यामुन मुनि के सिद्धित्रय में ईश्वरसिद्धि एक प्रकरण है। लोकाचार्य के तत्त्वत्रय में तथा वेदांतदेशिक के तत्त्वमुक्ताकलाप, न्यायपरिशुद्धि आदि में भी ईश्वरसिद्धि विवेचित है। यह प्रसिद्धि है कि खंडनखंडकार श्रीहर्ष ने भी 'ईश्वरसिद्धि' नामक कोई ग्रंथ लिखा था। शैव संप्रदाय में नरेश्वरपरीक्षा प्रसिद्ध ग्रंथ है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी का स्थान भी अति उच्च है। इसके मूल में उत्पलाचार्य की कारिकाएँ हैं और उनपर अभिनवगुप्तादि विशिष्ट विद्वानों की टिप्पणियाँ तथा व्याख्याएँ हैं। बौद्ध तथा जैन संप्रदायों ने अपने विभिन्न ग्रंथों से ईश्वरवाद के खंडन का प्रयत्न किया है। ये लोग ईश्वर को नहीं मानते थे किंतु सर्वज्ञ को मानते थे। इसीलिये ईश्वरतत्व का खंडन कर सर्वज्ञ की सिद्धि के लिये इन संप्रदायों द्वारा ग्रंथ लिखे गए। महापंडित रत्नकीर्ति का 'ईश्वर-साधन-दूषण' और उनके गुरु गौडीय ज्ञानश्री का 'ईश्वरवाददूषण' तथा 'वार्तिक शतश्लोकी' व्याख्यान प्रसिद्ध हैं। ज्ञानश्री विक्रमशील बिहार के प्रसिद्ध द्वारपंडित थे। जैनों में अकलंक से लेकर अनेक आचार्यों ने इस विषय की आलोचना की है। सर्वज्ञसिद्धि के प्रसंग में बौद्ध विद्वान् रत्नकीर्ति का ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है। मीमांसक कुमारिल ईश्वर तथा सर्वज्ञ दोनों का खंडन करते हैं। परवर्ती बौद्ध तथा जैन पंडितों ने सर्वज्ञखंडन के अंश में कुमारिल की युक्तियों का भी खंडन किया है।

[गो० क०]

बाइबिल में कहीं भी ईश्वर के स्वरूप का दार्शनिक विवेचन तो नहीं मिलता किंतु मनुष्यों के साथ ईश्वर के व्यवहार का जो इतिहास इसमें प्रस्तुत किया गया है उसपर ईश्वर के अस्तित्व तथा उसके स्वरूप के विषय में ईसाइयों की धारणा आधारित है।

(१) बाइबिल के पूर्वार्ध का वर्ण्य विषय संसार की सृष्टि तथा यहूदियों का धार्मिक इतिहास है। उससे ईश्वर के विषय में निम्नलिखित शिक्षा मिलती है: एक ही ईश्वर है—अनादि और अनंत, सर्वशक्तिमान और अप्रतिकार्य, विश्व का सृष्टिकर्ता, मनुष्य मात्र का आराध्य। वह सृष्ट संसार के परे होकर उससे अलग है तथा साथ साथ अपनी शक्ति से उसमें व्याप्त भी रहता है। कोई मूर्ति उसका स्वरूप व्यक्त करने में असमर्थ है। वह परमपावन होकर मनुष्य को पवित्र बनने का आदेश देता है, मनुष्य ईश्वरीय विधान ग्रहण कर ईश्वर की आराधना करे तथा ईश्वर के नियमानुसार अपना जीवन बितावे। जो ऐसा नहीं करता वह परलोक में दंडित होगा क्योंकि ईश्वर सब मनुष्यों का उनके कर्मों के अनुसार न्याय करेगा।

पाप के कारण मनुष्य की दुर्गति देखकर ईश्वर ने प्रारंभ से ही मुक्ति की प्रतिज्ञा की थी। उस मुक्ति का मार्ग तैयार करने के लिये उसने यहूदी जाति को अपनी ही प्रजा के रूप में ग्रहण किया तथा बहुत से नबियों को उत्पन्न करके उस जाति में शुद्ध एकेश्वरवाद बनाए रखा। यद्यपि बाइबिल के पूर्वार्ध में ईश्वर का परमपावन न्यायकर्ता का रूप प्रधान है, तथापि यहूदी जाति के साथ उसके व्यवहार के वर्णन में ईश्वर की दयालुता तथा सत्यप्रतिज्ञता पर भी बहुत ही बल दिया गया है।

(२) बाइबिल के उत्तरार्ध से पता चलता है कि ईसा ने ईश्वर के स्वरूप के विषय में एक नए रहस्य का उद्घाटन किया है। ईश्वर त्रियंक है, अर्थात् एक ही ईश्वर में तीन व्यक्ति हैं—पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा। तीनों समान रूप से अनादि, अनंत और सर्वशक्तिमान हैं क्योंकि वे तत्वतः एक हैं। ईश्वर के आभ्यंतर जीवन का वास्तविक स्वरूप है—पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा का अनिर्वचनीय प्रेम। प्रेम से ही प्रेरित होकर ईश्वर ने मनुष्य को अपने आभ्यंतर जीवन का भागी बनाने के उद्देश्य से उसकी सृष्टि की थी किंतु प्रथम मनुष्य ने ईश्वर की इस योजना को ठुकरा दिया जिससे संसार में पाप का प्रवेश हुआ। मनुष्यों को पाप से मुक्त करने के लिये ईश्वर ईसा में अवतरित हुआ (दे० अवतार) जिससे ईश्वर का प्रेम और स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। ईसा ने क्रूस पर मरकर मानव जाति के सब पापों का प्रायश्चित्त किया तथा मनुष्य मात्र के लिये मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जो कोई सच्चे हृदय से पछतावा करे वह ईसा के पुण्यफलों द्वारा पापक्षमा प्राप्त कर सकता है और अनंतकाल तक पिता-पुत्र-पवित्र आत्मा के आभ्यंतर जीवन का साझी बन सकता है (दे० मुक्ति)। इस प्रकार ईश्वर का वास्तविक स्वरूप प्रेम ही है। मनुष्य की दृष्टि से वह दयालु पिता है जिसके प्रति प्रेमपूर्ण आत्मसमर्पण होना चाहिए। बाइबिल के उत्तरार्ध में ईश्वर को लगभग ३०० बार पिता कहकर पुकारा गया है।

(३) बाइबिल के आधार पर ईसाइयों का विश्वास है कि मनुष्य अपनी बुद्धि के बल पर भी ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अपूर्ण होते हुए भी यह ज्ञान प्रामाणिक ही है। ईसाई धर्म का किसी एक दर्शन के साथ अनिवार्य संबंध तो नहीं है, किंतु ऐतिहासिक परिस्थितियों के फलस्वरूप ईसाई तत्वज्ञ प्रायः अफलातून अथवा अरस्तू के दर्शन का सहारा लेकर ईश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं। ईश्वर का अस्तित्व प्रायः कार्यकारण-संबंध के आधार पर प्रमाणित किया जाता है।

ईश्वर निर्गुण, अमूर्त, अभौतिक है। वह अपरिवर्तनीय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान अनंत और अनादि है। वह सृष्टि के परे होते हुए भी इसमें व्याप्त रहता है; वह अंतर्यामी है। ईसाई दार्शनिक एक ओर से सर्वेश्वरवाद तथा अद्वैत का विरोध करते हुए सिखलाते हैं कि समस्त सृष्टि (अतः जीवात्मा भी) तत्वतः ईश्वर से भिन्न है, दूसरी ओर वे अद्वैत को भी पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी धारणा है कि समस्त सृष्टि अपने अस्तित्व के लिये निरंतर ईश्वर पर निर्भर रहती है।

सं० ग्रं०—तौ० दनीलू (T. Danielou) : गॉड ऐंड दि वेज ऑव नोइंग, न्यूयार्क, १९५७; ई० लीरॉय : ल प्रोब्लेम द द्यू, (E. Leroy : Le Probleme De Dieu) पेरिस, १९२९।

[का० बु०]

ईश्वरकृष्ण एक प्रसिद्ध सांख्य दर्शनकार, जिनका काल विवादग्रस्त है : डा० तकाकुसू के अनुसार उनका समय ४५० ई० के लगभग और डा० वि० स्मिथ के अनुसार २४० ई० के आसपास होना चाहिए। यह प्रायः निश्चित है कि वे बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु के गुरु के समकालीन एवं प्रतिपक्षी थे। ईश्वरकृष्णकृत 'सांख्यकारिका' सांख्य दर्शन पर उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन एवं लोकप्रिय ग्रंथ है।

'कारिका' में ईश्वरकृष्ण अपने को क्रमशः आसुरि एवं पंचशिखा के द्वारा सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल का शिष्य बताते हैं। वह मूलतः अनीश्वरवादी हैं। उनके अनुसार आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुःखों से उनके निराकरण के उपायों की खोज आरंभ होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द यथार्थ ज्ञान के स्रोत हैं। इन ज्ञानस्रोतों से 'प्रकृति' और 'पुरुष' की नित्यता एवं मूलत्व सिद्ध होता है। मूल 'प्रकृति' की सूक्ष्मता से उसका प्रत्यक्ष ज्ञान असंभव है, किंतु अपनी 'विकृति' (परिणाम) महत् आदि के रूप में वह बोधगम्य है। 'परिणाम', चूँकि उत्पन्न होता है, अनित्य, असम तथा गतियुक्त है, ईश्वरकृष्ण के अनुसार सुख-दुःख-मोह का स्वभाव 'प्रकृति' का है, पुरुष का नहीं। अतः मोक्ष 'प्रकृति विकृति' का होता है, पुरुष का नहीं। सत्व, रज तथा तम त्रिगुण प्रकृति के हैं और क्रमशः सात्विकता, क्रिया तथा जड़ता के कारण। इन गुणों का कार्य दीपक की

तरह मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना है। ईश्वरकृष्ण 'पुरुष' को अचेतन प्रकृति का 'विपर्यय' बताते हैं, अतः 'पुरुष', 'प्रकृति' की अचेतन क्रियाओं का चेतन द्रष्टा (साक्षी) है, कर्ता नहीं। 'पुरुष' का अस्तित्व शरीरसंघात के परार्थत्व, अधिष्ठान और मोक्ष प्रकृति से सिद्ध है। साथ ही, जन्म मरण एवं उपकरणों के असाम्य और एक साथ प्रकृति के अभाव से 'पुरुष' का अनेकत्व भी सिद्ध है। सारांश में, पुरुष की सांसारिक अवस्था प्रकृति की क्रियाओं के प्रति उसकी मोहदृष्टि तथा 'कैवल्य' (मोक्ष) की अवस्था प्रकृति से 'निवृत्ति' या प्रकृति के स्व-स्वरूप का पृथकत्व ज्ञान है।

सं० ग्रं०—ईश्वरकृष्ण : 'सांख्यकारिका' ; 'कारिका' पर वाचस्पति मिश्र की टीका; जे० एन० मुकर्जी : सांख्य ऑर दि थियरी ऑव रियलिटी; ई० एच० जान्स्टन : अर्ली सांख्य; एस० सी० बनर्जी० : दि सांख्य फ़िलॉसफ़ी; रिचर्ड ग्रेस : दि सांख्य फ़िलॉसफ़ी। [श्री० स०]

ईश्वरचंद्र विद्यासागर (१८२०–१८६१), मेदिनीपुर जिले के वीरसिंह गाँव में अति निर्धन परिवार में जन्म; पिता का नाम ठाकुरदास बंद्योपाध्याय था। तीक्ष्णबुद्धि पुत्र को गरीब पिता ने विद्या के प्रति रुचि ही विरासत में प्रदान की थी। नौ वर्ष की अवस्था में बालक ने पिता के साथ पैदल कलकत्ता जाकर संस्कृत कालेज में विद्यारंभ किया। शारीरिक अस्वस्थता, घोर आर्थिक कष्ट तथा गृहकार्य के बावजूद ईश्वरचंद्र ने प्रायः प्रत्येक परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया। १८४१ में विद्यासमाप्ति पर फोर्ट विलियम कालेज में पचास रुपए मासिक पर मुख्य पंडित की नियुक्ति मिली। तभी 'विद्यासागर' उपाधि से विभूषित हुए। लोकमत ने दानवीर सागर का संबोधन दिया। १८४६ में संस्कृत कालेज में सहकारी संपादक नियुक्त हुए; किंतु मतभेद पर त्यागपत्र दे दिया। १८५१ में उक्त कालेज में मुख्याध्यक्ष बने। १८५५ में असिस्टेंट इंस्पेक्टर, फिर पाँच सौ रुपए मासिक पर स्पेशल इंस्पेक्टर। १८५८ ई० में मतभेद होने पर फिर त्यागपत्र दे दिया। फिर साहित्य तथा समाजसेवा में लगे। १८८० ई० में सी० आई० ई० का संमान मिला।

आरंभिक आर्थिक संकटों ने उन्हें कृपण प्रकृति की अपेक्षा दयासागर ही बनाया। विद्यार्थी जीवन में भी इन्होंने अनेक विद्यार्थियों की सहायता की। समर्थ होने पर बीसों निर्धन विद्यार्थी, सैकड़ों निस्सहाय विधवाओं, तथा अनेकानेक व्यक्तियों को अर्थकष्ट से उबारा। वस्तुतः उच्चतम स्थानों में संमान पाकर भी उन्हें वास्तविक सुख निर्धनसेवा में ही मिला। शिक्षा के क्षेत्र में वे स्त्रीशिक्षा के प्रबल समर्थक थे। श्री बेथ्यून की सहायता से गर्ल्स स्कूल की स्थापना की जिसके संचालन का भार उनपर था। उन्होंने अपने ही व्यय से मेट्रोपोलिस कालेज की स्थापना की। साथ ही अनेक सहायताप्राप्त स्कूलों की भी स्थापना कराई। संस्कृत अध्ययन की सुगम प्रणाली निर्मित की। इसके अतिरिक्त शिक्षाप्रणाली में अनेक सुधार किए। समाजसुधार उनका प्रिय क्षेत्र था, जिसमें उन्हें कट्टरपंथियों का तीव्र विरोध सहना पड़ा, प्राणभय तक आ बना। ईश्वरचन्द्र विधवाविवाह के प्रबल समर्थक थे। शास्त्रीय प्रमाणों से उन्होंने विधवा विवाह को वैध प्रमाणित किया। पुनर्विवाहित विधवाओं के पुत्रों को १८६५ के ऐक्ट द्वारा वैध घोषित करवाया। अपने पुत्र का विवाह विधवा से ही किया। संस्कृत कालेज में अब तक केवल ब्राह्मण और वैद्य ही विद्योपार्जन कर सकते थे, अपने प्रयत्नों से उन्होंने समस्त हिंदुओं के लिये विद्याध्ययन के द्वार खुलवाए। साहित्य के क्षेत्र में बँगला गद्य के प्रथम प्रवर्तकों में थे। उन्होंने ५२ पुस्तकों की रचना की, जिनमें १७ संस्कृत में थीं, ५ अंग्रेजी भाषा में, शेष बँगला में। जिन पुस्तकों से उन्होंने विशेष साहित्यकीर्ति अर्जित की वे हैं, 'बैतालपंचविंशति', 'शकुंतला' तथा 'सीतावनवास'। इस प्रकार मेधावी, स्वावलंबी, स्वाभिमानी, मानवीय, अध्यवसायी, दृढ़प्रतिज्ञ, दानवीर, विद्यासागर, त्यागमूर्ति ईश्वरचंद्र ने अपने व्यक्तित्व और कार्यक्षमता से शिक्षा, साहित्य तथा समाज के क्षेत्रों में अमिट पदचिह्न छोड़े। वे जुलाई १८९१ में दिवंगत हुए। [रा० ना०]

ईसप जनप्रिय नीतिकथाकार। इनकी कथाओं के पात्र मनुष्य की अपेक्षा पशुपक्षी अधिक हैं। इस प्रकार की कथाओं को 'बीस्ट फेबुल्स' कहा जाता है। परंतु ईसप नाम का कोई व्यक्ति कभी था, इस विषय में बहुत कुछ संदेह है। तथापि हीरोदोतस एवं कतिपय अन्य लेखकों के साक्ष्य के अनुसार ईसप के जीवन की कथा इस प्रकार की थी : ई० पू० छठी शताब्दी के मध्य में ईसप सामॉस द्वीप के निवासी इयाद्‌मन् के दास थे, परंतु वे विदेशी दास जिनके विषय में यह निश्चित पता नहीं था कि फ्रथाके, फ्रिगिया अथवा इथियोपिया देशों में से उनका जन्म कहाँ हुआ था। वे अत्यंत कुरूप थे। देल्फी में उनपर देवमंदिर के स्वर्णचषक की चोरी का आरोप लगाया गया और उनको पर्वतशिखर से धक्का देकर मृत्युदंड दिया गया। पर प्रो० गिल्बर्ट मरे को इस कथा पर विश्वास नहीं है।

जो कथाएँ ईसप के नाम से प्रचलित हैं उनका वर्तमान रूप उतना पुराना नहीं है जितना उपर्युक्त कथा के अनुसार होना चाहिए। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से ईसप और उनकी कथाओं की चर्चा चल पड़ी थी। अरिस्तोफानिज़, ज़ेनोफ़न्, प्लेटो और अरस्तू की रचनाओं में इसके संकेत मिलते हैं। सुकरात ने अपने अंतिम समय में कुछ कथाओं को पद्यबद्ध किया था, ऐसा भी कहा जाता है। पर वास्तविकता यह है कि ईसवी सन् के पूर्व इन कथाओं के जो संकलन हुए थे वे अब उपलब्ध नहीं होते। इस समय जो प्राचीनतम संकलन उपलब्ध होते हैं वे फेद्रुस और आवियनुस द्वारा लातीनी भाषा में तथा बाब्रियस द्वारा ग्रीक भाषा में प्रस्तुत किए गए थे। ये सभी लेखक ईसवी सन् के आरंभ के पश्चात् हुए हैं। इसके पश्चात् इन कथाओं का अनुवाद यूरोप की आधुनिक भाषाओं में होने लगा। इन अनुवादों में ज्याँ द ला फौन्ताई का पद्यबद्ध फ्रेंच अनुवाद अत्यधिक प्रसिद्ध है।

आधुनिक समय में ईसप की कहानियों के दो संग्रह फ्रांस और जर्मनी में मूल ग्रीक रूप में प्रकाशित हुए हैं। इनमें से ऐमील शांब्री (पेरिस, १९२७) संस्करण में ३५८ कथाएँ हैं तथा टायब्नर की ग्रीक ग्रंथमाला में प्रकाशित हाल्म के संस्करण में ४२६। ग्रीक संस्करण शनैः शनैः परिवर्धित होकर इस रूप को प्राप्त हुए हैं।

ईसप् की कथाएँ पंचतंत्र की कथाओं के समान मनोरंजन के साथ नीति और व्यवहारकुशलता की शिक्षा देती हैं। यत्र तत्र इनमें हासपरिहास का भी पुट पाया जाता है। जातक कथाओं के साथ भी इनका पर्याप्त साम्य पाया जाता है। कुछ लेखक भारतीय कथाओं को ही ईसप की कथाओं का आधार मानते हैं, अन्य आलोचक इस मत को नहीं मानते। ईसप की कथाओं का अनुवाद हिंदी, संस्कृत एवं अन्य भारतीय भाषाओं में भी हो चुका है।

सं० ग्रं०—शांब्री का मूल ग्रीक संस्करण, १९२७; हाल्म का मूल ग्रीक संस्करण १८८९; ईसप नीतिकथा (संस्कृत अनुवाद)।

[भो० ना० श०]

ईसाई धर्म (१) अनुयायियों की संख्या तथा विस्तार की दृष्टि से ईसाई धर्म संसार का सबसे महत्वपूर्ण धर्म है। आजकल मानव जाति के लगभग ३५ प्रति शत लोग ईसाई हैं। विस्तार के विषय में ध्यान देने की बात यह है कि एशिया में उत्पन्न होते हुए भी ईसाई धर्म का ऐतिहासिक विकास प्रधानतया पश्चिम में हुआ है, फलतः वह एशिया में अपेक्षाकृत कम प्रचलित है। एशिया की आबादी के केवल तीन प्रति शत व्यक्ति ईसाई हैं। अन्य महाद्वीपों के आँकड़े इस प्रकार हैं : यूरोप के ७८, अमरीका के ८३, अफ्रीका के १४ तथा ओशिएनिया के ४० प्रति शत लोग ईसाई हैं। भारत में ईसाइयों की संख्या लगभग एक करोड़ है।

(२) प्रवर्तन—ईसा के जीवनकाल में ही उनके शिष्यों को उनके ईश्वरत्व का आभास यद्यपि मिल गया था तथापि क्रूस पर ईसा की मृत्यु के कारण शिष्यों का यह विश्वास विचलित होने लगा था। फिर जब पुनरुत्थान के कारण उनका विश्वास ईसा के ईश्वरत्व में जमा तब वे पूर्णरूपेण समझने लगे कि ईसा सब मनुष्यों के लिये मुक्ति का द्वार खोलकर एक विश्वधर्म का प्रवर्तन करने आए हैं। स्वर्गारोहण के पूर्व ईसा का आदेश पाकर उनके शिष्य संसार भर में मुक्ति के इस शुभ संदेश का प्रचार करने लगे। इस प्रकार ईसाई धर्म का जन्म हुआ। (इस धर्म के संगठन, इतिहास तथा विभिन्न संप्रदायों के सिंहावलोकन के लिये दे० गिरजा, गिरजे का इतिहास)।

(३) ईसाइयों का धर्मग्रंथ बाइबिल है। ईसा ने यहूदी धर्मग्रंथ में वर्णित मसीह होने का दावा किया है, अतः ईसाई धर्म यहूदी धर्म का विकास

माना जा सकता है। वास्तव में ईसाइयों ने यहूदियों का समूचा धर्मग्रंथ श्रुति मानकर अपनी बाइबिल के पूर्वार्ध के रूप में अपनाया है। बाइबिल के उत्तरार्ध में ईसा की जीवनी, उनकी शिक्षा का निरूपण तथा ईसाई धर्म का प्रारंभिक इतिहास प्रस्तुत किया गया है। (विशेष विवरण के लिये दे० बाइबिल)।

(४) ईसाई धर्म के सिद्धांतों में ईसा का ईश्वरत्व सबसे महत्वपूर्ण है। ईसाइयों का मूलभूत विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य जाति के पापों का प्रायश्चित्त करने तथा मनुष्यों को मुक्ति के उपाय दिलाने के उद्देश्य से ईसा में अवतरित हुआ। फलस्वरूप ईसाई भक्ति, पूजनपद्धति, साधना, आदि सब के सब ईसा पर केंद्रीभूत हैं। इस प्रकार ईसा ईसाई धर्म के प्रवर्तक मात्र नहीं, बल्कि उसके प्राण भी हैं। ईसाई अवतारवाद की विशेषता यह है कि ईसा के ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनों की ही वास्तविकता पर बल दिया जाता है (दे० अवतार)। एक ओर ईसा ईश्वर होने के नाते आराधना तथा पूर्ण आत्मसमर्पण के अधिकारी बन जाते हैं; दूसरी ओर, वास्तविक मनुष्य होने के नाते वह भक्तों के अत्यधिक निकट होकर कोमल भक्ति के पात्र भी हैं। तीस साल तक साधारण किंतु निष्पाप मानव जीवन बिताकर उन्होंने जो सद्गुणों का जीता जागता उदाहरण उपस्थित किया है वह अंतःकरण को प्रेरित किए बिना नहीं रह सकता। क्रूस पर उनके दारुण दुःखभोग का ध्यान भक्तों के हृदय पर गहरा प्रभाव डालकर उन्हें (भक्तों को) जीवन की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ बना देता है (दे० भक्ति)।

ईश्वर के स्वरूप के विषय में ईसाई सिद्धांत को अन्यत्र स्पष्ट किया गया है (दे० ईश्वर)। ईसाई दृष्टि से सृष्टि का किसी निश्चित समय में प्रारंभ हुआ था। दृश्य विश्वमंडल तथा मनुष्य की सृष्टि के पूर्व ईश्वर ने स्वर्गदूतों (फरिश्तों) की सृष्टि की थी। इनमें से कुछ पतित होकर नरक में डाल गए जो नरकदूत कहलाते हैं; उनका नेता शैतान है (दे० स्वर्गदूत, शैतान)।

मनुष्य की सृष्टि इसीलिये हुई थी कि वह कुछ समय तक संसार में रहने के बाद स्वर्ग में ईश्वर के आनंद का भागी बन जाए। प्रथम मनुष्य के विद्रोह से संसार में पाप का प्रवेश होने के कारण मुक्ति का मार्ग बंद हुआ। साईं ने मानव जाति के पापों का प्रायश्चित्त किया तथा सबको उस ईश्वरीय कृपा का अधिकारी बनाया, जिसके द्वारा मनुष्य परमगति प्राप्त कर सकता है (दे० मुक्ति, स्वर्ग)। जो मनुष्य अपने पापों के लिये पछतावा करने से इनकार करेगा वह नरक में जायगा (दे० नरक)। ईसाइयों के अनुसार मनुष्य की अमर आत्मा एक ही बार मानव शरीर धारण कर संसार में जीवन व्यतीत करती है। उनका कहना है कि कयामत के दिन सब मनुष्य सशरीर जी उठेंगे तथा ईसा उनका न्याय करने के लिये स्वर्ग से उतरेंगे।

(५) ईसाई धर्म में कर्मकांड की उपेक्षा नहीं होती। पूजनपद्धति का केंद्र खीस्तयाग (होली मास) है जिसमें रहस्यात्मक ढंग से क्रूस का बलिदान ठहराया जाता है (दे० यज्ञ)। विभिन्न संस्कार भी होते हैं जिनमें से बपतिस्मा सभी ईसाई संप्रदायों में प्रचलित है (दे० संस्कार)। ईसाइयों में पर्व भी होते हैं (दे० पर्व)। यह सब होते हुए भी स्मरणीय है कि ईसा ने नैतिकता को ही धार्मिक जीवन का आधार माना है, अतः ईसाई धर्म में मूसा के दस नियमों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है (दे० मूसा)। ईसा के अनुसार उन नियमों का सार यह है कि मनुष्य ईश्वर से सर्वाधिक प्रेम रखे और अन्य सब मनुष्यों को प्यार करे।

सं० ग्रं०—के० ऐडम : दि क्राइस्ट ऑव फेथ, लंडन, १९५७; एम० शेन्रेन : डी मिस्टेरिन डेस क्राइस्टेंटम्स : (M. Scheeren : Die mysterien des chris teentums) १९२५। [का० बु०]

ईसाई धर्मयुद्ध, क्रूसेड अथवा क्रूश युद्ध

पश्चिमी यूरोप-निवासी ईसाइयों ने १०९५ और १२९१ के बीच अपने धर्म की पवित्र भूमि फिलिस्तीन और उसकी राजधानी जुरूसलम में स्थित ईसा की समाधि का गिरजाघर मुसलमानों से छीनने और अपने अधिकार में करने के प्रयास में जो युद्ध किए उनको क्रूश युद्ध अर्थात् क्रास के निमित्त युद्ध कहा जाता है। इतिहासकार ऐसे सात क्रूशयुद्ध मानते हैं।

ईसाई मतावलंबियों की पवित्र भूमि और उसके मुख्य स्थान साथ के मानचित्र में दिखाए गए हैं। यात्रा की प्रमुख मंजिल जुरूसलम नगर में वह बड़ा गिरजाघर था जिसे रोम के प्रथम ईसाई सम्राट् कोंस्तांतीन महान् की माँ ने ईसा की समाधि के पास बनवाया था।

यह क्षेत्र रोम के साम्राज्य का अंग था जिसके शासक चौथी सदी से ईसाई मतावलंबी हो गए थे। सातवीं सदी में इस्लाम का प्रचार बड़ी तीव्र गति से हुआ और पैगंबर के उत्तराधिकारी खलीफाओं ने निकट और दूर के देशों पर अपना शासन स्थापित कर लिया। फिलिस्तीन तो पैगंबर की मृत्यु के १० वर्ष के भीतर ही उनके अधीन हो गया था।

मुसलमान ईसा को भी ईश्वर का पैगंबर मानते हैं। साथ ही, अरब जाति में सहिष्णुता भी थी, इससे ईसाइयों को अपनी पवित्र भूमि के स्थलों की यात्रा में कोई बाधा या कठिनाई नहीं हुई।

११वीं सदी में यह स्थिति बदल गई। मध्य एशियाई तुर्क जाति की इतनी जनवृद्धि हुई कि वह और फैली और इस्लाम धर्म ग्रहण करने से उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई। उसकी एक शाखा ने सुलतान महमूद के नेतृत्व में भारत पर आक्रमण किया और उसका पश्चिमोत्तर भाग दबा लिया। एक दूसरी शाखा ने (जो अपने एक सरदार सेल्जुक के नाम से प्रसिद्ध है) कई देशों के अनंतर फिलिस्तीन पर भी कब्जा किया और जुरूसलम और वहाँ के पवित्र स्थान १०७१ ई० में उसके अधीन हो गए। इस समय से ईसाइयों की यात्रा कठिन और आशंकापूर्ण हो गई।

दूसरी ओर पश्चिमी यूरोप में नार्मन जाति की शक्ति का विकास हुआ। नार्मन इंग्लैंड के शासक बन गए; फ्रांस के एक भाग पर वे पहले से ही छाए हुए थे, १०७० के लगभग उन्होंने सिसिली द्वीप मसलमानों से जीता और उससे मिला हुआ इटली का दक्षिणी भाग भी दबा लिया। फलस्वरूप भूमध्यसागर, जो उत्तरी अफ्रीका के मुसलमान शासकों के दबाव में था, इस समय के ईसाइयों के लिये खुल गया।

इटली के कई स्वतंत्र नगर (जिनमें से वेनिस, जेनोआ और पीसा प्रमुख थे) वाणिज्य में कुशल थे और अब और भी उन्नतिशील हो गए। उनकी नौसेना बढ़ी और ईसाइयों को अपनी पवित्र भूमि के लिये नया मार्ग भी उपलब्ध हो गया।

पर ईसाई जगत् में प्रबल फूट भी थी। ३९५ ई० में रोमन साम्राज्य दो भागों में बँट गया था। पश्चिमी भाग, जिसकी राजधानी रोम थी, ४७६ में उत्तर की बर्बर जातियों के आक्रमण से टूट गया। पर पोप का प्रभाव स्थिर रहा और इन जातियों के ईसाई हो जाने पर बहुत बढ़ गया। यहाँ तक कि पश्चिमी यूरोप पर पोप का निर्विवाद आधिपत्य था। इसके शासक पोप से आशीर्वाद प्राप्त करते थे और यदि पोप अप्रसन्न होकर किसी शासक का बहिष्कार करता, तो उसे कठिन प्रायश्चित्त करना होता था और प्रचुर धन दंड के रूप में पोप को देना पड़ता था। इस क्षेत्र के शासकों में से एक सम्राट् निर्वाचित होता था जो पोप का सहकारी माना जाता था और पवित्र रोमन सम्राट् कहलाता था।

ईसाई जगत् के पूर्वी भाग की राजधानी कुस्तुंतुनियाँ (कोंस्तांतीन नगर) में थी और वहाँ ग्रीक (यूनानी) जाति के सम्राट् शासन करते थे। पूर्वी यूरोप के अतिरिक्त उनका राज्य एशिया माइनर पर भी था। तुर्कों ने एशिया माइनर के अधिकांश पर कब्जा कर लिया था, केवल राजधानी के निकट का और कुछ समुद्रतट का क्षेत्र सम्राट् के पास रह गया था। सम्राट् ने इस संकट में पश्चिमी ईसाइयों की सहायता माँगी। रोम का पोप स्वयं ही पवित्र भूमि को तुर्कों से मुक्त कराने का इच्छुक था। एक प्रभावशाली प्रचारक (आमिया निवासी पीतर संन्यासी) ने फ्रांस और इटली में धर्मयुद्ध के लिये जनता को उत्साहित किया। फलस्वरूप लगभग छः लाख क्रूशधर प्रस्तुत हो गए। ईसाई जगत् के पूर्वी और पश्चिमी भागों में धार्मिक मतभेद इतना था कि १०५४ में रोम के पोप और कोंस्तांतीन नगर के पात्रिआर्क (जो पूर्वी ईसाइयों का अध्यक्ष था) ने एक दूसरे को जातिच्युत कर दिया था। पश्चिम का उन्नतिशील राजनीतिक दल (अर्थात् नार्मन जाति) पूर्वी सम्राट् को, जो यूनानी था, निकम्मा समझता था। उसकी धारणा थी कि इस साम्राज्य में नार्मन शासन स्थापित होने पर ही तुर्कों से युद्ध में जीत हो सकती है। इन विरोधों तथा मतभेदों का क्रूश युद्धों के इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा।

प्रथम क्रूश युद्ध १०९६–१०९९—इस युद्ध में दो प्रकार के क्रूशधरों ने भाग लिया। एक तो फ्रांस, जर्मनी और इटली के जनसाधारण जो लाखों

की संख्या में पोप और संन्यासी पीतर की प्रेरणा से (बहुतेरे) अपने बाल-बच्चों के साथ गाड़ियों पर सामान लादकर पीतर और अन्य श्रद्धोन्मत्त नेताओं के पीछे पवित्र भूमि की ओर मार्च, १०९६ में थलमार्ग से चल दिए। बहुतेरे इनमें उद्दंड थे और विधर्मियों के प्रति तो सभी द्वेषरत थे। उनके पास भोजन सामग्री और परिवहन साधन का अभाव होने के कारण वे मार्ग में लूट खसोट और यहूदियों की हत्या करते गए जिसके फलस्वरूप बहुतेरे मारे भी गए। इनकी यह प्रवृत्ति देखकर पूर्वी सम्राट् ने इनके कोंस्तांतीन नगर पहुँचने पर दूसरे दल की प्रतीक्षा किए बिना बास्फोरस के पार उतार दिया। वहाँ से बढ़कर जब वे तुर्कों द्वारा शासित क्षेत्र में घुसे तो, मारे गए।

दूसरा दल पश्चिमी यूरोप के कई सुयोग्य सामंतों की सेनाओं का था जो अलग अलग मार्गों से कोंस्तांतीन पहुँचे। इनके नाम इस प्रकार हैं :—(१) लरेन का ड्यूक गाडफे और उसका भाई बाल्डविन; (२) दक्षिण फ्रांस स्थित तूलू का ड्यूक रेमों; (३) सिसिली के विजेता नार्मनों का नेता बोहेमों (जो पूर्वी सम्राट् का स्थान लेने का इच्छुक भी था)। इनकी यात्रा के मार्ग मानचित्र में दिखाए गए हैं। पूर्वी सम्राट् ने इन सेनाओं को मार्गपरिवहन इत्यादि की सुविधाएँ और स्वयं सैनिक सहायता देने के बदले इनसे यह प्रतिज्ञा कराई कि साम्राज्य के भूतपूर्व प्रदेश, जो तुर्कों ने हथिया लिए थे, फिर जीते जाने पर वे सम्राट् को दे दिए जायँगे। यद्यपि इस प्रतिज्ञा का पूरा पालन नहीं हुआ और सम्राट् की सहायता यथेष्ट नहीं प्राप्त हुई, फिर भी क्रूशधर सेनाओं को इस युद्ध में पर्याप्त सफलता मिली।

(कोंस्तांतीन से आगे इन सेनाओं का मार्ग मानचित्र में अंकित है।) सर्वप्रथम उनका सामना होते ही तुर्कों ने निकाया नगर और उससे संबंधित प्रदेश सम्राट् को दे दिए। फिर सेना ने दोरीलियम स्थान पर तुर्कों को पराजित किया और वहाँ से अंतिओक में पहुँचकर आठ महीने के घेरे के बाद उसे जीत लिया। इससे पहले ही बाल्डविन ने अपनी सेना अलग कर के पूर्व की ओर आर्मीनिया के अंतर्गत एदेसा प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया।

अंतिओक से नवंबर १०९८ में चलकर क्रूशधर सेनाएँ मार्ग में स्थित त्रिपोलिस, तीर, एकर तथा सिजरिया के शासकों से दंड लेते हुए जून, १०९९ में जुरूसलम पहुँचीं और पाँच सप्ताह के घेरे के बाद जुलाई, १०९९ में उसपर अधिकार कर लिया। उन्होंने नगर के मुसलमान और यहूदी निवासियों की (उनकी स्त्रियों और बच्चों के साथ) निर्मम हत्या कर दी।

इस विजय के बाद क्रूशधरों ने जीते हुए प्रदेशों में अपने चार राज्य स्थापित किए (जो मानचित्र में दिखाए गए हैं)। पूर्वी रोमन सम्राट् इससे अप्रसन्न हुआ पर इन राज्यों को वेनिस, जेनोआ इत्यादि समकालीन महान् शक्तियों की नौसेना की सहायता प्राप्त थी जिनका वाणिज्य इन राज्यों के सहारे एशिया में फैलता था। इसके अतिरिक्त धर्मसैनिकों के दो दल, जो मठरक्षक (नाइट्स टेंप्लर्स) और स्वास्थ्यरक्षक (नाइट्स हास्पिटलर्स) के नाम से प्रसिद्ध हैं, इनके सहायक थे। पादरियों और भिक्षुओं के समान ये धर्मसैनिक पोप से दीक्षा पाते थे और आजीवन ब्रह्मचर्य रखने तथा धर्म, असहाय स्त्रियों और बच्चों की रक्षा करने की शपथ लेते थे।

द्वितीय क्रूश युद्ध ११४७–११४९—सन् ११४४ में मोसल के तुर्क शासक इमाद उद्दीन ज़ंगी ने एदेसा को ईसाई शासक से छीन लिया। पोप से सहायता की प्रार्थना की गई और उसके आदेश से प्रसिद्ध संन्यासी संत बर्नार्ड ने धर्मयुद्ध का प्रचार किया।

इस युद्ध के लिये पश्चिमी यूरोप के दो प्रमुख राजा (फ्रांस के सातवें लुई और जर्मनी के तीसरे कोनराड) तीन लाख की सेना के साथ थलमार्ग से कोंस्तांतीन होते हुए एशिया माइनर पहुँचे। इनके परस्पर वैमनस्य और पूर्वी सम्राट् की उदासीनता के कारण इन्हें सफलता न मिली। जर्मन सेना इकोनियम के युद्ध में ११४७ में परास्त हुई और फ्रांस की अगले वर्ष लाउदीसिया के युद्ध में। पराजित सेनाएँ समुद्र के मार्ग से अंतिओक होती हुई जुरूसलम पहुँचीं और वहाँ के राजा के सहयोग से दमिश्क पर घेरा डाला, पर बिना उसे लिए हुए ही हट गई। इस प्रकार यह युद्ध नितांत असफल रहा।

तृतीय क्रूशयुद्ध ११८८–११९२—इस युद्ध का कारण तुर्कों की शक्ति का उत्थान था। सुलतान सलाहउद्दीन (११३७–११९३) के नेतृत्व में उनका बड़ा साम्राज्य बन गया जिसमें उत्तरी अफ्रीका में मिस्र, पश्चिमी एशिया में फ़िलिस्तीन, सीरिया, अरब, ईरान तथा इराक संमिलित थे। उसने ११८७ में जुरूसलम के ईसाई राजा को हत्तिन के युद्ध में परास्त कर बंदी कर लिया और जुरूसलम पर अधिकार कर लिया। समुद्रतट पर स्थित तीर पर उसका आक्रमण असफल रहा और इस बंदर का बचाव ११८८ में करने के बाद ईसाई सेना ने दूसरे बंदर एकर को सलाहउद्दीन से लेने के लिये उसपर अगस्त, ११८९ में घेरा डाला जो २३ महीने तक चला। सलाहउद्दीन ने घेरा डालनेवालों को घेरे में डाल दिया। जब ११९१ के अप्रैल में फ्रांस की सेना और जून में इंग्लैंड की सेना वहाँ पहुँची तब सलाहउद्दीन ने अपनी सेना हटा ली और इस प्रकार जुरूसलम के राज्य में से (जो ११९९ में स्थापित चार फिरंगी राज्यों में प्रमुख था) केवल समुद्रतट का वह भाग, जिसमें ये बंदर (एकर तथा तीर) स्थित थे, शेष रह गया।

इस युद्ध के लिये यूरोप के तीन प्रमुख राजाओं ने बड़ी तैयारी की थी पर वह सहयोग न कर सके और पारस्परिक विरोध के कारण असफल रहे।

प्रथम जर्मन सम्राट् फ्रेडरिक लालमुंहा (बार्बरोसा), जिसकी अवस्था ८० वर्ष से अधिक थी, ११८९ के आरंभ में ही अपने देश से थलमार्ग से चल दिया और एशिया माइनर में तुर्की क्षेत्र में प्रवेश करके उसने उसका कुछ प्रदेश जीत भी लिया, पर आर्मीनिया की एक पहाड़ी नदी को तैरकर पार करने में डूबकर जून, ११९० में मर गया। उसकी सेना के बहुत सैनिक मारे गए, बहुत भाग निकले; शेष उसके पुत्र फ्रेडरिक के साथ एकर के घेरे में जा मिले।

दूसरा फ्रांस का राजा फिलिप ओगुस्तू अपनी सेना जेनोआ के बंदर से जहाजों पर लेकर चला, पर सिसिली में इंग्लैंड के राजा से (जो अब तक उसका परम मित्र था) विवादवश एक वर्ष नष्ट करके अप्रैल, ११९१ में एकर पहुँच पाया।

इस क्रूशयुद्ध का प्रमुख पात्र इंग्लैंड का राजा रिचर्ड प्रथम था, जो फ्रांस के एक प्रदेश का ड्यूक भी था और अपने पिता के राज्यकाल में फ्रांस के राजा का परम मित्र रहा था। इसने अपनी सेना फ्रांस में ही एकत्र की और वह फ्रांस की सेना के साथ ही समुद्रतट तक गई। इंग्लैंड का समुद्री बेड़ा ११८९ में ही वहाँ से चलकर मारसई के बंदर पर उपस्थित था। सेना का कुछ भाग उसपर और कुछ रिचर्ड के साथ इटली होता हुआ सिसिली पहुँचा, जहाँ फ्रांस नरेश से अनबन के कारण लगभग एक वर्ष नष्ट हुआ था। वहाँ से दोनों अलग हो गए और रिचर्ड ने कुछ समय साइप्रस का द्वीप जीतने और अपना विवाह करने में व्यय किया। इस कारण वह फ्रांस के राजा से दो महीने बाद एकर पहुँचा (तीनों राजाओं की सेनाओं का मार्ग मानचित्र में दिखाया गया है)। एकर के मुक्त हो जाने पर राजाओं का मतभेद भड़क उठा। फ्रांस का राजा अपने देश लौट गया। रिचर्ड ने अकेले ही तुर्कों के देश मिस्र की ओर बढ़ने का प्रयास किया जिसमें उसने नौ लड़ाइयाँ लड़ीं। जुरूसलम से ६ मील तक बढ़ा पर उसपर घेरा न डाल सका। वहाँ से लौटकर उसने समुद्र तट पर जफ्फा में सितंबर, ११९२ में सलाहउद्दीन से संधि कर ली जिससे ईसाई यात्रियों को बिना रोक टोक के यात्रा करने की सुविधा दे दी गई और तीन वर्ष के लिये युद्ध को विराम दिया गया।

युद्धविराम की अवधि के उपरांत जर्मन सम्राट् हेनरी षष्ठ ने फिर आक्रमण किया और उसकी सहायता के लिये दो सेनाएँ समुद्री मार्ग से भी आईं। पर सफलता न मिली।

चतुर्थ क्रूशयुद्ध १२०२–१२०४—इस युद्ध का प्रवर्तक पोप इन्नोसेंत तृतीय था। उसकी प्रबल इच्छा ईसाई मत के दोनों संप्रदायों (पूर्वी और पश्चिमी) को मिलाने की थी जिसके लिये वह पूर्वी सम्राट् को भी अपने अधीन करना चाहता था। पोप की शक्ति इस समय चरम सीमा पर थी। वह जिस राज्य को जिसे चाहता दे देता था। उसकी इस नीति को उस समय नौसेना और वाणिज्य में सबसे शक्तिशाली राज्य वेनिस और नार्मन जाति की भी सहानुभूति और सहयोग प्राप्त था। पोप का उद्देश्य इस प्रकार ईसाई जगत् में एकता उत्पन्न करके मुसलमानों को पवित्र भूमि से निकाल देना था। पर उसके सहायकों का लक्ष्य राजनीतिक और आर्थिक था।

ईसाई धर्मयुद्ध (देखें पृष्ठ ३७)

ईसाई मतावलंबियों की पवित्र भूमि और उसके मुख्य स्थल (देखें पृ० ३७)
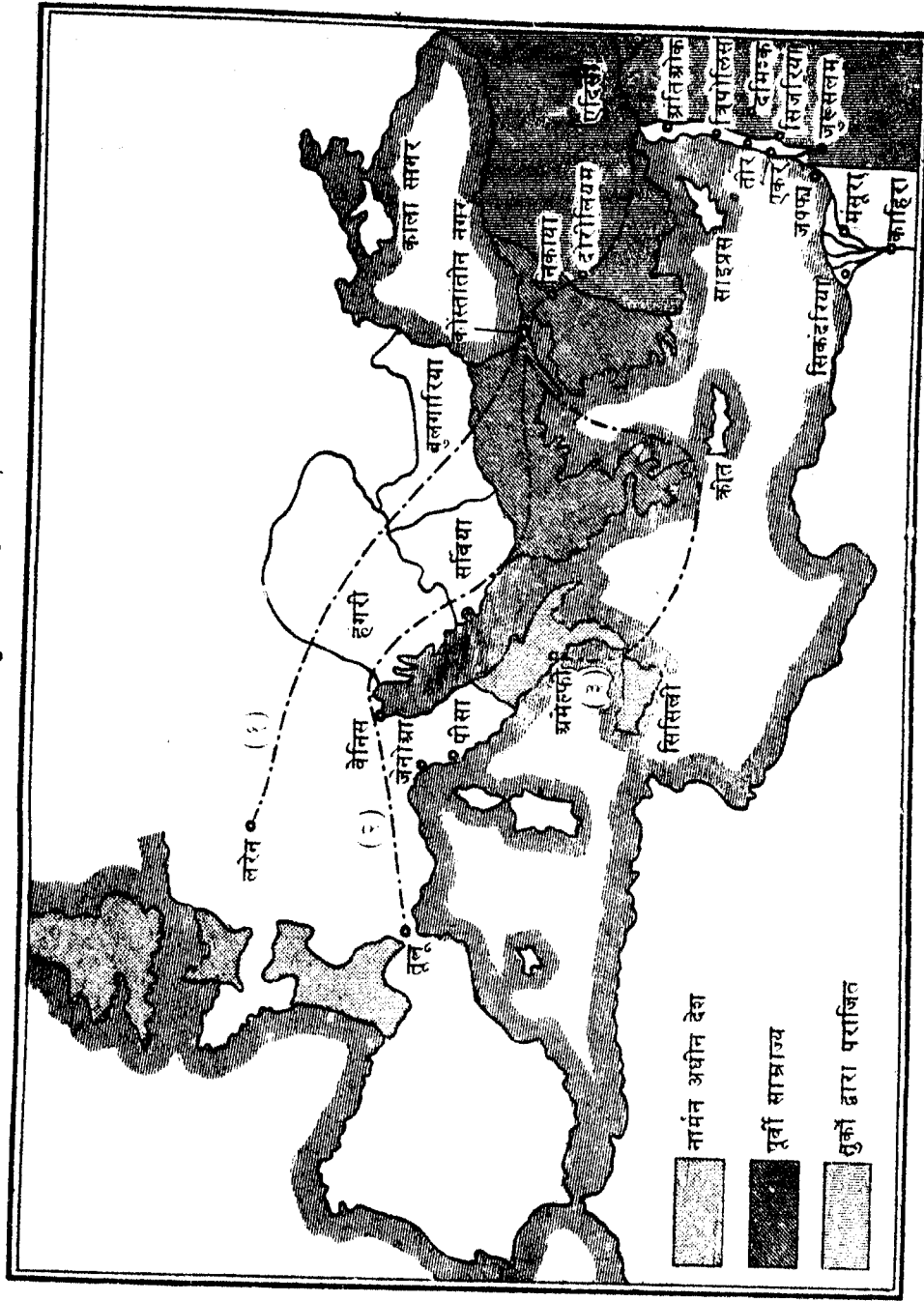
प्रथम ईसाई धर्मयुद्ध (क्रूस युद्ध) से संबंधित मानचित्र (देखें पृ० ३८)

ईसाई धर्मयुद्ध (देखें पृष्ठ ३७)

टैटिसबन
लियो
मारसेइ
जेनाआ
पीस
एड्रियानोपल
काला सागर
फ़िलाडेल्फिया आइकोनियम
लाउदिसिया
कार्थेज
मेसिना
ट्यूनिस
सिसिली
साइप्रस
अंतिओक
क्रीत
तीर
दमिश्क
दामिएता
जफ्फा
जुरूसलम
काहिरा

---- सम्राट फ्रेड्रिक का मार्ग
---- अंग्रेजी बेड़े का मार्ग
---- फ्रांसीसी सेना का मार्ग
सलाहउद्दीन का राज्य
+ सम्राट फ्रेड्रिक के डूबने का स्थान
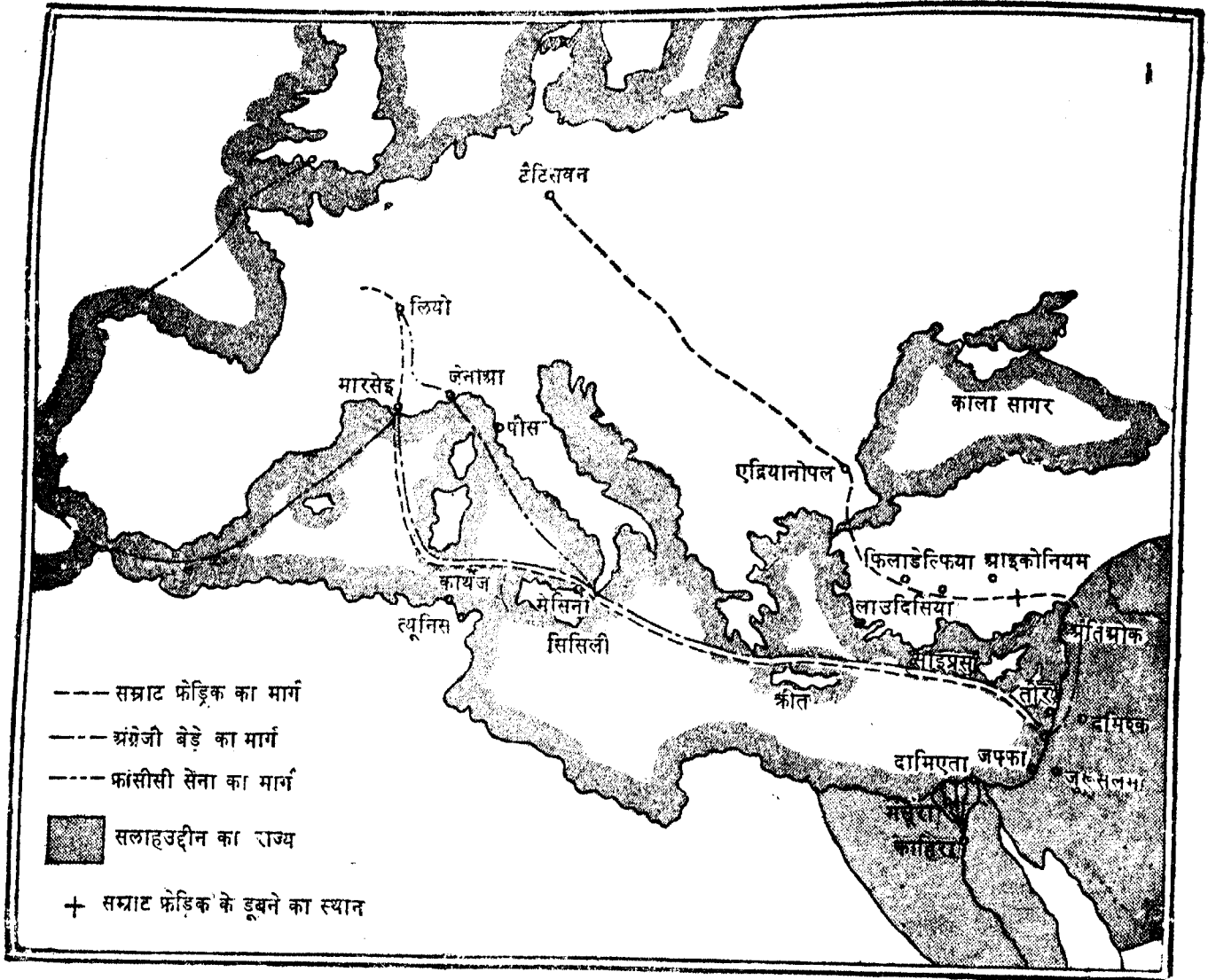
तृतीय ईसाई धर्मयुद्ध
(देखें पृ० ३८)
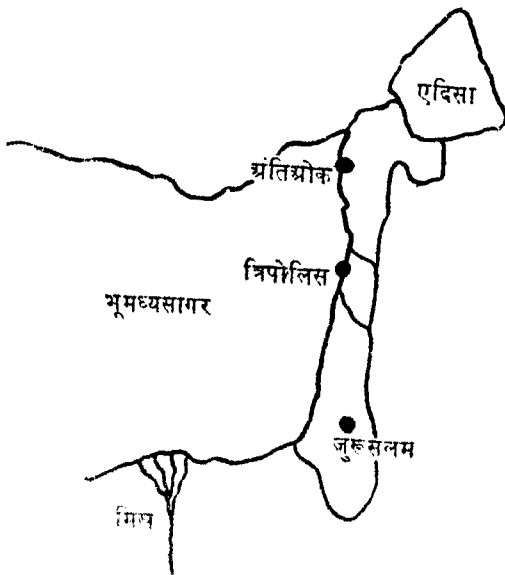
प्रथम ईसाई धर्मयुद्ध (क्रूश युद्ध) के बाद क्रूशधरों द्वारा जीते हुए प्रदेशों में स्थापित चार राज्य (देखें पृ० ३८)
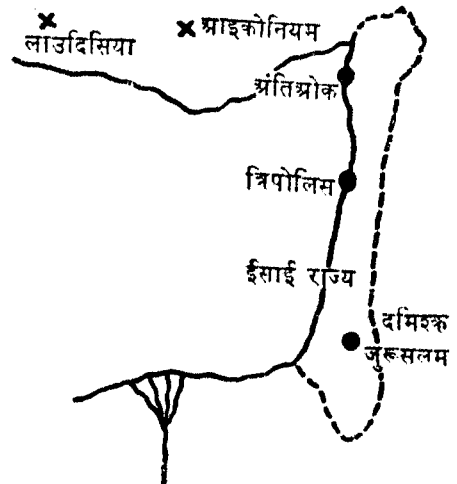
द्वितीय ईसाई धर्मयुद्ध (देखें पृ० ३८)

सन् १२०२ में पूर्वी सम्राट् ईजाक्स को उसके भाई आलेक्सियस ने अंधा करके हटा दिया था और स्वयं सम्राट् बन बैठा था। पश्चिमी सेनाएँ समुद्र के मार्ग से कोंस्तांतीन पहुँचीं और आलेक्सियस को हराकर ईजाक्स को गद्दी पर बैठाया। उसकी मृत्यु हो जाने पर कोंस्तांतीन पर फिर घेरा डाला गया और विजय के बाद वहाँ बाल्डविन को, जो पश्चिमी यूरोप में फ्लैंडर्स (बेल्जियम) का सामंत था, सम्राट् बनाया गया। इस प्रकार पूर्वी साम्राज्य भी पश्चिमी फिरंगियों के शासन में आ गया और ६० वर्ष तक बना रहा।

इस क्रांति के अतिरिक्त फिरंगी सेनाओं ने राजधानी को भली प्रकार लूटा। वहाँ के कोष से धन, रत्न और कलाकृतियाँ लेने के अतिरिक्त प्रसिद्ध गिरजाघर संत सोफिया को भी लूटा जिसकी छत में कहा जाता है कि एक सम्राट् ने १८ टन सोना लगाया था।

बालकों का धर्मयुद्ध (१२१२)--सन् १२१२ में फ्रांस के स्तेफ़ाँ नाम के एक किसान ने, जो कुछ चमत्कार भी दिखाता था, घोषणा की कि उसे ईश्वर ने मुसलमानों को परास्त करने के लिये भेजा है और यह पराजय बालकों द्वारा होगी। इस प्रकार बालकों के धर्मयुद्ध का प्रचार हुआ, जो एक विचित्र घटना है। ३०,००० बालक बालिकाएँ, जिनमें से अधिकांश १२ वर्ष से कम अवस्था के थे, इस काम के लिये ७ जहाजों में फ्रांस के दक्षिणी बंदर मारसई से चले। उन्हें समुद्रयात्रा पैदल ही संपन्न होने का विश्वास दिलाया गया। दो जहाज तो समुद्र में समस्त यात्रियों समेत डूब गए, शेष के यात्री सिकंदरिया में दास बनाकर बेच दिए गए। इनमें से कुछ १७ वर्ष उपरांत संधि द्वारा मुक्त हुए।

इसी वर्ष एक दूसरे उत्साही ने २०,००० बालकों का दूसरा दल जर्मनी में खड़ा किया और वह उन्हें जेनोआ तक ले गया। वहाँ के बड़े पादरी ने उन्हें लौट जाने का परामर्श दिया। लौटते समय उनमें से बहुतेरे पहाड़ों की यात्रा में मर गए।

पाँचवाँ क्रूशयुद्ध १२२८-२९--में सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय ने मिस्र के शासक से संधि करके, पवित्र भूमि के मुख्य स्थान जुरूसलम बेथलेहम, नजरथ, तीर और सिदोन तथा उनके आसपास के क्षेत्र प्राप्त करके अपने को जुरूसलम के राजपद पर अभिषिक्त किया।

छठा क्रूशयुद्ध १२४८-५४--कुछ ही वर्ष उपरांत जुरूसलम फिर मुसलमानों ने छीन लिया। जलालउद्दीन, ख्वारिज्मशाह, जो खीवा का शासक था, चंगेज खाँ से परास्त होकर, पश्चिम गया और ११४४ में उसने जुरूसलम लेकर वहाँ के पवित्र स्थानों को क्षति पहुँचाई और निवासियों की हत्या की।

इसपर फ्रांस के राजा लुई नवें ने (जिसे संत की उपाधि प्राप्त हुई) १२४८, और ५४ के बीच दो बार इन स्थानों को फिर से लेने का प्रयास किया। फ्रांस से समुद्रमार्ग से चलकर वह साइप्रस पहुँचा और वहाँ से १२४९ में मिस्र में दमिएता ले लिया, पर १२५० में मंसूरा की लड़ाई में परास्त हुआ और अपनी पूरी सेना के साथ उसने पूर्ण आत्मसमर्पण किया। चार लाख स्वर्णमुद्रा का उद्धारमूल्य चुकाकर, दमिएता वापिस कर मुक्ति पाई। इसके उपरांत चार वर्ष तक उसने एकर के बचाव का प्रयास किया, पर सफल न हुआ।

सप्तम क्रूश युद्ध १२७०-७२--जब १२६८ में तुर्कों ने अंतिओक ईसाइयों से ले लिया, तब लुई नवें ने एक और क्रूशयुद्ध किया। उसको आशा थी कि उत्तरी अफ्रीका में त्यूनिस का राजा ईसाई हो जायगा। वहाँ पहुँचकर उसने कार्थेज १२७० में लिया, पर थोड़े ही दिनों में प्लेग से मर गया। इस युद्ध को इसकी मृत्यु के बाद इंग्लैंड के राजकुमार एडवर्ड ने, जो आगे चलकर राजा एडवर्ड प्रथम हुआ, जारी रखा। परंतु उसने अफ्रीका में और कोई कार्यवाही नहीं की। वह सिसली होता हुआ फिलिस्तीन पहुँचा। उसने एकर का घेरा हटा दिया और मुसलमानों को दस वर्ष के लिये युद्धविराम करने को बाध्य किया।

एकर ही एक स्थान फिलिस्तीन में ईसाइयों के हाथ में बचा था और वह अब उनके छोटे से राज्य की राजधानी था। १२९१ में तुर्कों ने उसे भी ले लिया।

धर्मयुद्धों का प्रभाव--इन धर्मयुद्धों के इतिहास में इस बात का ज्वलंत प्रमाण मिलता है कि धार्मिक अंधविश्वास और कट्टरता को उत्तेजित करने से मनुष्य में स्वयं विचार करने की शक्ति नहीं रह जाती। कट्टरता के प्रचार से ईसाइयत जैसे शांतिपूर्ण मत के अनुयायी भी कितना अत्याचार और हत्याकांड कर सकते हैं, यह इससे प्रगट है। जो धर्मसैनिक यात्रियों की चिकित्सा के लिये अथवा मंदिर की रक्षा के लिये दीक्षित हुए, वे यहाँ के वातावरण में संसारी हो गए। वे महाजनी करने लगे।

इन युद्धों से यूरोप को बहुत लाभ भी हुआ। बहुतेरे कलहप्रिय लोग इन युद्धों में काम आए जिससे शासन का काम सुगम हो गया। युद्धों में जानेवाले यूरोपीय पूर्व के निवासियों के संपर्क में आए और उनसे उन्होंने बहुत कुछ सीखा, क्योंकि इनके रहन सहन का स्तर यूरोप से बहुत ऊँचा था। वाणिज्य को भी बहुत प्रोत्साहन मिला और भूमध्यसागर के बंदरगाह विशेषत: वेनिस, जेनोआ, पीसा की खाड़ी की उन्नति हुई।

पूर्वी साम्राज्य, जो ११वीं शताब्दी में समाप्त होने ही को था, ३०० वर्ष और जीवित रहा। पोप का प्रभुत्व और भी बढ़ गया और साथ ही राजाओं की शक्ति बढ़ने से दोनों में कभी कभी संघर्ष भी हुआ। [प० नं०]

ईसाई समाजवाद

समाजवादियों का उद्देश्य है निजी संपत्ति पर नियंत्रण और आत्माभिव्यक्ति के अवसरों में वृद्धि। किंतु इसके साधन क्या हों, हिंसाप्रधान या अहिंसामूलक, समाजवादी व्यवस्था की रूपरेखा क्या हो, समाजपरिवर्तन की प्रक्रिया और उसका तर्क क्या हो--इन और अन्य संबद्ध प्रश्नों पर समाजवादी विचारधाराओं में मतवैभिन्य है। किंतु समाजवादी विचारधाराओं के सामान्य उद्देश्यों की प्रतिष्ठा ईसाई मत के कुछ आधारभूत सिद्धांतों से हो सकती है। ईसा की शिक्षा है कि ईश्वर समस्त प्राणियों का स्रष्टा और परमपिता है, मनुष्यों में भाईचारे का संबंध है, गरीबी और शोषण के साथ साथ संपत्तिसंचय नैतिक पतन है, संपत्ति की और उचित प्रवृत्ति यह है--उसका त्याग और समाजकल्याण के लिये उसका अमानत की भाँति प्रयोग, और हिंसाप्रमुख साधनों का निराकरण।

रोमन साम्राज्य में राजधर्म की मान्यता मिलने के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक ईसाई नैतिकता सामाजिक संगठन और व्यवहार की आधारशिला थी। वह संघर्ष और प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग और सेवा पर बल देती थी। किंतु १५वीं शताब्दी के मध्य के उपरांत वैज्ञानिक और यांत्रिक विकास के फलस्वरूप आधुनिक सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ। दृष्टिकोण गुणात्मक के स्थान पर परिमाणात्मक हो गया। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में संगठन ने दीर्घकाय रूप लिया। सभी कार्य, धार्मिक हों या शैक्षिक, आर्थिक हों या राजनीतिक, नौकरशाही द्वारा संपन्न होने लगे। प्रत्यक्ष जगत् के स्थान पर आज का संसार व्यापक और निर्वैयक्तिक है। उसकी नैतिकता धार्मिक नहीं है, सुखवादी या उपयोगितावादी है। धन इस सुख का साधन है और वही आज जीवन का मानदंड है। इसीलिये जीवन और आज की विचारधाराएँ संघर्षप्रमुख हैं। ईसाइयत और समाजवाद के बीच एक विशाल खाई है।

प्राचीन काल से ही अनेक संन्यासप्रमुख ईसाई संप्रदायों ने बहुत कुछ समाजवादी सिद्धांतों को अपनाया। किंतु फ्रांसीसी राजक्रांति के बाद, विशेष रूप से १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में, पश्चिम के अनेक देशों में ईसाई समाजवादी विचारधारा और संगठन का प्रादुर्भाव हुआ। इसका प्रमुख कारण यह था कि उद्योगीकरण के दुष्परिणाम प्रकट होने लगे थे। ईसाई नैतिकता की उपेक्षा हो रही थी और समाज सुखवाद की ओर अग्रसर हो रहा था। दूसरी ओर ईसाई धर्मावलंबी, विशेष रूप से संगठित चर्च, सामाजिक बुराइयों की ओर से उदासीन थे। ईसाई समाजवाद का उद्देश्य यह था कि ईसाई लोग समाजवादी दृष्टिकोण को अपनाएँ और समाजवाद ईसाई नैतिकता से अनुप्राणित हो।

ईसाई समाजवाद के नेता थे, फ्रांस में दलामने, इंग्लैंड में मारिस और किंग्सले, जर्मनी में फॉन केटलर, आस्ट्रिया में कार्ल ल्यूगा और अमेरिका में जोशिया स्ट्रांग, रिचर्ड एली, जार्ज हेरन इत्यादि। इन आंदोलनों द्वारा यह प्रयास हुआ कि चर्च और समाजवाद में परस्पर सहयोग हो और सामाजिक जीवन का संचालन प्रतियोगिता नहीं वरन् सहयोग के आधार पर हो। ईसाई समाजवादी इस बात के पक्ष में थे कि आर्थिक जीवन का संगठन जनतंत्रवादी हो। इनके प्रयास से समाजवादी विचारधारा जनप्रिय बनी।

आदर्श समाजवाद की रूपरेखा कैसी हो, इसमें ईसाई समाजवादियों को विशेष अभिरुचि न थी। उनको विश्वास था कि मजदूरों के अतिरिक्त यदि मध्य वर्ग के मनुष्यों को भी ठीक प्रकार से सामाजिक परिस्थिति से परिचित कराया जाय तो वह वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के सुधार में हाथ बँटाएँगे।

किंतु १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ईसाई समाजवाद की जनप्रियता घटने लगी। पश्चिमी देशों के मजदूर ट्रेड यूनियन आंदोलन से अधिक प्रभावित हुए। आधुनिक सभ्यता प्रत्यक्षवाद (एंपेरिसिज्म), धर्मनिरपेक्षता (सेक्युलैरिज्म) और सुखवाद (हेडनिज्म) पर आधारित है। ईसाई समाजवादियों में आंतरिक मतभेद भी था। कुछ की अभिरुचि प्रमुख रूप से ईसाई धर्म में थी और कुछ की समाजवाद में। रूस में साम्यवादी राज्य की स्थापना के बाद अन्य समाजवादी विचारधाराओं का प्रभाव कम हो गया। पश्चिम में आज ईसाई धर्म और प्रचलित बौद्धिक मानसिकता में अंतर बढ़ रहा है।

सं० ग्रं०—काफमैन, एम० : क्रिश्चियन सोशलिज्म; नीटी, एफ० एस० : कैथलिक सोशलिज्म; रैवने, सी० ई० : क्रिश्चियन सोशलिज्म। [गो० ना० धा०]

ईसा मसीह ईसा इब्रानी शब्द येशूआ का विकृत रूप है; इसका अर्थ है मुक्तिदाता। यहूदी धर्मग्रंथ में मशीअह ईश्वर-प्रेरित मुक्तिदाता की पदवी है; इसका अर्थ है अभिषिक्त, यूनानी भाषा में इसका अनुवाद ख्रीस्तोस है। इस प्रकार ईसा मसीह पश्चिम में येसु ख्रीस्त के नाम से विख्यात हैं।

तासितस, सुएतोन तथा फ्लावियस योसेफस जैसे प्राचीन रोमन तथा यहूदी इतिहासकारों ने ईसा तथा उनके अनुयायियों का तो उल्लेख किया है किंतु उनकी जीवनी अथवा शिक्षा का वर्णन नहीं किया। इस प्रकार की सामग्री हमें बाइबिल में ही मिलती है, विशेषकर चारों सुसमाचारों (गास्पेलों) में जिनकी रचना प्रथम शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में हुई थी। सुसमाचारों का प्रधान उद्देश्य है ईसा की शिक्षा प्रस्तुत करना, उनके किए हुए चमत्कारों के वर्णन द्वारा उनके ईश्वरत्व पर विश्वास उत्पन्न करना, तथा मृत्यु के बाद उनके पुनरुत्थान का साक्ष्य देना। किंतु वे इन विषयों के साथ साथ ईसा की जीवनी पर भी पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

बाइबिल के अनुसार ईसा की माता मरिया गलीलिया प्रांत के नाजरेथ गाँव की रहनेवाली थीं। उनकी सगाई दाऊद के राजवंशी यूसुफ नामक बढ़ई से हुई थी। विवाह के पहले ही वह कुँवारी रहते हुए ही ईश्वरीय प्रभाव से गर्भवती हो गईं। ईश्वर की ओर से संकेत पाकर यूसुफ ने उन्हें पत्नीस्वरूप ग्रहण किया; इस प्रकार जनता ईसा की अलौकिक उत्पत्ति से अनभिज्ञ रही। विवाह संपन्न होने के बाद यूसुफ गलीलिया छोड़कर यहूदिया प्रांत के बेथलेहेम नामक नगरी में जाकर रहने लगे, वहाँ ईसा का जन्म हुआ। शिशु को राजा हेरोद के अत्याचार से बचाने के लिये यूसुफ मिस्र भाग गए। हेरोद ४ ई० पू० में चल बसे अतः ईसा का जन्म संभवतः ६ ई० पू० में हुआ था। हेरोद के मरण के बाद यूसुफ लौटकर नाजरेथ गाँव में बस गए। बढ़ने पर ईसा ने यूसुफ का पेशा सीख लिया और लगभग ३० साल की उम्र तक उसी गाँव में रहकर वे बढ़ई का काम करते रहे।

ईसा के अंतिम दो तीन वर्ष समझने के लिये उस समय की राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थिति ध्यान में रखनी चाहिए। समस्त यहूदी जाति रोमन सम्राट् तिबेरियस के अधीन थी तथा यहूदिया प्रांत में पिलातस नामक रोमन राज्यपाल शासन करता था। यह राजनीतिक परतंत्रता यहूदियों को बहुत अखरती थी। वे अपने धर्मग्रंथ में वर्णित मसीह की राह देख रहे थे क्योंकि उन्हें आशा थी कि वह मसीह उनको रोमियों की गुलामी से मुक्त करेंगे। दूसरी ओर, उनके यहाँ पिछली चार शताब्दियों में एक भी नबी प्रकट नहीं हुआ, अतः जब सन् २७ ई० में योहन बपतिस्ता यह संदेश लेकर बपतिस्मा देने लगे कि 'पछतावा करो, स्वर्ग का राज्य निकट है तो', यहूदियों में उत्साह की लहर दौड़ गई और वे आशा करने लगे कि मसीह शीघ्र ही आनेवाला है।

उस समय ईसा ने अपने औजार छोड़ दिए तथा योहन से बपतिस्मा ग्रहण करने के बाद अपने शिष्यों को वह चुनने लगे और उनके साथ समस्त देश का परिभ्रमण करते हुए उपदेश देने लगे। यह सर्वविदित था कि ईसा बचपन से अपना सारा जीवन नाजरेथ में बिताकर बढ़ई का ही काम करते रहे। अतः उनके अचानक धर्मोपदेशक बनने पर लोगों को आश्चर्य हुआ। सब ने अनुभव किया कि ईसा अत्यंत सरल भाषा तथा प्रायः दैनिक जीवन के दृष्टांतों का सहारा लेकर अधिकारपूर्वक मौलिक धार्मिक शिक्षा दे रहे हैं।

ईसा यहूदियों का धर्मग्रंथ (ईसाई बाइबिल का पूर्वार्ध) प्रामाणिक तो मानते थे किंतु वह शास्त्रियों की भाँति उसकी निरी व्याख्या ही नहीं करते थे, प्रत्युत उसके नियमों में परिष्कार करने का भी साहस करते थे। 'पर्वत-प्रवचन' में उन्होंने कहा—'मैं मूसा का नियम तथा नबियों की शिक्षा रद्द करने नहीं, बल्कि पूरी करने आया हूँ।' वह यहूदियों के पर्व मनाने के लिये राजधानी जुरूसलेम के मंदिर में आया तो करते थे, किंतु वह यहूदी धर्म को अपूर्ण समझते थे। वह शास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित जटिल कर्मकांड का विरोध करते थे और नैतिकता को ही धर्म का आधार मानकर उसी को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देते थे। ईसा के अनुसार धर्म का सार दो बातों में है, एक तो मनुष्य का परमात्मा को अपना दयालु पिता समझकर समूचे हृदय से प्यार करना तथा उसी पर भरोसा रखना, दूसरे, अन्य सभी मनुष्यों को भाई बहन मानकर किसी से भी बैर न रखना, अपने विरुद्ध किए हुए अपराध क्षमा करना तथा सच्चे हृदय से सबका कल्याण चाहना। जो यह भ्रातृप्रेम निबाहने में असमर्थ हो वह ईश्वरभक्त होने का दावा न करे; भगवद्भक्ति की कसौटी भ्रातृप्रेम ही है।

जनता इस शिक्षा पर मुग्ध हुई तथा रोगियों को चंगा करना, मुर्दों को जिलाना आदि उनके चमत्कार देखकर उसने ईसा को नबी के रूप में स्वीकार किया। तब ईसा ने धीरे धीरे यह प्रकट किया कि मैं ही मसीह, ईश्वर का पुत्र हूँ, स्वर्ग का राज्य स्थापित करने स्वर्ग से उतरा हूँ। यहूदी अपने को ईश्वर की चुनी हुई प्रजा समझते थे तथा बाइबिल में जो मसीह और स्वर्ग के राज्य की प्रतिज्ञा है उसका एक भौतिक एवं राष्ट्रीय अर्थ लगाते थे। ईसा ने उन्हें समझाया कि मसीह यहूदी जाति का नेता बनकर उसे रोमियों की गुलामी से मुक्त करने नहीं प्रत्युत सब मनुष्यों को पाप से मुक्त करने आए हैं। स्वर्ग के राज्य पर यहूदियों का एकाधिकार नहीं है, मानव मात्र इसका सदस्य बन सकता है। वास्तव में स्वर्ग का राज्य ईसा पर विश्वास करनेवालों का समुदाय है जो दुनिया के अंत तक उनके संदेश का प्रचार करता रहेगा। अपनी मृत्यु के बाद उस समुदाय के संगठन और शासन के लिये ईसा ने बारह शिष्यों को चुनकर उन्हें विशेष शिक्षण और अधिकार प्रदान किए।

स्वर्ग के राज्य के इस आध्यात्मिक स्वरूप के कारण ईसा के प्रति यहूदी नेताओं में विरोध उत्पन्न हुआ। वे समझने लगे कि ईसा स्वर्ग का जो राज्य स्थापित करना चाहते हैं वह एक नया धर्म है जो जुरूसलेम के मंदिर से कोई संबंध नहीं रख सकता। अंततोगत्वा उन्होंने (संभवतः सन् ३० ई० में) ईसा को गिरफ्तार कर लिया तथा यहूदियों की महासभा ने उनको इसीलिये प्राणदंड दिया कि वह मसीह तथा ईश्वर का पुत्र होने का दावा करते हैं। रोमन राज्यपाल ने इस दंडाज्ञा का समर्थन किया और ईसा को क्रूस पर मरने का आदेश दिया।

ईसा की गिरफ्तारी पर उनके सभी शिष्य विचलित होकर छिप गए थे। उनकी मृत्यु के बाद उन्होंने राज्यपाल की आज्ञा से उनको क्रूस से उतारकर दफना दिया। दफन के तीसरे दिन ईसा की कब्र खाली पाई गई, उसी दिन से, आस्थावानों का विश्वास है, वह पुनर्जीवित होकर अपने शिष्यों को दिखाई देने और उनके साथ वार्तालाप भी करने लगे। उस समय ईसा ने अपने शिष्यों को समस्त जातियों में जाकर अपने संदेश का प्रचार करने का आदेश दिया। पुनरुत्थान के ४०वें दिन ईसाई विश्वास के अनुसार, ईसा का स्वर्गारोहण हुआ।

यद्यपि ईसा की आकृति का कोई भी प्रामाणिक चित्र अथवा वर्णन नहीं मिलता, तथापि बाइबिल में उनका जो थोड़ा बहुत चरित्रचित्रण हुआ है उससे उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली होने के साथ ही अत्यंत आकर्षक सिद्ध हो जाता है। ईसा ३० साल की उम्र तक मजदूर का जीवन बिता चुकने के बाद धर्मोपदेशक बने थे, अतः वह अपने को जनसाधारण के अत्यंत निकट पाते थे। जनता भी उनकी नम्रता और मिलनसारिता से आकर्षित होकर उनको घेरे रहती थी, यहाँ तक कि उनको कभी कभी भोजन करने तक की फुरसत नहीं मिलती थी। वह बच्चों को विशेष रूप से प्यार करते थे तथा उनको अपने पास बुला बुलाकर आशीर्वाद दिया करते थे। वह प्रकृति के सौंदर्य पर मुग्ध थे तथा अपने उपदेशों में पुष्पों, पक्षियों आदि का उपमान के रूप

सलीब लिए हुए ईसा मसीह

ईसा मसीह के जीवन को अपनी कल्पना और प्रतिभा से तूलिका द्वारा जीवंत करने का काम प्रधानतः चित्रकार एल ग्रेको द्वारा संपन्न हुआ है। एल ग्रेको के ईसा मसीह पूर्णत्व की प्रतिमा हैं––पुरुषोत्तम के आदर्श। इसीसे लियो ब्रांस्टीन ने इस चित्र के बारे में लिखा था––"इसे साधारणतः 'सलीब लिए हुए ईसा मसीह' (क्राइस्ट बियरिंग दि क्रॉस) कहा जाता है, किंतु अधिक उचित होगा कि इसे 'सलीब का आलिंगन करते हुए ईसा मसीह' (क्राइस्ट एंब्रेसिंग दि क्रॉस) कहा जाय।"

यह चित्र सन् १५८७––१६०४ में तैयार हुआ था। इसका आकार ४२½"×३४½" है। आजकल यह प्रेदो, माद्रिद में सुरक्षित है।

में प्रायः उल्लेख करते थे। वह धन-दौलत को साधना में बाधा समझकर धनियों को सावधान किया करते थे तथा दीन दुखियों के प्रति विशेष रूप से आकर्षित होकर प्रायः रोगियों को स्वास्थ्य प्रदान कर अपनी अलौकिक शक्ति को व्यक्त करते थे, ऐसा लोगों का विश्वास है। वह पतितों के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करनेवाले पतितपावन थे तथा शास्त्रियों के धार्मिक आडंबर के निंदक थे। एक बार उन्होंने उन धर्मपाखंडियों से कहा—"वेश्याएँ तुम लोगों से पहले ईश्वर के राज्य में प्रवेश करेंगी।" वह पिता परमेश्वर को अपने जीवन का केंद्र बनाकर बहुधा रात भर अकेले ही प्रार्थना में लीन रहते थे।

सहृदय और मिलनसार होते हुए भी वह नितांत अनासक्त और निर्लिप्त थे। आत्मसंयमी होते हुए भी उन्होंने कभी शरीर गलानेवाली घोर तपस्या नहीं की। वह पाप से घृणा करते थे, पापियों से नहीं। अपने को ईश्वर का पुत्र तथा संसार का मुक्तिदाता कहते हुए भी अहंकारशून्य और अत्यंत विनम्र थे। मनुष्यों में अपना स्नेह वितरित करते हुए भी वह अपना संपूर्ण प्रेम ईश्वर को निवेदित करते थे। इस प्रकार ईसा में एकांगीपन अथवा उग्रता का सर्वथा अभाव है, उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से संतुलित है।

सं० ग्रं०—सी० बुल्के : मुक्तिदाता, राँची, १९५६; एल० डि ग्रैंडमेसन : जीसस क्राइस्ट, लंडन, १९३०; जे० लेब्रेटन : दि लाइफ ऐंड टीचिंग ऑव जीसस क्राइस्ट, लंडन, १९३५; वी० टेलर : दि लाइफ ऐंड मिनिस्ट्री ऑव जीसस, लंडन, १९५५।

[का० बु०]

ईसिस जादू, कपट, शक्ति और ज्ञान की प्रसिद्ध मिस्री देवी। केब (पृथ्वी) और नुत (आकाश) की कन्या, शक्तिमान देव ओसिरिस की भगिनीजाया, और देव होरस (सूर्य) की माता। गाय उसकी पुनीत पशु थी और अपने मस्तक पर वह गोशृंग भी धारण करती थी। फ़िली, बेहबेत आदि मिस्री नगरों के विशाल मंदिर इसी देवी ईसिस की मूर्तियों की प्रतिष्ठा के लिये बने थे।

नए राजवंश के अंत्यकाल से विशेषतः ईसिस की महिमा बढ़ी और देश में सर्वत्र उसकी पूजा लोकप्रिय हो गई। मिस्र के समूचे देश में तो वह पूजी ही गई, उसकी महिमा का प्रचार धीरे धीरे ग्रीस और रोम में भी हुआ। स्वयं मिस्र में उसके मंदिरों में छठी सदी ईसवी के मध्य काल तक भक्तों की भीड़ लगी रहती थी। पर तभी उस मंदिर के कपाट सदा के लिये बंद कर दिए गए और ईसिस की पूजा संसार से उठ गई। प्राचीन मिस्री अभिलेखों में, ओसिरिस की पत्नी होने के नाते, उसके साथ ही उसका भी उल्लेख तो हुआ ही है, स्वयं अपने अधिकार से भी उस देश के धार्मिक इतिहास में ईसिस का जितना प्रभुत्व रहा है उतना अन्य देवियों का दूसरे देशों में नहीं रहा।

सं० ग्रं०—ई० ए० डब्ल्यू० बज : गॉड्स् ऑव द इजिप्शंस, खंड २, अध्याय १३।

[भ० श० उ०]

ईसकिलस (ई० पू० ५२५–ई० पू० ४५६) यूनानी भाषा के प्राचीनतम नाटककार जिनके नाटक इस समय उपलब्ध हैं। इनकी अपेक्षा प्राचीनतर नाटककार थैस्पिस का नाममात्र ज्ञात है पर उनका कोई नाटक नहीं मिलता। इनका जन्म एथेंस के समीप इल्युसिस नामक स्थान में एक संभ्रांत परिवार में हुआ था। ईसकिलस ने फारस के साथ होनेवाले युद्धों में भाग लिया था और आर्तेमिसियुम, सलामिस और प्लातइया नामक स्थानों पर संग्राम किया था। मराथन नामक स्थान पर ईसकिलस और उसके दो भाइयों ने ऐसा लोकोत्तर पराक्रम प्रदर्शित किया कि एथेंस ने उनके चित्र अंकित करने का आदेश दिया। सिराकूस के राजा हिएरन प्रथम के निमंत्रण पर उन्होंने दो बार सिराकूस की यात्रा की। ई० पू० ४८४ में उनको प्रथम पुरस्कार मिला; ई० पू० ४६८ में प्रथम पुरस्कार उनको न मिलकर युवा सोफॉक्लेस को मिला, पर ई० पू० ४६७ और ई० पू० ४५८ में पुनः उनके नाटकों पर विजयोपहार प्राप्त हुए। इसके पश्चात् ई० पू० ४५६ में वे पुनः सिसिली की यात्रा पर गए और वहीं उनकी मृत्यु हुई। कहते हैं, आकाश में उड़ती हुई चील के पंजों से छूटकर एक कछुआ उनके सिर पर गिरा जिसके कारण उनका प्राणांत हुआ। एक समय उनपर इल्युसिस की देवी देमेतर के रहस्य को उद्घाटित कर देने का अपराध आरोपित किया गया था, पर वे अपने को इस से मुक्त करने में सफल हो गए।

ईसकिलस ने सर्वप्रथम यूनानी दुःखांत नाटकों को उनका विशिष्ट रूप प्रदान किया। आरंभ में यह नाटक डिथीरंब नामक गीत के रूप में प्रस्तुत किए जाते थे। थैस्पिस नामक कलाकार ने गायकमंडली (कोरस) में से एक पात्र को पृथक् अभिनेता के रूप में प्रस्तुत किया। ईसकिलस ने एक दूसरे अभिनेता की सृष्टि कर गीत को नाटक के रूप में परिणत कर दिया। इस प्रकार ईसकिलस दुःखांतनाटक (ट्रागेदी=ट्रेजेडी) के सुव्यवस्थित रूप के जन्मदाता माने जाते हैं। उन्होंने सत्तर (अथवा एक अन्यमत के अनुसार नब्बे) नाटकों की रचना की थी। आजकल इनमें से केवल सात मिलते हैं और कुछ अन्य नाटकों की बिखरी हुई पंक्तियाँ यत्रतत्र उद्धृत मिलती हैं।

हिकैतिदेस (शरणार्थिनी बालाएँ) यूरोपीय साहित्य का आजकल उपलब्ध होनेवाला प्राचीनतम नाटक माना जाता है। मिस्र देश में ईगिपतुस और दनाउस दो भाई राज्य करते थे। प्रथम भाई के ५० पुत्र थे और दूसरे के ५० पुत्रियाँ। ईगिपतुस के पुत्र दनाउस की पुत्रियों के साथ बलात् विवाह करना चाहते थे परंतु यह उनकी इच्छा के विरुद्ध बात थी। अतः राजकुमारियाँ भागकर अपने पिता के सहित समुद्र पार पैलासगुस के आर्गस नामक राज्य में चली गईं। यद्यपि पैलासगुस उनको शरण देने में आनाकानी करने लगे तथापि आर्गस की प्रजा ने अपने मतदान द्वारा उन्हें शरण देने के लिये विवश कर दिया। इसके उपरांत ईगिपतुस के पुत्रों ने उनका पीछा किया और पैलासगुस की सभा में अपने दूत भेजे। यद्यपि उन्होंने युद्ध की धमकी दी, तथापि पैलासगुस ने शरणार्थिनियों को लौटाना स्वीकार नहीं किया। इस कथा की पूर्ति के लिये ईसकिलस ने 'ईगिपतिइ' और 'दनाइदेस' नामक दो नाटक और लिखे थे जो अब नहीं मिलते। इस प्रकार के तीन नाटकों के गुच्छकों को 'त्रिलोगी' कहा जाता था।

'पैर्साए' नामक नाटक में सालामिस के युद्ध में खैरखैस और उसकी पारसीक सेना के पराजय का वर्णन है। दरियुस के पुत्र सम्राट् खैरखैस मराथन नामक स्थान पर यूनानियों के द्वारा अपने पिता की पराजय का प्रतीकार करने के लिये दलबल सहित यूनान और विशेषकर एथेंस को दंड देने के लिये अपने शत्रुओं पर चढ़ाई करते हैं। फारस की राजधानी सूसा में राजमाता अतोस्सा को दुःस्वप्न दिखलाई देते हैं। वे देवपूजा की तैयारी करती हैं। कुछ समय पश्चात् युद्ध में पराजित और दुर्विताडित सैनिक और खैरखैस लौटकर घर आते हैं। ईसकिलस ने इस नाटक की रचना सालामिस की विजय के उपलक्ष में की थी। इस नाटक में प्लातइया के युद्ध में पारसीकों की पराजय की भविष्यवाणी भी मिलती है। ईसकिलस को इन युद्धों का प्रत्यक्ष अनुभव था। इस नाटक का अभिनय एथेंसवासियों तथा अन्य यूनानियों को बहुत प्रिय था।

'हैपता ऐपि थेबास' (थेबेस नगर पर सात योद्धाओं की चढ़ाई) में लाइयुस और इदिपस के शापग्रस्त परिवार के विनाश का वर्णन है। थेबेस के राजा एतेओक्लेस का भाई पोलीनेइकेस सात योद्धाओं के साथ थेबेस नगर पर चढ़ाई करता है, नगर के सातों द्वारों पर युद्ध होता है और दोनों भाई परस्पर युद्ध करते हुए मारे जाते हैं। इदिपस के शापग्रस्त परिवार की कथा यूनानी साहित्य में अत्यंत प्रसिद्ध है।

'ओरेस्तेइया' भी एक अन्य शापग्रस्त परिवार से संबंध रखनेवाले तीन नाटकों की लड़ी है। यद्यपि इस प्रकार के नाटकों के अनेक त्रितय (त्रिलोगियाँ) यूनानी नाटककारों द्वारा रचे गए थे, पर भाग्य की बात, उनमें से, मानों उदाहरणस्वरूप, ईसकिलस की यही त्रिलोगी इस समय अवशिष्ट है। इसमें अगामेम्नन, खोएफोरोए और यूमेनिदेस इन तीन नाटकों का समावेश है। प्रथम नाटक में ट्राय की विजय के पश्चात् लौटे हुए राजा अगामेम्नन की उनकी पत्नी द्वारा की गई हत्या का वर्णन है। दूसरे नाटक में निर्वासन से गुप्त रूप से लौटे हुए अगामेम्नन के पुत्र ओरेस्तेस अपने मित्र पिलादेस और अपनी बहन एलैक्त्रा की सहायता से अपनी माता के जार इगिस्थुस को अपनी माता के सहित मार डालते हैं। इसपर 'ऐरीनियेस' (स्व-कुल-घात से उत्पन्न हुई कृत्याएँ) उनका पीछा करती हैं और वे उनसे त्राण पाने के लिये भागने लगते हैं। तीसरे नाटक में एथेंस नगर में कृत्याओं के शमन का वर्णन है। कुछ आलोचकों के मत में यह ईसकिलस की सर्वश्रेष्ठ रचना है।

प्रोमेथियुस देस्मोतेस (प्रमंथ बंधन) नामक नाटक में मानवों को अग्नि प्रदान करनेवाले प्रोमेथियुस नामक देवता को जेउस (द्यौस) की आज्ञा से शकस्थान में समुद्र की एक चट्टान पर कीलों से विजड़ित कर दिया जाता है। परंतु उसके प्राण नहीं निकलते। यह नाटक विचारप्रधान है। शेली ने इस नाटक का पूरक 'प्रोमेथियुस अनबाउंड' नामक नाटक अंग्रेजी भाषा में लिखा है। स्वयं ईसकिलस ने इस विषय पर तीन नाटक लिखे थे पर शेष दो नाटक अब नहीं मिलते। आलोचकों का कहना है कि इस नाटक में यूनानी त्रागेदी की कला मूर्तिमती हो उठी है। इन सात नाटकों के अतिरिक्त ईसकिलस के बहुत से नाटकों के नाम और बिखरी हुई पंक्तियाँ यूनानी साहित्य में यत्र-तत्र मिलती हैं।

ईसकिलस ने दुःखांत नाटक के स्वरूप को व्यवस्थित किया। उनको प्रभावशाली दृश्यों और ऐश्वर्यशाली वेशभूषा से प्रेम था। उन्होंने जिन पात्रों की सृष्टि की है उनमें से अधिकांश चरित्र संबंधी महत्ता और शक्ति से समन्वित हैं। उनकी भाषा और शैली भी विषय के अनुरूप गौरवशालिनी है। ईसकिलस के नाटकों में समसामयिक जनस्वातंत्र्य की भावना उभरती हुई दृष्टिगोचर होती है।

सं० ग्रं०—मूल नाटक, सिज्विक द्वारा संपादित, ऑक्सफ़ोर्ड का संस्करण। अंग्रेजी अनुवाद सहित लोएब क्लासिकल लाइब्रेरी का संस्करण, दो जिल्दों में (वियर स्मिथ द्वारा संपादित एवं अनूदित); गिलबर्ट मरे के पद्यानुवाद भी अच्छे माने जाते हैं। समालोचना, गिलबर्ट मरे : ऐंशेंट ग्रीक लिटरेचर, ईसकिलस; नौर्वुड, राइटर्स ऑन ग्रीस; बाउरा : ऐंशेंट ग्रीक लिटरेचर इत्यादि।

[भो० ना० श०]

ईस्ट इंडिया कंपनी

जब १४९८ ई० में वास्को दा गामा ने केप ऑव गुड होप द्वारा भारतयात्रा के लिये नया समुद्री मार्ग खोज निकाला, तब संसार के इतिहास में एक क्रांतिकारी परिच्छेद खुला। अब यूरोपीय देशों का भारत तथा पूर्वी द्वीपों से परोक्ष संपर्क संभव हो गया। स्वभावतः, सुदृढ़ नाविक शक्ति के कारण इस मार्ग पर सर्वप्रथम पुर्तगाल का एकाधिकार स्थापित हुआ; किंतु, शीघ्र ही पहले हालैंड और बाद में इंग्लैंड ने पुर्तगाल का गतिरोध आरंभ कर दिया।

इंग्लैंड की ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना, स्पेनी आर्मादा की पराजय के बाद, रानी एलिजाबेथ के आज्ञापत्र द्वारा (३१ दिसंबर, १६००) 'दि गवर्नर ऐंड मर्चेट्स ऑव लंडन ट्रेडिंग टु दि ईस्ट इंडीज़' के नाम से हुई। इसी आज्ञापत्र द्वारा उक्त कंपनी को व्यावसायिक एकाधिकार भी प्राप्त हुआ। कंपनी के विकास के साथ साथ इंग्लैंड में उसके व्यावसायिक एकाधिकार के विरुद्ध असंगठित और सुसंगठित प्रयास हुए। अंततः रानी ऐन तथा लार्ड गोडोल्फिन की मध्यस्थता द्वारा आंतरिक विरोधों का समाधान होकर 'दि युनाइटेड कंपनी ऑव मर्चेट्स ऑव इंग्लैंड ट्रेडिंग टु दि ईस्ट इंडीज़' के रूप में नए विधान के साथ ईस्ट इंडिया कंपनी का पुनर्निर्माण हुआ। एक प्रकार से इसी को कंपनी का यथोचित श्रीगणेश कहना उपयुक्त होगा।

१६वीं शताब्दी से, अंतर्राष्ट्रीय व्यवधान की अनुपस्थिति में, यूरोपीय देशों के पारस्परिक संपर्क व्यावसायिक और औपनिवेशिक प्रतिद्वंद्विता के कारण संघर्ष और संधियों से ही परिचालित होते रहे। इनकी व्यापारिक संस्थाओं की समृद्धि इनके व्यापारिक एकाधिकार पर आधारित थी। यह एकाधिकार (क) शाही फर्मानों द्वारा हासिल किया जा सकता था, शाही अनुमति से, या शक्तिप्रदर्शन द्वारा। जब मुगल साम्राज्य सशक्त था तब ये आज्ञापत्र बादशाह तथा राज्याधिकारियों को प्रसन्न कर प्राप्त होते रहे; उनकी अवनति पर फिर ये शक्तिप्रदर्शन द्वारा प्राप्त किए जाने लगे। (ख) इसे प्राप्त करने का दूसरा साधन यूरोपीय प्रतिद्वंद्वियों पर अधिकार जमा लेना था। दोनों ही साधन अनिवार्य थे। किंतु, स्पष्टतः भारत म व्यावसायिक एकाधिकार की सार्थकता उसे ही उपलब्ध हो सकती थी जिसकी सामुद्रिक शक्ति सर्वोपरि हो। अस्तु, व्यवसाय के मूल में संघर्ष अनिवार्य था, शक्ति का भी, कूटनीति का भी।

ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन तक भारत में पुर्तगाली सूर्य अस्ताचल की ओर अग्रसर हो चुका था। पहले हालैंड, फिर हालैंड तथा इंग्लैंड की संमिलित नाविक शक्ति के समक्ष उसे नतमस्तक होना पड़ा। जब भारतीय तट के निकट कंपनी ने पुर्तगाली बेड़े को पराजित किया (१६१२) तब मुगल दरबार में पुर्तगाली प्रभाव का ह्रास प्रारंभ हो गया, और कंपनी के मानवधन के साथ उसे सूरत में व्यावसायिक केंद्र खोलने का अधिकार भी प्राप्त हुआ। १६५४ में पुर्तगाल को कंपनी के अधिकारों को स्वीकार करना पड़ा; १६६१ में उसने डचों के विरुद्ध सहायता देना भी अंगीकार कर लिया।

कंपनी को अब डचों के विरुद्ध लोहा लेना था। सर्वप्रथम कंपनी का मुख्य ध्येय हिंदेशिया में ही अपना व्यवसाय केंद्रित करना था, जहाँ डच पहले से ही सशक्त थे। एंब्रीयना के हत्याकांड (१६२३) के बाद यह विचार त्यागकर उसने भारत की ओर रुख किया, जहाँ डच शक्ति क्षीण थी। यूरोप में क्रामवेल कालीन एंग्लो डच युद्ध, तथा लुई १४वें के हालैंड पर आक्रमण से हालैंड की सामुद्रिक शक्ति का ह्रास प्रारंभ हो गया। १७५९ में क्लाइव ने डच बेड़े को पूर्णतः पराजित कर दिया।

अब कंपनी के अंतिम प्रतिद्वंद्वी फ्रांसीसी ही शेष रहे। डूप्ले के नेतृत्व में उनके सशक्त और महत्वाकांक्षी होने के अतिरिक्त, एक मुख्य कारण यह भी था कि औरंगजेब की मृत्यु के पूर्व ही गृहयुद्धों और शिवाजी के उत्कर्ष ने मुगल साम्राज्य को लड़खड़ा दिया था। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य तीव्र गति से पतनोन्मुख हो चला था। तज्जनित भारत-व्यापी अव्यवस्था ने दोनों प्रतिद्वंद्वियों के कार्यक्षेत्र को सुलभ और विस्तृत हो जाने दिया। आस्ट्रियाई उत्तराधिकार के युद्ध के सिलसिले में भारत में प्रथम कर्नाटक युद्ध छिड़ गया। यद्यपि इससे दोनों कंपनियों की स्थिति में विशेष फर्क नहीं पड़ा, किंतु कर्नाटक पर फ्रांसीसी विजय से यह अत्यंत महत्वपूर्ण निष्कर्ष स्थापित हो गया कि यूरोपीय युद्धनीति तथा युद्धसज्जा की अपेक्षा भारतीय युद्धनीति तथा युद्धसज्जा हेय थी। और दक्षिण भारतीय राजनीतिक परिस्थिति इतनी खोखली थी कि उसपर विदेशी आधिपत्य संभव था। अस्तु, द्वितीय कर्नाटक युद्ध में दोनों ओर से भारतीय राजनीति और राज्यों में स्वार्थप्रसार के लिये हस्तक्षेप प्रारंभ हो गया। इसी भित्ति पर डूप्ले ने फ्रांसीसी साम्राज्यस्थापित करने की कल्पना की थी, किंतु उसकी असफलता पर साम्राज्य स्थापना के स्वप्न को साकार किया क्लाइव के योगदान से अंग्रेजों ने। नाजुक परिस्थिति में डूप्ले के फ्रांस सरकार द्वारा प्रत्यावाहन ने फ्रांसीसी महत्वाकांक्षाओं पर तुषारपात कर दिया। अंततः लाली की असफलता, चंद्रनगर की पराजय और वांडीवाश की हार ने फ्रांसीसी प्रतिद्वंद्वी की रीढ़ तोड़ दी। उनके शेष प्रभाव को वेलेज़ली ने ध्वस्त कर दिया।

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का यथोचित विकास टामस रो के आगमन से आरंभ हुआ, जब उसके व्यावसायिक केंद्र सूरत, आगरा, अहमदाबाद तथा भड़ोच में स्थापित हुए। तत्पश्चात् बड़ी योजनापूर्ण विधि से अन्य केंद्रों की स्थापना हुई। मुख्य केंद्र समुद्री तटों पर ही बसे। उनकी किलेबंदी भी की गई। इस प्रकार मुगल दस्तंदाजी से वे दूर रह सकते थे। संकट के समय उन्हें समुद्री सहयोग सुलभ था। शांति के समय वे वहीं से वांछित दिशाओं में बढ़ सकते थे। इस तरह मसूलीपटम (१६११), बालासोर (१६३१), मद्रास (१६३९), हुगली (१६५१), बंबई (१६६६), तथा कलकत्ता (१६९८) के केंद्रों की स्थापना हुई। बंबई, कलकत्ता, मद्रास विशाल व्यावसायिक केंद्र होने के अतिरिक्त, कंपनी के बड़े महत्वपूर्ण राजनीतिक तथा शक्तिकेंद्र भी बने। इनकी समृद्धि और शक्तिवर्धन से भारतीय व्यवसायियों ने भी, जिनके लिये आयात निर्यात के बड़े लाभप्रद द्वार खुल गए थे, पूर्ण सहयोग दिया। वस्तुतः अंग्रेजों और भारतीय व्यवसायियों का गठबंधन कंपनी की प्रगति में बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

वैसे तो शाहजहाँ कालीन गृहयुद्ध तथा शिवाजी के उन्नयन से फैली अनिश्चितता ने कंपनी को स्पष्ट कर दिया था कि व्यापारिक सुरक्षा के लिये शक्तिसंचय आवश्यक है, लेकिन उनकी साम्राज्यवादी धारणा का प्रथम प्रस्फुटन १६८८ में हुआ, जब कंपनी ने प्रसिद्ध प्रस्ताव पास किया कि "हमारी लगान वृद्धि पर ध्यान देना उतना ही आवश्यक है जितना कि व्यवसाय पर; वही हमारी सेना का पालन करेगी, जब बीसियों दुर्घटनाएँ हमारे व्यवसाय में बाधा डालेंगी, वही भारत में हमें राष्ट्र का रूप देंगी। उसके बगैर हम केवल बहुसंख्यक अनधिकारी प्रवेशक मात्र ही रहेंगे..."

किंतु, उनकी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा असामयिक प्रमाणित हुई जब वे मुगल राज्य से दंडित और अनादृत हुए। उनका संकट तीव्र था, यदि मुगल राज्य द्वारा उनकी पुनःस्थापना न हुई होती। परिस्थिति ने उन्हें फिर शांतिप्रिय बना दिया। १७१७ में मुगल सम्राट् द्वारा कंपनी के फ़रमान दूतमंडल को बड़े महत्वपूर्ण व्यावसायिक अधिकार प्राप्त हुए।

यद्यपि दक्षिण में डूप्ले की साम्राज्यवादी योजनाओं से कंपनी को दिशाज्ञान हुआ और फ्रांसीसी पराजय से उनकी सैन्यशक्ति का सिक्का जमा, तथापि उनके साम्राज्य का बीजारोपण बंगाल से ही हुआ। मराठों के आक्रमणों ने पहले ही बंगाल की सेना को क्षीण, खजाने को खोखला, और आंतरिक व्यापार को विच्छिन्न कर दिया था। अयोग्य सिराजुद्दौला अपने उद्दंड स्वभाव और दरबारियों के विश्वासघात से मजबूर हो गया। अंततः षड्यंत्रकुशल क्लाइव ने, जगत्सेठ और अमीचंद के षड्यंत्र में योगदान दे, प्लासी के युद्ध में (१७५७) सिराज को परास्त कर अंग्रेजी साम्राज्य की नींव में पहली ईंट डाल दी। इसके बाद का बंगाल का कुछ वर्षों का इतिहास कालिख से लिखा गया जिसमें अनैतिकता का तांडव हुआ। नवाब मीरकासिम ने कंपनी का गतिरोध किया, किंतु बक्सर के युद्ध में मीरकासिम, अवध के नवाब, तथा मुगल बादशाह की संमिलित शक्ति की पराजय हुई। फलस्वरूप बंगाल, बिहार, उड़ीसा, अवध और दिल्ली कंपनी के प्रभुत्व में आ गए। किंतु, कूटनीतिज्ञ क्लाइव अभी साम्राज्य का उत्तरदायित्व सँभालने को तैयार न था; अस्तु उसने मुगल बादशाह से बंगाल की दीवानी (१७६५) हस्तगत करके ही संतोष किया, जिससे बंगाल के शासन में हस्तक्षेप करने का कंपनी को वैध अधिकार प्राप्त हो गया।

किंतु अंग्रेजी साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक और उद्धारक हेस्टिंग्स ही था। जैसा पनिक्कर का कथन है, यदि पेशवा बाजीराव ने दक्षिण को असंगठित रख, अपने पार्श्व और पृष्ठ को अरक्षित छोड़ दिल्ली की ओर अभियान न किया होता तो मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकारी अंग्रेजों की अपेक्षा मराठे ही होते, किंतु, मराठों की पानीपत की पराजय (१७६१) से मराठा संगठन को मर्मांतक आघात पहुँचा। दूसरी ओर मराठा, निजाम, हैदरअली और नवाब कर्नाटक की व्यक्तिगत स्वार्थपरता और पारस्परिक वैमनस्य ने अंग्रेजों के विरुद्ध उनका संयुक्त मोर्चा नहीं बनने दिया। यही कंपनी का सबसे बड़ा सौभाग्य था। हेस्टिंग्स ने दूरदर्शितापूर्वक पहले तो नवाब अवध को मित्र बनाकर मराठों के विरुद्ध अपनी सीमारेखा सुदृढ़ की, फिर रुहेला युद्ध में अवध को मराठों का दुश्मन बना दिया। तब विकट परिस्थिति में असीम धैर्य और साहस के साथ मराठों की शक्ति पर सफल आघात किया और हैदरअली की मृत्यु के बाद उसके पुत्र टीपू को संधि करने पर मजबूर किया। शासकीय दृष्टिकोण से भी उसने दीवानी के आडंबर को त्याग कृषिशासन, न्यायशासन, तथा चुंगी शासन को व्यवस्था की रूपरेखा दी।

मेधावी न होते हुए भी उसका उत्तराधिकारी कार्नवालिस अनुशासन, ईमानदारी और चारित्रिक दृढ़ता में अच्छा था। उसने मनोयोग से शासन का संरक्षण किया। इस्तमरारी बंदोबस्त की स्थापना कर दुखी बंगाल को समृद्ध बनाया तथा भ्रष्ट ब्रिटिश नौकरशाही को परिष्कृत कर उसे वह प्रतिष्ठा दी जिसके कारण 'ब्रिटिश नौकरशाही के इस्पाती ढाँचे' की नींव पड़ी। उसने टीपू की शक्ति को बहुत कुछ तोड़ दिया। पिट्स इंडिया ऐक्ट द्वारा पार्लमेंट ने कंपनी की नीति और व्यवधान में हस्तक्षेप करने का अधिकार अपने हाथ में ले लिया।

साम्राज्यवादी वेलेज़ली ने ब्रिटिश साम्राज्य का युद्ध और नीति से खूब प्रसार किया। टीपू नष्ट हो गया। पेशवा के वेलेज़ली के संरक्षण में आने से ओवन के कथनानुसार अब 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य' की अपेक्षा, ब्रिटिश साम्राज्य का भारत हो गया। फिर मराठा सरदारों को अलग अलग पराजित कर उन्हें सहायक संधि करने के लिये मजबूर किया। अवध का विस्तार घटाकर, उसे अपने प्रभुत्व के अंतगत कर लिया। सहायक संधि वेलेज़ली के साम्राज्यवादी प्रसारण का अद्भुत यंत्र था, जिसमें फ्रांसीसी प्रभाव का भी भारत से समूल उच्छेद हो गया। फिर मराठों की रही सही शक्ति भी लार्ड हेस्टिंग्स ने तोड़ दी।

अब साम्राज्यप्रसार में कंपनी को पीछे मुड़कर देखने की आवश्यकता नहीं थी। गुरखों की पराजय से कंपनी की उत्तर सीमांत रेखा हिमालय के चरणों तक जा पहुँची। रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद, सिक्खों को पराजित कर पंजाब को ब्रिटिश साम्राज्य में संमिलित कर लिया गया। अफगानों के युद्ध से उत्तर पश्चिमी सीमा फिर पहाड़ों से जा टकराई। पूरा बर्मा कंपनी का अधिकृत हुआ और उत्तरपूर्वी सीमांत रेखा सुदृढ़ हुई।

इधर १८१३ के चार्टर ऐक्ट से चीनी व्यापार को छोड़ भारतीय व्यापारिक अधिकार कंपनी से ले लिए गए। १८३३ के चार्टर ऐक्ट से वह अधिकार भी अपहृत हो गया। अब कंपनी विशुद्ध रूप से एक राजनीतिक संस्था थी। कंपनी के साम्राज्यवादी प्रसार के इतिहास में लार्ड बेंटिक का काल मलयानिल के झोंके के समान है जब आधुनिक भारतीयता के जनक राजा राममोहन राय के सहयोग से भारत के सांस्कृतिक जागरण का सूत्रपात ब्रह्मसमाज से आरंभ हुआ, और अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक सुधार हुए।

कंपनी का अंतिम साम्राज्यवादी स्तंभ था लार्ड डलहौज़ी, जिसने अपनी विजयों तथा व्यपगत सिद्धांत (डॉक्ट्रिन ऑव लैप्स) के विस्तृत प्रयोग से अनेक राज्यों, राजसी पदवियों तथा पेंशनों का लोप कर दिया। तज्जनित असंतोष १८५७ की राज्यक्रांति की महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि बना। इसके अतिरिक्त उसने अनेक महत्वपूर्ण शासकीय सुधारों से भारत के आधुनिकीकरण में योगदान किया; जैसे ग्रांड ट्रंक रोड का पुनर्निर्माण, रेल, टेलिग्राफ, पोस्ट आफिस, तथा केंद्रीय लेजिस्लेटिव कांउसिल की स्थापना। उसी के प्रयत्नों से विमेन्स कालेज तथा रुड़की इंजीनियरिंग कालेज की स्थापना हुई।

कंपनी के शासन का १८५७ की राज्यक्रांति से अंत हुआ। कंपनी के साम्राज्यवाद के विरुद्ध पहले भी अनेक विस्तृत, असंगठित छिटपुट प्रयत्न हो चुके थे, किंतु सन् '५७ के विस्फोट ने अति तीव्र रूप धारण किया। इतिहासकारों में इस विद्रोह की प्रकृति के संबंध में तीव्र मतभेद होते हुए भी, इतना तो निश्चित है कि अंग्रेजी सत्ता को निकालने के लिये भारतीयों का यह प्रथम सामूहिक प्रयत्न था जिसको विशेषतया अवध में विस्तृत जनसहयोग प्राप्त था। यह भी एक विचित्र संयोग था कि अन्य भागों में व्याप्त संघर्ष के अग्रणी प्रायः अवधवासी ही थे। अस्तु, निस्संदेह यह ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध भारतीय संघर्ष का श्रीगणेश था, भारतीय इतिहास का रक्तरंजित पृष्ठ। कंपनी के शासन का अंत १८५८ में हुआ जब ब्रिटिश गवर्नमेंट ने भारतीय साम्राज्य की बागडोर अपने हाथों में सँभाली।

१७५६ से १८५७ के कंपनी के साम्राज्यवादी शोषण के इतिहास में, सांस्कृतिक पक्ष छोटा होते हुए भी निस्संदेह महत्वपूर्ण है। जैसा पनिक्कर का कथन है, बर्क, विलियम जोन्स, तथा मेकाले सांस्कृतिक चेतना के वे ब्रिटिश प्रतीक हैं जिनसे प्रेरित होकर राजा राममोहन राय, दादाभाई नौरोजी, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, तथा दयानंद सरस्वती ऐसे भारतीय नररत्नों के योग से सांस्कृतिक पुनर्जागरण संभव हो सका, राष्ट्रीय आत्मसंमान जागा, और आधुनिक भारतीयता ने जन्म लिया।

सं० ग्रं०—एस. अहमद खाँ : दि ईस्ट इंडिया ट्रेड इन दि ट्वेल्फ्थ सेंचुरी इन इट्स पोलिटिकल ऐंड इकोनोमिक ऐस्पेक्ट्स; डब्ल्यू. फोस्टर : दि इंगलिश फैक्टरीज़ इन इंडिया १६१८-१६६९। [रा० ना०]

ईस्टर यहूदियों, ग्रीक-रोमनों और ईसाइयों तीनों का विशिष्ट त्यौहार, जो अधिकतर अप्रैल में पड़ता है। शब्द का मूल संभवतः नोर्स ओस्तारा अथवा इयोस्त्रे में है, जिसका अर्थ वसंत का त्यौहार है। ग्रीक यह त्यौहार वसंत संपात के समय २१ मार्च को मनाया करते थे, जब शीत ऋतु के बाद प्रकृति ऋतुमती होती थी। यहूदियों की धर्मपुस्तक बाइबिल की पुरानी पोथी (एग्ज़ोडस १२) में लिखा है कि इस्रायलियों के मिस्री प्रवास में किस तरह एक रात 'मौत का फरिश्ता' उनके आवासों के ऊपर से गुजर गया और अपने इस आचरण द्वारा उनके प्रथमजात शिशुओं की मृत्यु से रक्षा की। इसी मौत से नजात पाने का त्यौहार यहूदी अपने साल के पहले महीने निसान में मनाते हैं। ये अपने इस त्यौहार को 'पेसाख' कहते हैं।

परंतु ईस्टर का सर्वाधिक महत्व ईसाई धर्म में है। ईसाइयों का विश्वास है कि ईसामसीह शूली पर चढ़ा दिए जाने के बाद मरकर भी जी उठे थे। उनका जी उठना यहूदियों के इस त्यौहार के दिन ही संभव हुआ था, तभी जब जुरूसलम में वे अपना पेसाख मना रहे थे। इसी कारण पेसाख ईस्टर का पर्याय ही बन गया। हजरत ईसा के जी उठने में कैथोलिक ईसाई संप्रदाय का विशेष विश्वास उस धर्म की आधारभूत मान्यताओं में से है।

पूर्व और पश्चिम के समस्त ईसाई परिवार ईस्टर का यह त्योहार बड़े उत्साह से मनाते हैं। यह ईसामसीह के पुनर्जन्म के तुल्य है जिससे ईस्टर का त्योहार भी उसी महत्व का माना जाता है जिस महत्व का बड़ा दिन।

ईस्टर की तिथि निश्चित करना ईसाई चर्चों के लिये सामान्य बात नहीं है। इस संबंध में पिछली सदियों में निरंतर विवाद होते रहे हैं। विवाद का कारण यह है कि इस तिथि के अंकन का प्रारंभ यहूदी तिथिक्रम से हुआ है जो चांद्रमासिक है। चांद्रमासिक होने से—यद्यपि पड़ता वह निसान मास की पूर्णिमा को ही है, पर वह पूर्णिमा हर साल स्वाभाविक ही उसी एक ही दिन नहीं पड़ती—ईस्टर की तिथि निश्चित करने में अक्सर कठिनाई पड़ जाया करती है। [भ० श० उ०]

उंडुकार्ति (अपेंडिसाइटीज़) उंडुक (अपेंडिक्स) के प्रदाह (इनफ्लैमेशन) को कहते हैं। उंडुक आंत्र के एक छोटे से विभाग का नाम है जो क्षुद्रांत्र और बृहदांत्र के संगम स्थान के नीचे की ओर से निकला रहता है। इसकी लंबाई लगभग ८ सेंटीमीटर और आधार स्थान पर इसका व्यास ६ मिलीमीटर होता है। यह उदर के निचल भाग में दाहिनी ओर स्थित रहता है। मनुष्य के शरीर में यह अंग कोई कार्य नहीं करता।

उंडुकार्ति का अर्थ है उंडुक का जीवाणुओं द्वारा संक्रमित होकर शोथयुक्त हो जाना। बहुत से रोगियों के शरीर में साधारणतया रहनेवाले जीवाणु ही उंडुक में शोथ उत्पन्न कर देते हैं। कभी कभी जीवाणु गले और टांसिलों से रक्त के द्वारा भी वहाँ पहुँच जाते ह। शाकाहारियों की अपेक्षा आमिषभोजियों में यह रोग अधिक होता है और इस कारण हमारे देश की अपेक्षा यूरोप और अमरीका में इसका प्रकोप अधिक है। यह रोग किसी भी आयु के व्यक्ति को हो सकता है, किंतु दो वर्ष की अवस्था से पूर्व बहुत असाधारण है। तीस वर्ष की आयु के पश्चात् भी यह कम होता है। कहा जाता है कि विपुच्छ कपि (एप) जाति के वानरों में भी यह रोग होता है।
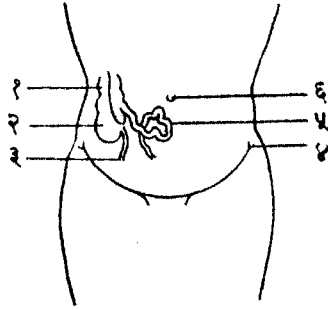
उंडुक

१. बृहदांत्र; २. अंधांत्र; ३. उंडुक; ४. पेड़ू; ५. क्षुद्रांत्र; ६. नाभि।

उंडुकार्ति में उदर में पीड़ा होती है। प्रायः पीड़ा प्रभातवेला में नाभि के चारों ओर प्रारंभ होती है और वहाँ से उंडुक प्रांत में आती हुई प्रतीत होती है। प्रारंभ में एक या दो वमन हो सकते हैं। किंतु वमन निरंतर नहीं होते। ज्वर शीघ्र ही आरंभ हो जाता है, किंतु बहुत अधिक नहीं होता। उदर उंडुक प्रांत में कठोर हो जाता है और वहाँ के चर्म को दबाने से रोगी को पीड़ा होती है।

उंडुकार्ति में विशेष भय उंडुक के विदार (फटने) का रहता है, अथवा वह कोथ (गैंग्रीन) युक्त हो जाता है। उसके चारों ओर पूय (पीब) भी बन सकता है।

यदि किसी व्यक्ति को यह रोग होने का संदेह हो तो उसको विरेचक ओषधियाँ नहीं देनी चाहिए, और न उसको कुछ खाने को ही देना चाहिए। उदर की मालिश भी न होनी चाहिए। जब तक कोई डाक्टर न देख ले तब तक पीड़ा कम करने के लिये कोई ओषधि देना भी उचित नहीं है। रोग का पूर्ण निदान हो जाने के एक या दो दिन के भीतर उसका शल्यकर्म करवा देना चाहिए। शल्यकर्म की सलाह इसलिये दी जाती है कि विदार या कोथ उत्पन्न हो जाने से रोगी के लिये जीवन और मरण का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। शल्यकर्म करके उंडुक को निकाल दिया जाता है।

यदि किसी कारण शल्यकर्म न किया जा सके तो शोथयुक्त स्थान पर उष्मस्वेद (फ़ोमेंटेशन, भीगे गरम कपड़े से सेंक) किया जाय, पेनिसिलिन और स्ट्रेप्टोमाइसीन के इंजेक्शन दिए जायँ और रोगी को शय्या में पूर्णतया निश्चल करके रखा जाय। उपद्रवों की तुरंत पहचान के लिये रोगी को सावधानी से देखते रहना चाहिए। रोग के अत्यंत तीव्र न होने पर, संभव है, पूर्वोक्त चिकित्सा से वह एक सप्ताह में आरोग्यलाभ कर ले। किंतु एक मास के भीतर उसको शल्यकर्म करवा देना चाहिए जिससे रोग के पुनराक्रमण का डर न रहे। कभी कभी यह चिकित्सा करने पर भी उंडुक के चारों ओर पूय बन जाता है। ऐसी अवस्था में पूय निकाल देना आवश्यक होता है।

यदि रोगी सावधान नहीं रहता तो उसको रोग के बार बार आक्रमण हो सकते हैं। इसलिये रोगी को शल्यकर्म करवा के रोग के भय को सदा के लिये दूर कर देना उचित है। [प्री० दा०]

उक्रेनी भाषा और साहित्य उक्रेनी भाषा, उक्रेनी जनता की भाषा है जो मूलतः सोवियत संघ के उक्रेनी सोवियत समाजवादी प्रजातंत्र में रहती है। इसका विकास प्राचीन रूसी भाषा से हुआ। यह स्लैवोनिक भाषाओं की पूर्वी शाखा में है जिसमें इसके अतिरिक्त रूसी एवं बेलोरूसी भाषाएँ संमिलित हैं। इस भाषा के बोलनेवालों की संख्या ३ करोड़ २८ लाख से अधिक है। इसकी बोलियों के तीन मुख्य समूह हैं—उत्तरी उपभाषा, दक्षिण-पश्चिमी उपभाषा और दक्षिण-पूर्वी उपभाषा। आधुनिक साहित्यिक उक्रेनी का विकास दक्षिण-पूर्वी उपभाषा के आधार पर हुआ। उक्रेनी भाषा रूपरचना और वाक्यविन्यास में रूसी भाषा के निकट है।

उक्रेनी भाषा का विकास १२वीं सदी से प्रारंभ हुआ। इस काल से उक्रेनी जनता ने अनेक लोककथाओं और लोकगीतों की रचना की। इसी काल से वीरगाथाएँ, पौराणिक कथाएँ एवं धार्मिक रचनाएँ विकसित होने लगीं। प्रायः इन कृतियों के रचयिताओं के नाम अज्ञात हैं। १६वीं शताब्दी से नाटकों का भी विकास हुआ। १९वीं शताब्दी के मध्य से उक्रनी साहित्य में यथार्थवादी धारा विकसित होने लगी। व्यंगात्मक रचनाएँ एक प्रसिद्ध व्यंगलेखक स्कोवोरोटा (१७२२-१७९४ ई०) लिखने लगे। सुप्रसिद्ध कवि और गद्यकार इ० प० कोत्लारेव्स्की (१७६९-१८३८ई०) ने नव उक्रेनी साहित्य की स्थापना की। इन्होंने साहित्य और जीवन का दृढ़ संबंध रखा, उक्रेनी साहित्य की सभी शैलियों पर बहुत प्रभाव डाला तथा आधुनिक साहित्यिक भाषा की नींव रखी।

तरास ग्रिगोर्येविच शेव्चेंको (१८१४-१८६१ ई०) महान् क्रांतिकारी जनकवि थे। उन्होंने उक्रेनी साहित्य में आलोचनात्मक यथार्थवाद की स्थापना की। अपनी कृतियों में वे ज़ार के विरुद्ध क्रांतिकारी किसान आंदोलन की भावनाएँ और विचार प्रकट करते थे। उनकी अनेक कविताएँ अत्यंत लोकप्रिय हैं। उस समय के प्रसिद्ध गद्यकारों में पनास मिरनी और नाटककारों में इ० कार्पेको-कारिय हैं। सुप्रसिद्ध कवि, नाटककार और गद्यकार के रूप में इ० य० फ्रांको (१८५६-१९१६) विख्यात हैं, जिन्होंने अपनी बहुसंख्यक रचनाओं में उक्रेनी जनता के जीवन का विस्तारपूर्ण वर्णन किया है। सुप्रसिद्ध कवयित्री लेस्या उक्राइन्का (१८७१-१९१३) और कवि कोत्स्यूबिस्की ने (१८६४-१९१३) अपनी कविताओं में उक्रेनी जनता के क्रांतिकारी संघर्ष का चित्रण किया।

अक्तूबर, सन् १९१७ की महान् समाजवादी क्रांति के बाद उक्रेनी साहित्य का विकास और भी अधिक होने लगा। इस काल के सबसे प्रसिद्ध कवि पावलो तिचीना और मैक्सीम रिलस्की हैं, एवं नई पीढ़ी के कवि गोंचारेंको, पेर्वोमैस्की आदि हैं। नाटक के क्षेत्र में सबसे बड़ी देन अलेक्संद्र कोर्नेचुक (जन्म १९०५ ई०) की है। उपन्यासकारों और कहानीकारों में नतान रिबाक (जन्म १९१३) एवं वदिम सोबको (जन्म १९१२) सबसे अधिक विख्यात हैं। इस काल से उक्रेनी साहित्य समाजवादी यथार्थवाद के आधार पर विकसित होने लगा। गद्यकार और कवि आधुनिक सोवियत उक्राइना का और उसके वीरतापूर्ण अतीत इतिहास का चित्रण करते थे।

सन् १९४१-४५ के महान् देशभक्तिपूर्ण युद्ध के बाद उक्रेनी साहित्य में और भी अधिक नए कवि और लेखक पैदा हुए। वर्तमान उक्रेनी कवि, जैसे पावलो तिचीना, मैक्सीम रिलस्की, मिकोला बझान, अंद्रे मलिश्को, सोस्यूरा आदि अपनी कविताओं में मजदूरों और किसानों के जीवन का

चित्रण करते तथा विश्वशांति के लिये संघर्ष और विभिन्न देशों की जनता की मैत्री की भावनाएँ प्रकट करते हैं। उक्रेनी नाटककार, जैसे कोर्नेचुक, सोबको, दूमित्रेंको आदि सामाजिक, ऐतिहासिक और व्यंगात्मक नाटकों की रचना करते हैं। इन नाटकों का प्रदर्शन सोवियत संघ के बहुसंख्यक थियेटरों में किया जाता है। उक्रेनी गद्य का विकास भी तेजी से हो रहा है। ओलेस गोंचार, नतान रिबाक, पेत्रो पंच, स्तेलमह आदि अपने उपन्यासों और कहानियों में सोवियत जनता की युद्धकालीन बहादुरी का और साम्यवादी समाज के निर्माण के लिये मजदूरों, किसानों और बुद्धिजीवियों के वीरतापूर्ण परिश्रम का वर्णन करते हैं। उक्रेनी लेखक सोवियत संघ के सामाजिक जीवन में सक्रिय भाग लेते हैं।

उक्रेनी लेखकों की अनेक कृतियाँ सोवियत संघ की अन्य अनेक भाषाओं तथा विदेशी भाषाओं में अनूदित हो रही हैं और समस्त सोवियत संघ तथा विदेशों में लोकप्रिय हो गई हैं। साथ ही सोवियत संघ की अन्य भाषाओं के साहित्य तथा विदेशी साहित्यों की रचनाएँ उक्रेनी भाषा में अनूदित और प्रकाशित हो रही हैं। इनमें प्राचीन एवं अर्वाचीन भारतीय साहित्य की अनेक कृतियाँ भी संमिलित हैं।

सं० ग्रं०—उक्रेनी साहित्य का इतिहास, खंड १ कीएव १९५४, रूसी में; सोवियत कालीन उक्रेनी साहित्य का इतिहास, मास्को, १९५४, रूसी में; उक्रेनी साहित्य का इतिहास, दो भाग, कीएव, १९५५–५६, उक्रेनी में; आधुनिक उक्रेनी साहित्यिक भाषा, संपादक : बुलाशेस्की, दो भाग, कीएव, १९५१; उक्रेनी–रूसी शब्दकोश, संपादक : ई० म० किरिचेंको, भाग १, कीएव, १९५३। [प्यो० अ० बा०]

उग्रसेन

उग्रसेन (महापद्म) नंद वंश का प्रथम सम्राट् था जिसे पुराणों में 'सर्वक्षत्रांतक' तथा 'एकराट्' कहा गया है। 'महाबोधि वंश' में उसकी संज्ञा उग्रसेन मिलती है। उसने इक्ष्वाकुओं, पांचालों, काशी जनपदवासियों, कालिंगों, अश्मकों, कुरुओं, चेदियों, शूरसेनों तथा वीतिहोत्रा जनों को परास्त कर एक बड़ा साम्राज्य स्थापित किया था। उसकी विशाल सेना के विषय में सुनकर सिकंदर को मगध पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ।

२. उग्रसेन (पालक्क) का नाम समुद्रगुप्त के दक्षिण अभियान के संबंध में अन्य नरेशों के साथ परिगणित है। उसे समुद्रगुप्त ने परास्त किया था।

३. उग्रसेन (पारीक्षित) के नाम का उल्लेख वैदिक अनुक्रमणी में परीक्षित के चार पुत्रों की श्रेणी में जनमेजय, भीमसेन और श्रुतसेन के साथ मिलता है (वैदिक इंडेक्स, प्रथम भाग, पृ० ५२०)। [चं० म०]

उच्च न्यायालय

इस देश में उच्च न्यायालयों की स्थापना का श्रेय अंग्रेजी सरकार को है। सन् १८६१ में इनकी स्थापना से पूर्व इस देश में दो प्रकार के न्यायालय कार्य कर रहे थे। प्रथम प्रकार के न्यायालयों की स्थापना विभिन्न वर्षों में प्रेसीडेंसी नगरों, अर्थात् कलकत्ता, मद्रास और बंबई में सीधे इंग्लैंड के सम्राट् द्वारा हुई थी। ये न्यायालय उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) के नाम से विख्यात थे। दूसरे प्रकार के न्यायालय ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा बंगाल, मद्रास, बंबई तथा अन्य प्रांतों में स्थापित किए गए थे। सदर दीवानी अदालत और सदर निजामत अदालत कंपनी के उच्चतम न्यायालय थे। इन न्यायालयों के अंतर्गत व्यवहार विषयक (सिविल) एवं दांडिक (क्रिमिनल) अधीन न्यायालय (सबार्डिनेट कोर्ट) कार्य करते थे। उच्चतम न्यायालयों का केवल प्रारंभिक क्षेत्राधिकार (ओरिजिनल जुरिस्डिक्शन) था, जिसका विस्तार प्रेसीडेंसी नगरों तक ही सीमित था, यद्यपि इन न्यायालयों ने विभिन्न समयों पर प्रांतों में भी अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग किया था। इनकी कार्यप्रणाली अंग्रेजी न्यायालयों की कार्यप्रणाली के समान थी और ये विवादों में अधिकतर अंग्रेजी कानूनों का प्रयोग करते थे।

कंपनी की सदर अदालतों का अपीलीय क्षेत्राधिकार (अपेलेट जुरिस्डिक्शन) था। सरकार द्वारा बनाए विभिन्न विनियमों तथा हिंदू एवं मुस्लिम कानूनों के अनुसार ये न्यायालय अपने निर्णय देते थे। अधिकतर इनकी कार्यप्रणाली भी सरकारी विनियमों द्वारा निश्चित की जाती थी।

इस प्रकार भारत में दो प्रकार के समवर्ती तथा स्वतंत्र न्यायालय कार्य कर रहे थे। कभी कभी इनके निर्णय प्रतिकूल भी होते थे और प्रजा को दो अधिकारक्षेत्रों का भाजन बनना पड़ता था। इन दो प्रकार के न्यायाधीशों के संबंध भी परस्पर अच्छे नहीं थे। उच्चतम न्यायालय कंपनी के कामों में बहुधा हस्तक्षेप भी करते थे। असमान कानूनों एवं प्रणालियों के प्रयोग से न्यायव्यवस्था में एक प्रकार का उलझाव पैदा हो गया था। इसलिये न्यायव्यवस्था को सुदृढ़, संगठित एवं सुचारु रूप से चलाने के लिये इन समकक्ष न्यायालयों का विलयन करके एक ही प्रकार के उच्च न्यायालय स्थापित करने का निश्चय किया गया।

उच्च न्यायालयों की स्थापना—६ अगस्त, १८६१ को ब्रिटिश संसद (पार्ल्यामेंट) ने भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम (इंडियन हाईकोर्ट ऐक्ट) के द्वारा उच्चतम एवं सदर न्यायालयों का विलयन करके उच्च न्यायालयों की स्थापना की। भारतीय न्यायव्यवस्था के इतिहास में यह एक महान् एवं उत्कृष्ट प्रयास था जिसकी सफलता वर्तमान उच्च न्यायालयों की असाधारण कार्यक्षमता के द्वारा प्रकट होती है। इस अधिनियम ने इंग्लैंड की महारानी को अधिकार दानपत्रों (लेटर्स पेटेंट) द्वारा कलकत्ता, मद्रास, बंबई तथा अन्य भागों में उच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार दिया। प्रत्येक न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति (चीफ जस्टिस) एवं अधिकतम १५ अवर न्यायाधीश (प्युनी जज) कार्य कर सकते थे। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति बैरिस्टरों, प्राधिकारियों, जिला न्यायाधीशों, सदर अमीन अथवा लघुवाद न्यायालयों (स्माल काज़ कोर्टस्) के न्यायाधीशों एवं वकीलों में से होती थी। सभी न्यायाधीशों की सेवाएँ अंग्रेजी सम्राज्ञी की इच्छा पर निर्भर करती थीं।

अधिनियम ने उच्च न्यायालयों को व्यवहार विषयक (सिविल), दांडिक (क्रिमिनल), नौकाधिकरण (ऐडमिराल्टी) एवं उपनौकाधिकरण, वसीयत संबंधी, वसीयत रहित एवं वैवाहिक, प्रारंभिक एवं अपीली दोनों प्रकार के, क्षेत्राधिकार दिए। व्यवहार विषयक एवं दांडिक प्रारंभिक क्षेत्राधिकार साधारण प्रारंभिक क्षेत्राधिकार एवं असाधारण प्रारंभिक क्षेत्राधिकार में विभाजित था। यह उल्लेखनीय है कि प्रारंभिक क्षेत्राधिकार पूर्ववर्ती उच्चतम न्यायालयों से तथा अपीली क्षेत्राधिकार पूर्ववर्ती सदर अदालतों की देन हैं।

इन क्षेत्राधिकारों के अतिरिक्त उच्च न्यायालयों को प्रेसीडेंसियों में न्यायव्यवस्था संबंधी वे सभी अधिकार प्राप्त थे जो अधिकार दानपत्रों द्वारा स्वीकृत हुए हों। पूर्व न्यायालयों के अन्य अधिकार भी उच्च न्यायालयों को दिए गए। ये न्यायालय अधीन न्यायालयों पर अधीक्षण (सुपरिंटेंडेंस) का अधिकार रखते थे।

उच्च न्यायालयों को पूर्ववर्ती दोनों प्रकारों के न्यायालयों के न्यायाधीशों की सेवाएँ प्राप्त थीं। उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीश अंग्रेजी कानूनों से परिचित थे तथा सदर अदालतों के न्यायाधीश भारत की प्रथाओं, स्वभाव एवं कानूनों से परिचित थ। इस प्रकार असमान कानूनों एवं प्रणालियों के समावेश से पूर्व असमानता द्वारा प्रदत्त दोष लगभग समाप्त हो गए थे।

१८६१ के अधिनियम के अंतर्गत जारी किए गए १४ मई, १८६१ के अधिकार दानपत्र के द्वारा कलकत्ते में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। इस अधिकार दानपत्र के अशुद्ध होने के कारण २८ दिसंबर, १८६५ को एक नया अधिकार दानपत्र जारी किया गया। २६ जून, १८६२ को जारी किए गए अधिकार दानपत्रों के द्वारा बंबई एवं मद्रास में उच्च न्यायालयों की स्थापना की गई। इन अधिकार दानपत्रों के स्थान पर १८६५ में नए दानपत्र जारी किए गए। इन तीनों उच्च न्यायालयों को अधिनियम द्वारा वर्णित समस्त अधिकार प्राप्त थे।

१७ मार्च, १८६६ को जारी किए गए अधिकार दानपत्र द्वारा उत्तर-पश्चिमी प्रांतों के लिये आगरा में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। १८७५ में यह न्यायालय आगरे से इलाहाबाद लाया गया। प्रेसीडेंसी उच्च न्यायालयों की भाँति इस न्यायालय को साधारण प्रारंभिक व्यवहार विषयक क्षेत्राधिकार एवं नौकाधिकरण अथवा उपनौकाधिकरण क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं थे। २६ जुलाई, १९४८ को अवध मुख्य न्यायालय (अवध चीफ़ कोर्ट) को इस न्यायालय में मिला दिया गया।

६ फरवरी, १६१६ को अधिकार दानपत्र द्वारा पटना में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। यद्यपि इसका क्षेत्राधिकार इलाहाबाद उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार के समान था, तथापि इस न्यायालय को नौकाधिकरण क्षेत्राधिकार भी प्राप्त हुआ। २१ मार्च, १६१६ के अधिकार दानपत्र के द्वारा लाहौर में तथा २ जनवरी, १६१६ के अधिकार दानपत्र द्वारा नागपुर में उच्च न्यायालयों की स्थापना हुई। इनके अधिकार इलाहाबाद उच्च न्यायालय के अधिकारों के समान थे। भारत के विभाजन के पश्चात् लाहौर न्यायालय के पाकिस्तान में चले जाने के कारण पूर्वी पंजाब के लिये १६४७ में उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। १६४८ में उड़ीसा एवं असम में उच्च न्यायालय स्थापित किए गए। इनका क्षेत्राधिकार क्रमशः कलकत्ता एवं पटना उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के समान रखा गया। आज भारत में विभिन्न प्रांतों के पुनगठन के पश्चात् सभी प्रांतों में उच्च न्यायालय सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं।

भारत सरकार अधिनियम, १६३५ (गवर्नमेंट ऑव इंडिया ऐक्ट, १६३५) के द्वारा परिवर्तन—इस अधिनियम द्वारा उच्च न्यायालयों के गठन एवं रचना में कुछ परिवर्तन किए गए। प्रत्येक न्यायाधीश को ६० वर्ष की आयु तक कार्य करने का अधिकार दिया गया। १८६१ के अधिनियम द्वारा निर्मित विभिन्न श्रेणियों के न्यायाधीशों के चुनाव का नियम समाप्त कर दिया गया। इन परिवर्तनों के अतिरिक्त उच्च न्यायालयों के व्यय संबंधी मामलों में कार्यकारिणी अथवा विधान सभा को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं दिया गया, केवल राज्यपाल को ही यह अधिकार मिला।

भारतीय संविधान में उच्च न्यायालय—भारत की वर्तमान न्यायव्यवस्था में उच्च न्यायालयों का एक विशेष स्थान है। संविधान में प्रदत्त मूल अधिकारों (फंडामेंटल राइट्स्) की सुरक्षा की दृष्टि से इन न्यायालयों का मान और भी बढ़ गया है। प्रत्येक उच्च न्यायालय पहले की भाँति एक अभिलेख न्यायालय (कोर्ट ऑव रेकर्ड) है तथा उसे अपने अवमान (कंटेंप्ट) के लिये दंड देने की शक्ति दी गई है।

उच्च न्यायालयों का गठन समय समय पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त मुख्य न्यायाधिपति तथा अन्य न्यायाधीशों पर निर्भर करता है। राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति से, राज्य के राज्यपाल से तथा राज्य के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति को छोड़कर अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति की दशा में उस राज्य के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करके उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करता है। उच्च न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिये संबंधित व्यक्ति का भारतीय राज्यक्षेत्र में कम से कम १० वर्ष तक न्यायिक पद पर कार्य करना आवश्यक है, अथवा उच्च न्यायालय का अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का निरंतर कम से कम १० वर्ष तक अधिवक्ता रहना आवश्यक है। प्रत्येक न्यायाधीश ६० वर्ष की आयु तक कार्य कर सकता है।

उच्च न्यायालय का कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा स्वयं ही पदत्याग सकता है। इसके अतिरिक्त कोई न्यायाधीश अपने पद से तब तक नहीं हटाया जा सकता जब तक सिद्ध कदाचार, अथवा असमर्थता के लिये ऐसे हटाए जाने के हेतु प्रत्येक सदन की समस्त सदस्यसंख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करनेवाल सदस्यों में से कम से कम दो तिहाई के बहुमत द्वारा समर्थित समावेदन के राष्ट्रपति के समक्ष संसद के प्रत्येक सदन द्वारा उसी सत्र में रखे जाने पर राष्ट्रपति ने आदेश न दिया हो।

कोई व्यक्ति जो इस संविधान के प्रारंभ के पश्चात् उच्च न्यायालय के स्थायी न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है, उच्चतम न्यायालय या अन्य उच्च न्यायालयों के अतिरिक्त भारत के किसी न्यायालय अथवा किसी प्राधिकारी के समक्ष वकालत या कार्य नहीं कर सकता।

राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से एक उच्च न्यायालय से किसी दूसरे उच्च न्यायालय को किसी न्यायाधीश का स्थानांतरण कर सकता है। राष्ट्रपति को कार्यकारी मुख्य न्यायाधिपति तथा अपर एवं कार्यकारी न्यायाधीशों की नियुक्ति करने का अधिकार है।

वर्तमान उच्च न्यायालयों का क्षेत्राधिकार तथा उसमें प्रशासित विधि तथा उस न्यायालय में न्यायप्रशासन के संबंध में उसके न्यायाधीशों की अपनी अपनी शक्तियाँ, जिनके अंतर्गत न्यायालय के नियम बनाने तथा उस न्यायालय की बैठकों और उसके सदस्यों के अकेले अथवा खंड न्यायालयों (डिवीजन कोर्ट्स्) में बैठने का विनियमन करने की कोई शक्ति भी है, वैसी ही रखी गई है, जैसी संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले थी। परंतु राजस्व (रेवेन्यू) संबंधी, अथवा उसको संगृहीत करने में आदिष्ट अथवा किए हुए किसी कार्य संबंधी विषय में उच्च न्यायालयों में से किसी के प्रारंभिक क्षेत्राधिकार का प्रयोग, जिस किसी निर्बंधन के अधीन संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले था, वह निर्बंधन ऐसे क्षेत्राधिकार के प्रयोग पर आगे लागू नहीं किया गया।

प्रत्येक उच्च न्यायालय अपने क्षेत्राधिकार में संविधान के भाग ३ द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिये, तथा किसी अन्य प्रयोजन के लिये किसी व्यक्ति या प्राधिकारी के प्रति, या समुचित मामलों में किसी सरकार को ऐसे निदेश (डिरेक्शन) या आदेश (आर्डर्स) या लेख (रिट), जिनके अंतर्गत बंदीप्रत्यक्षीकरण (हेबियस कार्पस), परमादेश (मैंडेमस्), प्रतिषेध (प्राहिबिशन), अधिकार-पृच्छा (को-वारंट्स) तथा उत्प्रेषण (सरशियोरराई) के प्रकार के लेख भी हैं, अथवा उनमें से किसी को जारी करने की शक्ति रखता है। यह शक्ति उच्चतम न्यायालय को इस संबंध में प्रदत्त शक्ति के समकक्ष है।

प्रत्येक उच्च न्यायालय को अधीन न्यायालयों और न्यायाधिकरणों के अधीक्षण की शक्ति दी गई है। विशेष मामलों को उच्च न्यायालय को हस्तांतरण करने का अधिकार है।

संसद को विधि द्वारा किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का विस्तार अथवा अपवर्जन किसी संघ राज्यक्षेत्र में या राज्यक्षेत्र से कर सकने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त संसद को विधि द्वारा दो या अधिक राज्यों के लिये अथवा दो या अधिक राज्यों और एक संघ राज्यक्षेत्र के लिये एक उच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार है।

यह उल्लेखनीय है कि उच्च न्यायालयों के समस्त क्षेत्राधिकारों में अपीली क्षेत्राधिकार बहुत विस्तृत एवं महत्वपूर्ण है।

[जि० कु० मि०]

उच्चाटन

उच्चाटन एक प्रकार का मंत्रप्रयोग है जो प्रेत, पिशाच, डाकिनी आदि के निवारण या नियंत्रण के हेतु किया जाता है। अंधविश्वासी लोग मानते हैं कि प्रेत या डाकिनी के उत्पात या कुदृष्टि से रोग उत्पन्न होते हैं और ऐसा विश्वास होता है कि इनके निवारण (उच्चाटन) से रोगों का शमन और दुःख का निवारण हो सकता है। यह विश्वास अत्यंत प्राचीन और सार्वभौम है। विज्ञान के प्रसार से यह हटता तो जाता है, परंतु कितने ही देशों में यह अब तक प्रचलित है। दूसरे के मन को अन्यत्र लगा देना, उसे अन्यमनस्क कर देना भी उच्चाटन की एक क्रिया मानी जाती है।

उच्चाटन की विविध क्रियाएँ हैं। इनका प्रयोग बिना मंत्र के किया जाता है और मंत्र के साथ भी। उच्चाटन मंत्र अनेक प्रकार के हैं। विधिपूर्वक इनका प्रयोग करना अनेक लोगों का व्यवसाय है। ये लोग दावा करते हैं कि मंत्र के द्वारा भूत, प्रेत और पिशाच भगाए जा सकते हैं और डाकिनी को नियंत्रित तथा निष्क्रिय किया जा सकता है।

सं० ग्रं०—मंत्र महोदधि; मंत्रमहार्णव। [म० ला० श०]

उच्चारण

किसी भाषा के बोलने के ढंग को साधारणतया उच्चारण कहते हैं। भाषाविज्ञान में उच्चारण के शास्त्रीय अध्ययन को ध्वनिविज्ञान संज्ञा दी जाती है। भाषा के उच्चारण की ओर तभी ध्यान जाता है जब उसमें कोई असाधारणता होती है, जैसे (क) बच्चों का हकलाकर या अशुद्ध बोलना, (ख) विदेशी भाषा को ठीक न बोल सकना, (ग) अपनी मातृभाषा के प्रभाव के कारण साहित्यिक भाषा के बोलने की शैली का प्रभावित होना, आदि।

उच्चारण के अंतर्गत प्रधानतया तीन बातें आती हैं : (१) ध्वनियाँ, विशेषतया स्वरों में ह्रस्व दीर्घ का भेद, (२) बलात्मक स्वराघात, (३) गीतात्मक स्वराघात। इन्हीं के अंतर से किसी व्यक्ति या वर्ग के उच्चारण में अंतर आ जाता है। कभी कभी ध्वनियों के उच्चारणस्थान में भी कुछ भेद पाए जाते हैं।

उच्चारण के अध्ययन का व्यावहारिक उपयोग साधारणतया तीन क्षेत्रों में किया जाता है : (१) मातृभाषा अथवा विदेशी भाषा के अध्ययन अध्यापन के लिये, (२) लिपिहीन भाषाओं को लिखने के निमित्त वर्णमाला निश्चित करने के लिये, (३) भिन्न भिन्न भाषाओं के उच्चारण की विशेषताओं को समझने तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये।

यद्यपि संसार की भिन्न भिन्न भाषाओं के उच्चारण में समानता का अंश अधिक पाया जाता है किंतु साथ ही प्रत्येक भाषा के उच्चारण में कुछ विशेषताएँ भी मिलती हैं, जैसे भारतीय भाषाओं की मूर्धन्य ध्वनियाँ ट ठ ड आदि, फारसी अरबी की अनेक संघर्षी ध्वनियाँ जैसे ख़ ग़ ज़ आदि, हिंदी की बोलियों में ठेठ ब्रजभाषा के उच्चारण में अर्धविवृत स्वर ऐं औं, भोजपुरी में शब्दों के उच्चारण में अंत्य स्वराघात।

भाषाओं के बोले जानेवाले रूप अर्थात् उच्चारण को लिपिचिह्नों के द्वारा लिखित रूप दिया जाता है किंतु इस रूप में उच्चारण की समस्त विशेषताओं का समावेश नहीं हो पाता है। वर्णमालाओं का आविष्कार प्राचीन काल में किसी एक भाषा को लिपिबद्ध करने के लिये हुआ था, किंतु आज प्रत्येक वर्णमाला अनेक संबद्ध अथवा असंबद्ध भाषाओं को लिखने में प्रयुक्त होने लगी है जिनमें अनेक प्राचीन ध्वनियाँ लुप्त और नवीन ध्वनियाँ विकसित हो गई हैं। फिर, प्रायः वर्णमालाओं में ह्रस्व दीर्घ, बलात्मक स्वराघात, गीतात्मक स्वराघात आदि को चिह्नित नहीं किया जाता। इस प्रकार भाषाओं के लिखित रूप से उनकी उच्चारण संबंधी समस्त विशेषताओं पर प्रकाश नहीं पड़ता।

प्रचलित वर्णमालाओं के उपर्युक्त दोष के परिहार के लिये भाषाविज्ञान के ग्रंथों में रोमन लिपि के आधार पर बनी हुई अंतरराष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि (इंटर्नेशनल फ़ोनेटिक स्क्रिप्ट) का प्रायः प्रयोग किया जाने लगा है। किंतु इस लिपि में भी उच्चारण की समस्त विशेषताओं का समावेश नहीं हो सका है। इनका अध्ययन तो भाषा के 'टेप रिकार्ड' या 'लिंग्वाफोन' की सहायता से ही संभव होता है।

भाषा के लिखित रूप का प्रभाव कभी कभी भाषा के उच्चारण पर भी पड़ता है, विशेषतया ऐसे वर्ग के उच्चारण पर जो भाषा को लिखित रूप के माध्यम से सीखता है; जैसे हिंदीभाषी 'वह' को प्रायः 'वो' बोलते हैं, यद्यपि लिखते 'वह' हैं। लिखित रूप के प्रभाव के कारण अहिंदीभाषी सदा 'वह' बोलते हैं।

प्रत्येक भाषा के संबंध में आदर्श उच्चारण की भावना सदा वर्तमान रही है। साधारणतया प्रत्येक भाषाप्रदेश के प्रधान राजनीतिक अथवा साहित्यिक केंद्र के शिष्ट नागरिक वर्ग का उच्चारण आदर्श माना जाता है। किंतु यह आवश्यक नहीं है कि इसका सफल अनुकरण निरंतर हो सके। यही कारण है कि प्रत्येक भाषा के उच्चारण में कम या अधिक मात्रा में अनेकरूपता रहती ही है।

किसी भाषा के उच्चारण का वैज्ञानिक अध्ययन करने या कराने के लिये ध्वनिविज्ञान की जानकारी आवश्यक है। प्रयोगात्मक ध्वनिविज्ञान की सहायता से उच्चारण की विशेषताओं का अत्यंत सूक्ष्म विश्लेषण संभव हो गया है। किंतु उच्चारण के इस वैज्ञानिक विश्लेषण के कुछ ही अंशों का व्यावहारिक उपयोग संभव हो पाता है। [धी० व०]

उच्चालित्र अथवा एलिवेटर उन यंत्रों को कहते हैं जो अनाज, अन्य माल तथा यात्रियों को नीचे ऊपर पहुँचाते हैं।

धान्य के उच्चालित्र—अनाज के उठाने और रखने की यांत्रिक रीतियों में से एक, जो अब भी सर्वाधिक प्रयोग में आती है, डोलवाले उच्चालित्र की है। इसमें मोटे गाढ़े या कैनवस के पट्टे पर १० से १८ इंच की दूरी पर धातु के छोटे छोटे डोल बँधे रहते हैं। पट्टा ऊर्ध्वाधर अथवा प्रायः ऊर्ध्वाधर रहता है। ऊपरी तथा निचले सिरों पर एक एक बड़ी घिरनी या पहिया रहता है, जिसपर पूर्वोक्त पट्टा चढ़ा रहता है। पट्टा और घिरनी के बीच पर्याप्त घर्षण के लिये पट्टे पर रबर चढ़ा रहता है। उच्चालित्र के नीचेवाले भाग में बने एक गढ़े में से चलते हुए पट्टे के डोल अनाज उठा लेते हैं और उसे ऊपरी सिरे पर ले जाकर गिरा देते हैं। जैसे ही अनाज उच्चालित्र के ऊपरी सिरे पर पहुँचता है, अपकेंद्र बल उसे एक बृहत्काय कीप में फेंक देता है। यहाँ से पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण उसे बड़े व्यास के नलों तथा ढालू नलियों द्वारा संग्रह के उपयुक्त खत्तों या भांडों में पहुँचा देता है।

अनाज को किसी भी बेंड़ी अथवा खड़ी दिशा में ले जाने की नई रीति यह है कि वायुधारा का प्रयोग किया जाय। इसमें धातु की दृढ़ पंखियोंवाला पंखा रहता है। इसी पर अनाज डाला जाता है। पंखा वायु की धारा के साथ अनाज को भी आगे ढकेल देता है। पंखों का प्रयोग मुख्यतः कृषि के फार्मों पर अथवा ऐसे छोटे कामों के लिये होता है जहाँ उठाऊ यंत्र की आवश्यकता रहती है। पंखे के प्रयोग में हानि यह है कि वह धूल उड़ाता है, उसमें भठ जाने की प्रवृत्ति रहती है तथा उसकी पंखियाँ अनाज के दानों को बहुधा तोड़ देती हैं।

छोटे या संकुचित स्थानों में अथवा थोड़ी दूरी के लिये पेंच के रूपवाले उच्चालित्र का व्यवहार किया जाता है। खोखले गोल बेलन के भीतर कुंतलाकार एक फल होता है। इस फल के घूमने के साथ साथ अनाज भी आगे बढ़ता है। अनाज की क्षैतिज गति के लिये तो यह ठीक काम देता है, किंतु खड़ी अथवा प्रायः खड़ी दिशा में अनाज को चढ़ाने के लिये इसमें बहुत बल लगाने की आवश्यकता होती है और इसलिये यह अनुपयोगी सिद्ध हुआ है।

पिछले कई वर्षों से, नौकाओं तथा जहाजों और, इससे भी अभिनव काल में, रेलों से अनाज उतारने तथा ऊपर नीचे पहुँचाने के लिये हवा से काम लिया जाता है। लचीले नलों से काम लेकर इस विधि का प्रयोग विविध कार्यों में किया जा सकता है। यद्यपि इसके उपयोग में अधिक बल की आवश्यकता होती है और अनाज की गति सीमित होती है, तो भी अन्य उच्चालित्रों की अपेक्षा इसमें अनेक गुण हैं।
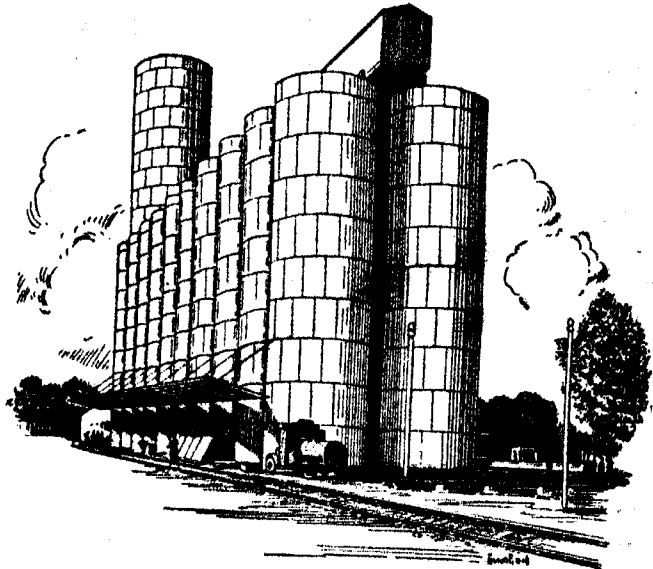
हापुड़ का अन्न उच्चालित्र तथा संग्रहभांड

हवा से चलनेवाली मशीनों का हृदय एक पंप होता है जो या तो पिस्टन के आगे पीछे चलने से अथवा केवल वेगपूर्वक घूमते रहने से काम करता है। यह यंत्र उन नलों से, जिनका मुख अनाज के भीतर डूबा रहता है, वायु निकाल लेता है। तब नलों के मुख से, जिनमें अनाज के साथ अतिरिक्त वायु के प्रवेश के लिये अलग मार्ग रहता है, हवा तथा अनाज साथ साथ ऊपर चढ़ते हैं।

अनाज के उठाने-रखने की मशीनों से काम लेते समय अनाज की धूलि से विस्फोट होने की आशंका पर ध्यान रखना आवश्यक है।

माल तथा यात्रियों के उच्चालित्र—इस वर्ग के यंत्रों में माल तथा यात्रियों को पहुँचाने का कार्य अविराम न होकर रुक रुककर होता रहता है। इस प्रकार का उच्चालित्र भार को समय समय पर ऊपर नीचे करता रहता है। भार रखने के लिये एक चौकी तथा उसे ऊपर नीचे चलाने के लिये रस्सी या जलसंचालित (हाइड्रॉलिक) यंत्र होता है। चौकी एक चौकोर या गोल घर में ऊपर नीचे चलती है जिसे कूपक (शैफ्ट) कहते हैं।

रस्सी से चलनेवाले माल के उच्चालित्रों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : (१) लघुकार्यक्षम तथा (२) गुरुकार्यक्षम। लघुकार्यक्षम उच्चालित्र २० से ३० मन की सामर्थ्य के, २५ फुट प्रति मिनट की गतिवाले तथा ३५ फुट ऊँचाई तक कार्य करनेवाले होते हैं। इन उच्चालित्रों के सब भागों की रचना साधारण आवश्यकता से कहीं अधिक दृढ़ होती है और इनमें बटन दबाने पर कार्य करनेवाले स्थिर-दाब-नियंत्रक, भवन के प्रत्येक तल पर तथा चलनेवाली चौकी में भी, लगे रहते हैं। यदि नीचे उतरते समय गति अत्यधिक हो जाय तो यान में स्वतःचालित गति-नियंत्रक-सुरक्षा-यंत्र काम करने लगते हैं। चौकी के प्रारंभिक और अंतिम स्थानों पर सीमा स्थिर करनेवाले खटके तथा सुरक्षा के अन्य उपाय भी रहते हैं। ऐसे यंत्रों की एक विशेषता यह है कि चौकी को चलानेवाला यंत्र उच्चालित्र के पेंदे के पास रहता है। इसलिये ऊपर किसी अवलंब या छत की आवश्यकता नहीं होती।
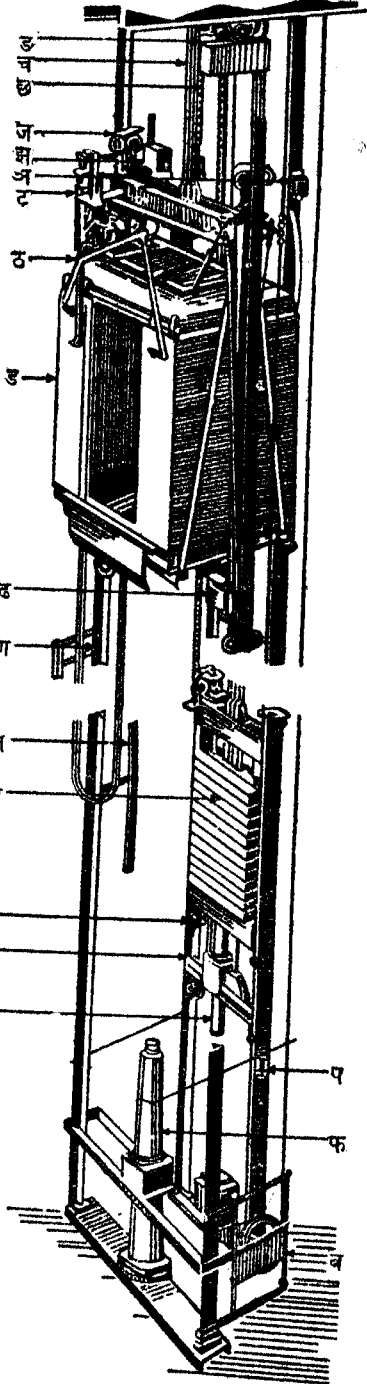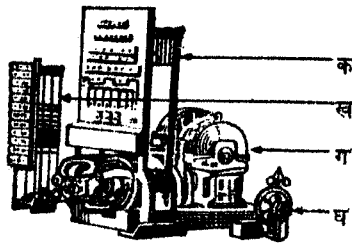
यात्रियों के लिये उच्चालित्र

क. वेग नियंत्रक; **ख.** तल्ला नियंत्रक; **ग.** मोटर; **घ.** संयामक; **ङ.** मार्ग परिवतन करनेवाली घिरनी; **च.** उत्तोलित करनेवाली रज्जु; **छ.** इस्पात का बना संचालक पट्टा; **ज.** मार्गदर्शक बलन; **झ.** रोकनेवाला बिजली का बटन (स्विच); **ञ.** सीमा निर्धारक स्विच; **ट.** समतल करनेवाला स्विच; **ठ.** द्वार-परिचालक; **ड.** यान का डब्बा; **ढ.** यानरक्षक; **ण.** यान मार्गदर्शक पटरियाँ; **त.** रोकनेवाले स्विच का कम; **थ.** प्रतिभार; **द.** मार्गदर्शक बेलन, **ध.** प्रतिभार की मार्गदर्शक पटरियाँ; **न.** प्रतिभार संघातसह; **प.** अंतिम सीमा की स्विच; **फ.** यान के डब्बे का संघातसह; **ब.** तनाव घटाने बढ़ाने की घिरनी।

रस्सीवाले गुरुकार्यक्षम उच्चालित्र विशेषकर मोटर ट्रकों पर काम करने के लिये बनाए जाते हैं। वे इतने पुष्ट बनाए जाते हैं कि भार से होनेवाले सब प्रकार के झटके आदि सह सकें। इनके सब नियंत्रक (कंट्रोल) पूर्ण रूप से स्वयंचालित होते हैं और इनका प्रयोग ट्रक का ड्राइवर अथवा अन्य कोई कर्मचारी कर सकता है। यातायात मार्ग के कुछ स्थानों पर, सिर से ऊपर लगे और बटन दबाने पर कार्य करनेवाले नियंत्रकों से, यह बात संभव हो जाती है। जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ ऐसा प्रबंध भी रहता है जिसके द्वारा कोई अनुचर भी नियंत्रण कर सकता है। जहाँ भवन बहुत ऊँचा हो तथा माल शीघ्र चढ़ाने की आवश्यकता हो वहाँ के लिये रस्सी की सहायता से कार्य संपादित करनेवाले उच्चालित्र विशेष उपयोगी होते हैं।

जलचालित उच्चालित्र—जलचालित उच्चालित्रों का उपयोग नीचे भवनों में होता है जहाँ बोझ बहुत भारी रहता है और तीव्र गति की आवश्यकता नहीं रहती। इन उच्चालित्रों के कार्य में दाब में पड़े द्रव से काम लिया जाता है। ऐसे उपकरणों के निर्माता दावा करते हैं कि जलचालित उच्चालित्र की चौकी पर भारी बोझ लादने पर चौकी नीचे की ओर नहीं भागती क्योंकि उसका आधार तेल का एक असंपीडनीय स्तंभ होता है। वे इस प्रकार के यंत्रों में निम्नांकित अन्य गुण भी बताते हैं : इनके लिये किसी छत की आवश्यकता नहीं पड़ती; इनका कूपक मार्ग खुला और इसलिये सुप्रकाशित रहता है; चौकी बिना झटके के चलना आरंभ करती और रुकती है; जहाँ रोकना चाहें ठीक वहीं रुकती है; और मशीन को अच्छी दशा में बनाए रखने में व्यय कम होता है।

यात्रियों के लिये बने उच्चालित्रों की रचना भी बोझ ढोनेवाले उच्चालित्रों की ही तरह होती है। केवल इनमें सुरक्षा की कुछ अधिक युक्तियाँ रहती हैं तथा इनके रूप और यात्रियों की सुख सुविधा पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

सं० ग्रं०—डी० ओ० हेंज : मैटीरियल हैंडलिंग इक्विपमेंट, (चिल्टन कंपनी, फिलाडेल्फिया); इम्मर : मैटीरियल हैंडलिंग (मैक्रा हिल बुक कंपनी इंकारपोरेटेड)।

[न० ला० गु०]

उज्जयिनी

उज्जयिनी (मध्यप्रदेश का आधुनिक उज्जैन) संबंधी प्रथम उल्लेख बौद्धों के पालि साहित्य से प्राप्त होते हैं। बुद्ध और उनसे कुछ पूर्वकाल के भारत के सोलह महाजनपदों में अवंति का विशिष्ट स्थान था और उज्जयिनी उसकी राजधानी थी। ईसा की छठी सदी पूर्व में उत्तर भारत की राजनीतिक अधिसत्ता और साम्राज्य शक्ति पर अधिकार करने की दौड़ में मगध और अवंति परस्पर प्रतियोगी थे। गौतम बुद्ध का समकालीन उज्जयिनीराज चंड प्रद्योत महासेन अपनी सैनिक शक्ति के लिये प्रसिद्ध था और वत्सराज उदयन से होनेवाले उसके संघर्षों के वर्णन से बौद्ध साहित्य भरा पड़ा है। उज्जयिनी के अनेक राजाओं के मगध पर भी आक्रमण करने का उल्लेख मिलता है। परंतु मगध की बढ़ती हुई शक्ति के सामने अंत में अवंतिराज को झुकना पड़ा और शिशुनाग ने उसे आत्मसात कर मगध में मिला लिया। तथापि उज्जयिनी की निजी महत्ता समाप्त नहीं हुई। उसकी स्थिति पश्चिम और दक्षिण भारत से मध्यदेश की ओर आनेवाले मार्गों पर पड़ती थी और यह उसकी व्यापारिक एवं राजनीतिक विशेषता बनाए रखने में सहायक हुआ। मौर्यकाल में उज्जयिनी एक प्रांतीय राजधानी थी और प्रायः वहाँ राजकुमारों को ही प्रांतीय शासक बनाकर भेजा जाता था। अशोक स्वयं राजगद्दी पाने के पूर्व वहाँ का प्रांतीय उत्तरदायित्व सँभाल चुका था। ईसा की पहली सदी पूर्व में उज्जयिनी मालव गणतंत्र की राजधानी थी। पंडितों का विचार है कि वहाँ के गणमुख्य विक्रमादित्य ने ५७ ई० पू० में शकों की विजय कर एक संवत् चलाया, जिसे आजकल विक्रम संवत् माना जाता है। कालांतर

में पश्चिमी भारत पर अधिकार करलेनेवाले शक क्षत्रपों से मध्यदेशीय राजाओं के जो युद्ध हुए उनमें भी उज्जयिनी और उसके पार्श्ववर्ती क्षेत्रों का महत्व बना रहा। चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने तो उसे अपनी दूसरी राजधानी ही बना लिया। गुप्तों की बादवाली कुछ सदियों में उज्जयिनी का राजनीतिक स्थान बहुत महत्वपूर्ण नहीं रहा। परंतु परमार वंश और विशेषत: राजा भोज ने उज्जयिनी और धारा नगरी की कीर्ति को एक बार और पुनरुज्जीवित किया। पुन: वह कला, विद्या और संस्कृति का केंद्र बन गई, परंतु उसका यह गौरव अल्पकालिक था और शीघ्र ही समाप्त हो गया। पठान सल्तनत, मुगलकाल अथवा परवर्ती अंग्रेजी युग में उसका कोई विशेष राजनीतिक महत्व नहीं रहा। [वि० पां०]

उटकमंड दक्षिण भारत के मद्रास राज्य में समुद्रपृष्ठ से ७,२३० फुट की ऊँचाई पर और कालीकट से ५५ मील की दूरी पर स्थित एक स्वास्थ्यवर्धक पर्वतीय नगर तथा मद्रास की ग्रीष्मकालीन राजधानी है। यहाँ की जनसंख्या सन् १९५१ ई० में ४१,३७० थी। यह नगर चारो ओर से ७,००० फुट तक ऊँची पहाड़ियों से घिरा हुआ है। यहाँ की कृत्रिम झील देखने योग्य है। दक्षिण भारत का मुख्य क्षय निवारक केंद्र, वनस्पति उद्यान तथा राजकीय सिनकोना केंद्र यहाँ हैं। यह स्थान आखेट, मछली मारने तथा मोटर चलाने की सुविधा के लिये प्रसिद्ध है। आसपास पर्याप्त मात्रा में चाय, कहवा, सिनकोना तथा यूकलिप्टस के बगीचे हैं। यहाँ का लारेंस मेमोरियल स्कूल बहुत प्रसिद्ध है। इसकी स्थापना सन् १८५८ ई० में की गई थी। यहाँ यूरोपीय सैनिकों के बच्चों को शिक्षा दी जाती रही है। [श्या० सु० श०]

उठान इन दिनों जब कभी किसी सड़क में मोड़ आता है तो उस मोड़ पर सड़क के फर्श को मोड़ की बाहरी ओर ऊँचा उठाकर सड़क को ढालू बनाया जाता है। इसी प्रकार रेल के मार्ग में भी मोड़ पर बाहरी पटरी भीतरी से थोड़ी ऊँची रखी जाती है। सड़क की सतह का, या रेल के मार्ग का, मोड़ पर इस प्रकार ढालू बनाया जाना उठान (सुपर एलिवेशन) कहलाता है।

मोड़ पर चलती हुई गाड़ी पर जो बल काम करते हैं वे हैं (१) अपकेंद्र बल (सेंट्रिफ़ुगल फ़ोर्स) जिसका बाहर की ओर क्षैतिज तथा त्रैज्य प्रभाव पड़ता है, (२) गाड़ी का भार, जो ऊर्ध्वाधर नीचे की ओर कार्य करता है और (३) सड़क के फर्श की प्रतिक्रिया जो ऊपर की ओर काम करती है। अपकेंद्र बल का संतुलन सड़क की सतह का घर्षण करता है और यदि इस घर्षण का बल यथेष्ट न हो तो गाड़ी बाहर की ओर फिसल जायगी। उठान इस फिसलने की प्रवृत्ति को रोकने में सहायता करती है।

उठान का प्रयोग रेल के मार्गों पर दीर्घकाल से किया जा रहा है, किंतु जहाँ तक सड़कों का प्रश्न है, पहले गाड़ियों की मंद गति के कारण इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। आजकल मोटर गाड़ियों की तीव्र गति के कारण सड़क की उठान एक आधुनिक विकास है।

आवश्यक उठान उस महत्तम गति पर निर्भर रहती है जिसपर गाड़ियों के चलने की आशा की जाती है, अर्थात् उनके कल्पित वेग पर। उठान निम्नलिखित सूत्र के अनुसार निश्चित की जाती है :

उ=वे²/१५ त्रि

$$\theta = V^2/15\, r.$$

यहाँ उ(θ)=उठान, वे(V)= मील प्रति घंटों में वेग और त्रि(r)=मोड़ की त्रिज्या, फुट में।

सही उठानवाली सड़क पर कल्पित गति से यात्रा करनेवाली गाड़ी सुगमता से तथा सुरक्षित ढंग पर, फिसलने की प्रवृत्ति के बिना, चलेगी। यदि कोई मोटरकार सड़क पर कल्पित गति से तेज चलेगी तो सड़क का घर्षण उसे फिसलने से बचाएगा। यदि कोई रेलगाड़ी कल्पित गति से तेज चलती है तो बगल की दाब को पहियों के बाहर निकले पार्श्व (फ्लैंजेज) सँभाल लेते हैं।

उठानवाला कोई भी मोड़ केवल उस गति से यात्रा करने के लिये सुखद होता है जिसके लिये सड़क बनाई जाती है। किंतु सड़क पर तो अनेक प्रकार की गाड़ियाँ, तीव्र तथा धीमी दोनों प्रकार की गतियों से चलती हैं। धीमी चाल से चलनेवाली गाड़ियों को, जैसे बैलगाड़ियों और अन्य जानवरों से खींची जानेवाली सवारियों को, जो कल्पित गति से कहीं कम गति पर चलती हैं, अधिक उठान से असुविधा होती है। इस कारण भारत में इंडियन रोड कांग्रेस के मानकों के अनुसार उठान की सीमा १५ में १ (अर्थात् १५ फुट चौड़ी सड़क में १ फुट) नियत कर दी गई है। दूसरे देशों में यद्यपि १० में १ तक की उठान की अनुमति होती है, तो भी साधारणत: उठान १५ में १ से अधिक नहीं होती।

सं०ग्रं०—एच० क्रिसवेल : हाईवे स्पाइरेल्स, सुपर-एलिवेशन ऐंड वर्टिकल कर्व्स, द्वितीय संस्करण (लंदन, १९४८); एच० सी० आइन्ज : हाईवे कर्व्स (चतुर्थ संस्करण, चैपमैन ऐंड हाल, लंदन); टी० एफ़ हिकरसन : हाईवे कर्व्स ऐंड अर्थवर्क (मैकग्रॉ हिल बुक कंपनी, न्यूयार्क); एल० आइ० ह्यूज : अमेरिकन हाईवे प्रैक्टिस, खंड १ (जान विली ऐंड संस, न्यूयार्क)। [ज० मि० त्रे०]

उडिपि नवीन मैसूर राज्य के कन्नड जिले में (पहले मद्रास प्रांत में) उडिपि तालुके का प्रमुख नगर है (स्थिति, १३° २१' उ० अक्षांश एवं ७४° ४५' पूर्वी देशांतर)। यहाँ भारतप्रसिद्ध कृष्णमंदिर है जिसके संस्थापक १३वीं सदी के प्रसिद्ध वैष्णव सुधारक श्री माधवाचार्य माने जाते हैं। १९०१ ई० में इस स्थान की जनसंख्या ८,०४१ थी जो १९३१ ई० में बढ़कर १८,८३३ हो गई। १९४१ ई० में कुछ कमी हो गई थी, परंतु १९५१ ई० की जनगणना में जनसंख्या २०,४५१ हो गई। यहाँ आठ प्राचीन मठ हैं। परियाय नामक प्रसिद्ध पर्व पर प्रत्येक दूसरे वर्ष जनवरी में यहाँ बड़ी धूमधाम रहती है। [का० ना० सिं०]

उड़िया भाषा तथा साहित्य ओड़िसा की भाषा और जाति दोनों ही अर्थों में 'उड़िया' का प्रयोग होता है, किंतु वास्तव में ठीक रूप 'ओड़िया' होना चाहिए।

इसकी व्युत्पत्ति का विकासक्रम कुछ विद्वान् इस प्रकार मानते हैं : ओड्रविषय, ओड्रविष, ओडिष, आड़िषा या ओड़िशा। सबसे पहले भरत के नाट्यशास्त्र में उड्रविभाषा का उल्लेख मिलता है—'शबराभीरचांडाल सचलद्राविडोड्रजा:। हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता:।'

भाषातात्विक दृष्टि से उड़िया भाषा में आर्य, द्राविड़ और मुंडारी भाषाओं के संमिश्रित रूपों का पता चलता है, किंतु आज की उड़िया भाषा का मुख्य आधार भारतीय आर्यभाषा है। साथ ही साथ इसमें संथाली, मुंडारी, शबरी, आदि मुंडारी वर्ग की भाषाओं के और ओरॉव, कुई (कंधी) तेलुगु आदि द्राविड़ वर्ग की भाषाओं के लक्षण भी पाए जाते हैं।

इसकी लिपि का विकास भी नागरी लिपि के समान ही ब्राह्मी लिपि से हुआ है। अंतर केवल इतना है कि नागरी लिपि की ऊपर की सीधी रेखा उड़िया लिपि में वर्तुल हो जाती है और लिपि के मुख्य अंश की अपेक्षा अधिक जगह घेर लेती है। विद्वानों का कहना है कि उड़िया में पहले तालपत्र पर लौह लेखनी से लिखने की रीति प्रचलित थी और सीधी रेखा खींचने में तालपत्र के कट जाने का डर था। अत: सीधी रेखा के बदले वर्तुल रेखा दी जाने लगी और उड़िया लिपि का क्रमश: आधुनिक रूप आने लगा।

उड़िया साहित्य को काल और प्रकृति के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से बाँटा जा सकता है : १. आदियुग (१०५०-१५५०), २. मध्ययुग (१५५०-१८५०), (क) पूर्व मध्ययुग—भक्तियुग या धार्मिक युग या पंचसखा युग, (ख) उत्तर मध्ययुग-रीति युग या उपेंद्रभंज युग, ३. आधुनिक युग या स्वातंत्र्य काल; (१८५० से वर्तमान समय तक)

१. आदियुग—

आदियुग में सारलापूर्व साहित्य भी अंतर्भुक्त है, जिसमें 'बौद्धगान ओ दोहा', गोरखनाथ का 'सप्तांगयोगधारणम्', 'मादलापांजि', 'रुद्रसुधानिधि' तथा 'कलाश चौतिशा' आते हैं। 'बौद्धगान ओ दोहा' भाषादृष्टि, भावधारा तथा ऐतिहासिकता के कारण उड़ीसा से घनिष्ट रूप में संबंधित है। 'सप्तांगयोगधारणम्' के गोरखनाथकृत होने में संदेह है। 'मादलापांजि' जगन्नाथ मंदिर में सुरक्षित है तथा इसमें उड़ीसा के राजवंश और जगन्नाथ मंदिर के नियोगों का इतिहास लिपिबद्ध है। किंवदंती के अनुसार गंगदेश के प्रथम राजा चोड गंगदेव ने १०४२ ई० (कन्या २४ दिन, शुक्ल दशमी दशहरा के दिन) 'मादलापांजि' का लेखन प्रारंभ किया था, किंतु

दूसरा मत है कि यह मुगलकाल में १६वीं शताब्दी में रामचंद्रदेव के राजत्व काल में लिखवाई गई थी। 'रुद्रसुधानिधि' का पूर्ण रूप प्राप्त नहीं है और जो प्राप्त है उसका पूरा अंश छपा नहीं है। यह शैव ग्रंथ एक अवधूत स्वामी द्वारा लिखा गया है। इसमें एक योगभ्रष्ट योगी का वृत्तांत है। इसी प्रकार वत्सादास का 'कलाश चौतिशा' भी सारलापूर्व कहलाता है। इसमें शिवजी की बरयात्रा और विवाह का हास्यरस में वर्णन है।

वस्तुतः सारलादास ही उड़िया के प्रथम जातीय कवि और उड़िया साहित्य के आदिकाल के प्रतिनिधि हैं। कटक जिले की झंकड़वासिनी देवी चंडी सारला के वरप्रसाद से कवित्व प्राप्त करने के कारण सिद्धेश्वर पारिडा ने अपने को 'शूद्रमुनि' सारलादास के नाम से प्रचारित किया। इनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं: १. 'विलंका रामायण', २. महाभारत और ३. चंडीपुराण। कुछ लोग इन्हें कपिलेंद्रदेव (१४३५–१४३७) का तथा कुछ लोग नरसिंहदेव (१३२८–१३५५ ई०) का समकालीन मानते हैं।

इस युग का अर्जुनदास लिखित 'रामविभा' नामक एक काव्य ग्रंथ भी मिलता है तथा चैतन्यदास रचित 'विष्णुगर्भ पुराण' और 'निर्गुणमाहात्म्य' अलखपंथी या निर्गुण संप्रदाय के दो ग्रंथ भी पाए जाते हैं।

२. **मध्ययुग** के दो विभाग हैं—

(क) पूर्वमध्ययुग अथवा भक्तियुग तथा (ख) उत्तरमध्ययुग अथवा रीतियुग।

पूर्वमध्ययुग में पंचसखाओं के साहित्य की प्रधानता है। ये पंचसखा हैं—बलरामदास, जगन्नाथदास, यशोवंतदास, अनंतदास और अच्युतानंददास। चैतन्यदास के साथ सख्य स्थापित करने के कारण ये पंचसखा कहलाए। वे पंच शाखा भी कहलाते हैं। इनके उपास्य देवता थे पुरी के जगन्नाथ, जिनकी उपासना शून्य और कृष्ण के रूप में ज्ञानमिश्रा योगप्रधान भक्ति तथा कायसाधना द्वारा की गई। पंचसखाओं में से प्रत्येक ने अनेक ग्रंथ लिखे, जिनमें से कुछ तो मुद्रित हैं, कुछ अमुद्रित और कुछ अप्राप्य भी।

१६वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में दिवाकरदास ने 'जगन्नाथचरितामृत' के नाम से पंचसखाओं के जगन्नाथदास की जीवनी लिखी तथा ईश्वरदास ने चैतन्यभागवत लिखा। सालवेग नामक एक मुसलमान भक्तकवि के भी भक्तिरसात्मक अनेक पद प्राप्त हैं।

इसी युग में शिशुशंकरदास, कपिलेश्वरदास, हरिहरदास, देवदुर्लभदास तथा प्रतापराय की क्रमशः 'उषाभिलाष', 'कपटकेलि,' 'चंद्रावलिविलास,' 'रहस्यमंजरी' और 'शशिसेणा' नामक कृतियाँ भी उपलब्ध हैं।

रीतियुग में पौराणिक और काल्पनिक दोनों प्रकार के काव्य हैं। नायिकाओं में सीता और राधा का नखशिख वर्णन किया गया है। इस युग का काव्य शब्दालंकार, क्लिष्ट शब्दावली और शृंगाररस से पूर्ण है। काव्यलक्षण, नायक-नायिका-भेद आदि को विशेष महत्व दिया गया। उपेंद्रभंज ने इसको पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया, अतः इस युग का नाम भंजयुग पड़ गया, किंतु यह काल इसके पहले शुरू हो गया था। उपेंद्रभंज के पूर्व के कवि निम्नांकित हैं:

धनंजयभंज—ये उपेंद्रभंज के पितामह और घुमसर के राजा थे। इनकी कृतियाँ हैं: रघुनाथविलास काव्य, त्रिपुरसुंदरी, मदनमंजरी, अनंगरेखा, इच्छावती, रत्नपरीक्षा, अश्व और गजपरीक्षा आदि। कुछ लक्षणग्रंथ और चौपदीभूषण आदि संगीत ग्रंथ भी हैं।

दीनकृष्णदास (१६५१–१७०३)—व्यक्तित्व के साथ साथ इनका काव्य भी उच्च कोटि का था। 'रसकल्लोल', 'नामरत्नगीता', 'रसविनोद', 'नावकेलि', 'अलंकारकेलि', 'आर्तत्राण', 'चौतिशा' आदि इनकी अनेक कृतियाँ प्राप्य हैं।

वृंदावती दासी, भूपति पंडित तथा लोकनाथ विद्यालंकार की क्रमशः 'पूर्णतम चंद्रोदय', 'प्रेमपंचामृत 'तथा' एक चौतिशा' और 'सर्वांगसुंदरी', 'पद्मावती परिणय', 'चित्रकला', 'रसकला' और 'वृंदावन-विहार-काव्य', नाम की रीतिकालीन काव्यलक्षणों से युक्त कृतियाँ मिलती हैं।

उपेंद्रभंज (१६८५–१७२५)—ये रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इनके कारण ही रीतियुग को भंजयुग भी कहा जाता है। शब्दवैलक्षण्य, चित्रकाव्य एवं छंद, अलंकार आदि के ये पूर्ण ज्ञाता थे। इनकी अनेक प्रतिभाप्रगल्भ कृतियों ने उड़िया साहित्य में इनको सर्वश्रेष्ठ पद पर प्रतिष्ठित किया है। 'वैदहीशविलास', 'कलाकउतुक', 'सुभद्रापरिणय', 'ब्रजलीला', 'कुंजलीला' आदि पौराणिक काव्यों के अतिरिक्त लावण्यवती, कोटि-ब्रह्मांड-सुंदरी, रसिकहारावली आदि अनेक काल्पनिक काव्यग्रंथ भी हैं। इन काव्यों में रीतिकाल के समस्त लक्षणों का संपूर्ण विकास हुआ है। कहीं कहीं सीमा का अतिक्रमण कर देने के कारण अश्लीलता भी आ गई है। इनका चित्रकाव्य 'बंधोदय', चित्रकाव्य का अच्छा उदाहरण है। 'गीताभिधान' नाम से इनका एक कोशग्रंथ भी मिलता है जिसमें कांत, खांत आदि अंत्य अक्षरों का नियम पालित है। 'छंदभूषण' तथा 'षड्ऋतु' आदि अनेक कृतियाँ और भी पाई जाती हैं।

भंजकालीन साहित्य के बाद उड़िया साहित्य में चैतन्य प्रभावित गौडीय वैष्णव धर्म और रीतिकालीन लक्षण, दोनों का समन्वय देखने में आता है। इस काल के काव्य प्रायः राधाकृष्ण-प्रेम-परक हैं और इनमें कहीं कहीं अश्लीलता भी आ गई है। इनमें प्रधान हैं: सच्चिदानंद कविसूर्य (साधुचरणदास) भक्तचरणदास, अभिमन्युसामंत सिंहार, गोपालकृष्ण पट्टनायक, यदुमणि महापात्र तथा बलदेव कविसूर्य आदि।

इस क्रम में प्रधानतया और दो व्यक्ति पाए जाते हैं: (१) ब्रजनाथ बडजेना और (२) भीमभोई। ब्रजनाथ बडजेना ने 'गुंडिचाविजे' नामक एक खोरता (हिंदी) काव्य भी लिखा था। उनके दो महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं: 'समरतरंग' और 'चतुरविनोद'। भीमभोई जन्मांध थे और जाति के कंध (आदिवासी) थे। वे निरक्षर थे, लेकिन उनके रचित 'स्तुतिचिंतामणि', 'ब्रह्मनिरूपण गीता' और अनेक भजन पाए जाते हैं। उड़िया में वे अत्यंत प्रख्यात हैं।

३. **आधुनिक युग** यद्यपि ब्रिटिश काल से प्रारंभ होता है, किंतु अंग्रेजी का मोह होने के साथ ही साथ प्राचीन प्रांतीय साहित्य और संस्कृत से साहित्य पूरी तरह अलग नहीं हुआ। फारसी और हिंदी का प्रभाव भी थोड़ा बहुत मिलता है। इस काल के प्रधान कवि राधानाथ राय हैं। ये स्कूल इंस्पेक्टर थे। इनपर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। इनके लिखे 'पार्वती', 'नंदिकेश्वरी', 'ययातिकेशरी' आदि ऐतिहासिक काव्य हैं। 'महामात्रा' प्रथम अमित्राक्षर छंद में लिखित महाकाव्य है, जिसपर मिल्टन का प्रभाव है। इन्होंने मेघदूत, वेणीसंहार और तुलसी पद्यावली का अनुवाद भी किया था। इनकी अनेक फुटकल रचनाएँ भी हैं। आधुनिक युग को कुछ लोग राधानाथ युग भी कहते हैं।

बंगाल से राजेंद्रलाल मित्र द्वारा चलनेवाले 'उड़िया एक स्वतंत्र भाषा नहीं है' आंदोलन का करारा जवाब देनेवालों में उड़िया के उपन्याससम्राट् फकीरमोहन प्रमुख हैं। गद्य उपन्यास में ये बेजोड़ हैं। 'लछमा', 'मामु', 'छमाण आठगुंठ' आदि उनके उपन्यास हैं। 'गल्पस्वल्प' नाम से दो भागों में उनके गल्प भी हैं। उनकी कृति 'प्रायश्चित्त' का हिंदी में अनुवाद भी हुआ है। पद्य में 'उत्कलभ्रमण', 'पुष्पमाला' आदि अनेक ग्रंथ हैं। उन्होंने छांदोग्यउपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि का पद्यानुवाद भी किया है।

इस काल के एक और प्रधान कवि मधुसूदन राय हैं। पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने भक्तिपरक कविताएँ भी लिखी हैं। इनपर रवींद्रनाथ का काफी प्रभाव है।

इस काल में काव्य, उपन्यास और गल्प के समान नाटकों पर भी लोगों की दृष्टि पड़ी। नाटककारों में प्रधान रामशंकर राय हैं। उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक गीतिनाट्य, प्रहसन और यात्रा आदि भिन्न भिन्न विषयों पर रचनाएँ की हैं। 'कांचिकावेरी', 'वनमाला', 'कंसवध', 'युगधर्म' आदि इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

राधानाथ युग के अन्य प्रसिद्ध कवि हैं गंगाधर मेहेर, पल्लीकवि नंदकिशोरवल, (प्राबंधिक और संपादक) विश्वनाथ कर, व्यंगकार गोपालचंद्र प्रहराज आदि।

इसके उपरांत गोपबंधुदास ने सत्यवादी युग का प्रवर्तन किया। इनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ 'धर्मपद', 'बंदीर आत्मकथा', 'कारा कविता' आदि हैं। नीलकंठ दास तथा गोदावरीश मिश्र आदि इस युग के प्रधान साहित्यिक हैं। पद्मचरण पट्टनायक और कवयित्री कुंतलाकुमारी सावत छायावादी साहित्यकार और लक्ष्मीकांत महापात्र हास्यरसिक हैं।

सत्यवादी युग के बाद रोमांटिक युग आता है। इसके प्रधान कवि मायाधर मानसिंह हैं। उनके 'धूप', 'हेमशस्य', 'हेमपुष्प' आदि प्रधान ग्रंथ हैं।

कालिंदीचरण पाणिग्राही, बैकुंठनाथ पट्टनायक, हरिहर महापात्र, शरच्चंद्र मुखर्जी और अन्नदाशंकर राय ने 'सबुज कवित्व' से सबुज युग का श्रीगणेश किया है। 'बासंती' उपन्यास इनके संमिलित लेखन का फल है।

इसके बाद प्रगतियुग या अत्याधुनिक युग आता है। सच्चिदानंद राउत राय इस युग के प्रसिद्ध लेखक हैं। इनकी रचनाओं में 'पल्लीचित्र', 'पांडुलिपि' आदि प्रधान हैं। आधुनिक समय में औपन्यासिक गोपीनाथ महांति, कान्हुचरण महांति, नित्यानंद महापात्र, कवि राधामोहन गडनायक, क्षुद्रगाल्पिक, गोदावरीश महापात्र, महापात्र नीलमणि साहु आदि प्रसिद्ध हैं। [प्र० प्र०]

उड़ीसा भारत के सोलह राज्यों में से एक राज्य है। यह भारत के पूर्वी तट पर स्थित है। इसके उत्तर में बिहार, दक्षिण में आंध्र, पूर्व में पश्चिम बंगाल तथा पश्चिम म मध्यप्रदेश की सीमाएँ पड़ती हैं। इसके दक्षिण-पूर्व में बंगाल की खाड़ी है। इसकी स्थिति अक्षांश १७° ५०′ एवं २२° ३४′ उत्तर तथा देशांतर ८१° २७′ एवं ८०° २९′ पूर्व के बीच है। राज्य का संपूर्ण क्षेत्र उष्ण कटिबंध में पड़ता है, इसका उत्तरी छोर कर्क रेखा से केवल एक अंश ही कम है। उड़ीसा का वर्तमान क्षेत्रफल ६०,१३६ वर्ग मील है तथा सन् १९५१ ई० के जनगणनानुसार राज्य की जनसंख्या १,४६,४५,९४६ थी। उड़ीसा की नई राजधानी भुवनेश्वर है, जिसका निर्माणकार्य चल रहा है। इसके पहले राजधानी कटक थी। राज्य की भाषा उड़िया है तथा शिक्षितों की संख्या केवल १५.८ प्रति शत है।

भौगोलिक दृष्टि से उड़ीसा को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं उत्तरी पठार, पूर्वी घाट, मध्य क्षेत्र तथा तटीय मैदानी प्रदेश। प्रत्येक की अपनी अपनी विशेषताएँ हैं।

उत्तरी प्रदेश में मयूरभंज, क्योंझर, सुंदरगढ़ तथा ढेनकानाल (केवल उसका पाललाहरा तहसील) ये जिले पड़ते हैं। यह एक ऊँचा नीचा प्रदेश है, साधारणतः इसकी ढाल उत्तर से दक्षिण की ओर है। यह ऊँची नीची पहाड़ियों से कई छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त है, जहाँ छोटी छोटी सैकड़ों धाराएँ नदियों तक बहती हैं। मैदान से एकाएक खड़ी पहाड़ियों का पाया जाना साधारण बात है। इस प्रदेश की सबसे ऊँची चोटी (मनकादंचा ३,६३९ फुट) सुंदरगढ़ जिले के बोनाई तहसील में है। ये पहाड़ियाँ मध्य भारत की पर्वतशृंखलाओं के बढ़े हुए भाग हैं। इनकी ढालू भूमि घने, उष्ण कटिबंधीय जंगलों से ढकी हुई है। इन पहाड़ियों की तलहटी में बड़े बड़े मैदान हैं जहाँ धान से लेकर मोटे अन्न तक की कृषि होती है।

पूर्वी घाट भी उच्च पठारी प्रदेश है, जहाँ उड़ीसा की सबसे ऊँची चोटियाँ स्थित हैं। यहाँ पठार पर्याप्त बड़े क्षेत्र में फैला हुआ है, जो पहाड़ियों तक जंगलों से घिरा हुआ है। देवमाली पहाड़ी, जिसकी दो जुड़वाँ चोटियाँ (५,४८६ फुट) उड़ीसा की सबसे ऊँची चोटियाँ हैं, कोरापुट नगर से स्पष्ट देखी जा सकती हैं। पूर्वी घाट की ढाल घने जंगलों से आच्छादित है। इस प्रदेश में कोरापुट, कालाहंडी, गंजाम तथा फुलबानी जिले तथा महानदी के दाहिने तट की ओर का क्षेत्र आता है।

मध्यक्षेत्र उत्तरी पठार तथा पूर्वी घाट के बीच में पड़ता है जिसमें बोलांगीर, संबलपुर तथा ढेनकानाल जिले पड़ते हैं। इस प्रदेश में भी छोटी छोटी पहाड़ियाँ इधर उधर छिटकी हुई हैं, परंतु राज्य के कुछ सबसे उपजाऊ क्षेत्र भी इसी प्रदेश में पड़ते हैं, जैसे बरगढ़ मैदान। इस प्रदेश में बहने
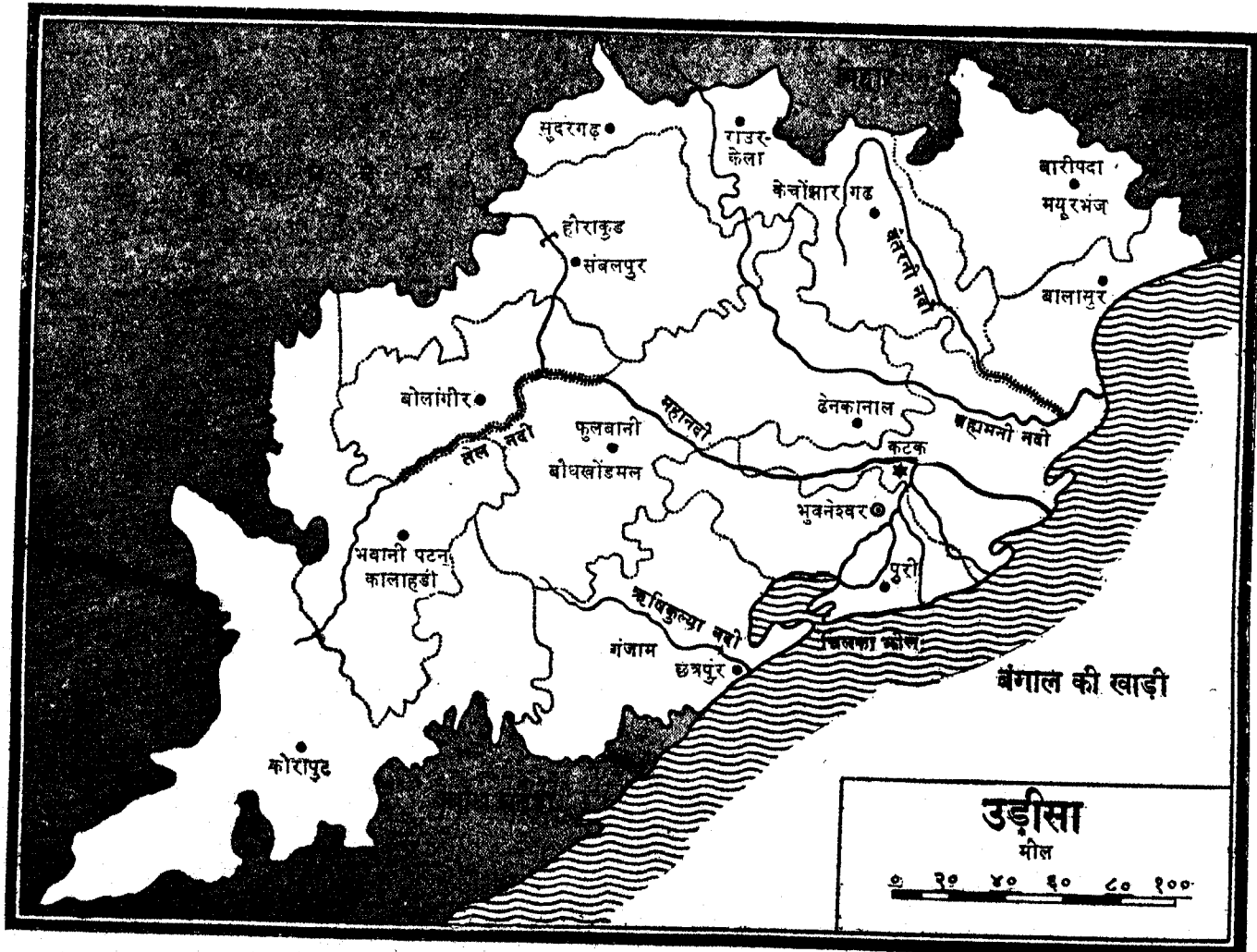
वाली मुख्य नदियाँ महानदी तथा उसकी सहायक हैं। ग्रामों के आस पास ताड़ के कुंजों का पाया जाना यहाँ की विशेषता है।

तटीय मैदान सामुद्रिक जलवायु का क्षेत्र है, जो पश्चिम बंगाल तथा मद्रास राज्य के बीच स्थित है। इस प्रदेश का अधिकांश भाग उड़ीसा की नदियों द्वारा बिछाई गई दोमट मिट्टी से बना डेल्टा की तरह का मैदान है। यह क्षेत्र राज्य का सबसे उपजाऊ एवं घनी आबादी का क्षेत्र है, जिसमें ग्राम, नारियल तथा ताड़ के घने कुंज और धान के विस्तृत खेत मिलते हैं। इन खेतों में नदियों तथा नहरों द्वारा सिंचाई का पूरा प्रबंध है। तट के समीप की भूपट्टी दलदली है, तथा तट के किनारे किनारे बालू के टीले अथवा ढूहे अच्छी तरह देखे जा सकते हैं। डेल्टा के मध्य का भाग, प्राय: ३,००० वर्ग मील का क्षेत्र, प्रति वर्ष बाढ़ का शिकार होता रहता है।

नदियाँ—राज्य की मुख्य नदियाँ महानदी तथा ब्राह्मणी हैं, जो उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पूर्व प्राय: एक दूसरे के समांतर बहती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कई छोटी छोटी नदियाँ हैं, जिनमें सालंदी, बूराबलांग तथा स्वर्ण-रेखा राज्य के उत्तरी भाग में बहती हैं और ऋषिकुल्या, वंशधारा, नागवल्ली, इंद्रावती, कोलाब तथा मचकुंद दक्षिण में गंजाम तथा कोरापुट जिलों में बहती हैं। महानदी सबसे बड़ी नदी है, जिसकी लंबाई ५३३ मील है। इसका आधा भाग मध्य प्रदेश में पड़ता है। इस नदी की द्रोणी का क्षेत्रफल ५१,००० वर्ग मील है तथा वर्षाकाल के मध्य में पानी का बहाव १,६०,००० घन फुट प्रति सेकंड रहता है। कुछ स्थलों पर इस नदी का पाट एक मील से भी बड़ा हो जाता है। यह बंगाल की खाड़ी में कई शाखाएँ बनाती हुई फाल्सपाइंट पर गिरती है। उड़ीसा की तीन प्रमुख नदियों के एक साथ मिल जाने के कारण डेल्टा प्रदेश में शाखाओं तथा धाराओं का एक जाल सा बिछा हुआ है।

भूविज्ञान—वैज्ञानिक दृष्टि से उड़ीसा राज्य के बारे में बहुत कम जानकारी है। प्राक् पुरातन युग में उड़ीसा का वह भाग जहाँ आज पूर्वी घाट प्रदेश है, नीचा तथा समतल मैदान था और वहाँ महानदी तथा ब्राह्मणी नदियाँ पूर्व की ओर बहती थीं। संपूर्ण प्रदेश चौरस अथवा कुछ ऊँचा नीचा था जिसमें यत्रतत्र पहाड़ियाँ खड़ी थीं। दूसरे चरण में गोंडवाना परतों का जमाव हुआ जो छोटा नागपुर से क्योंझर, फूलबानी से दक्षिण गंजाम तथा कोरापुट से अंत में मद्रास तक, एक पेटी के उठने का कारण बनीं। इस उठे हुए प्रदेश के पूर्व में एक असमतल क्षेत्र है, जिसके बीच बीच में पहाड़ियाँ हैं। यह क्षेत्र तट से कुछ मील हटकर तट के समांतर है। इस क्षेत्र ने भी कई बार थोड़ा थोड़ा उठकर अपनी यह ऊँचाई प्राप्त की है। तटीय प्रदेश का विकास भी केवल नदियों द्वारा डेल्टा बनाने की क्रिया से ही नहीं, बल्कि स्वत: ऊपर उठने के कारण भी हुआ है। चिल्का झील के आस पास कुछ सीप, घोंघे इत्यादि के अवशेष पाए गए हैं, जिससे इसके कभी ऊँचे रहने का प्रमाण मिलता है।

मिट्टी—उड़ीसा की मिट्टी के विभिन्न प्रकारों की पूरी छानबीन नहीं की गई है। उत्तरी पठारी क्षेत्र में लाल मिट्टी पाई जाती है। इस क्षेत्र में कणाश्म (ग्रैनाइट) का बाहुल्य है, जिससे मिट्टी में बालू का अंश अधिक रहता है, तथा चिकनी मिट्टी (क्ले) केवल इतनी ही है जो जल को कुछ रोक सके। पूर्वी घाट के क्षेत्र की मिट्टी अधिकतर लेटराइट है। लौह-आक्साइड का अधिक प्रति शत होना इस मिट्टी का मुख्य लक्षण है। लेटराइट मिट्टी का जमाव केवल कुछ इंच नीचे तक ही सीमित है, परंतु कहीं कहीं कई फुट तक भी है, विशेषकर उच्च स्थानों पर। मध्य पठार की मिट्टी कई प्रकार की है, जैसे कुछ तो चट्टानों के समीप ही उन्हीं से निर्मित तथा दूसरी जो पर्याप्त दूरी से हवा एवं पानी द्वारा लाई गई है। काली, रूईवाली मिट्टी गंजाम जिले के उत्तर-पूर्वी भाग में और महानदी के दोनों किनारों पर पाई जाती है। गर्मी में इसमें दरारें पड़ जाती हैं तथा वर्षाकाल में यह चिपचिपी हो जाती है। यह लाल मिट्टी से अधिक उर्वरा है। मध्य क्षेत्र के अन्य भागों में कई प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं। तटीय प्रदेश की मिट्टी दोमट स्वभाव की है।

जलवायु—उड़ीसा में उष्णप्रदेशीय समुद्री जलवायु है। मोटे तौर पर उड़ीसा में तीन ऋतुएँ कही जा सकती हैं, शरद, ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु। शरद् ऋतु नवंबर मास से फरवरी मास तक रहती है, ग्रीष्म ऋतु मार्च से प्रारंभ होती है और वर्षा के प्रारंभ अर्थात् जून मास में शेष होती है। वर्षा ऋतु अक्टूबर मास तक रहती है। वर्षा उत्तरी जिलों में प्राय: ६० इंच होती है, जब कि दक्षिणी जिलों में केवल ५० इंच तक ही होती है। सन् १९५६ ई० में कुछ स्थानों पर १०० इंच तक वर्षा हुई थी।

उड़ीसा की जनसंख्या का विश्लेषण बड़ा मनोरंजक है। सन् १९५१ ई० के जनगणनानुसार यहाँ की कुल जनसंख्या १,४६,४५,९४६ थी, जिसमें पुरुषों की संख्या केवल ७२,४२,८९२ रही और स्त्रियों की संख्या ७४,०३,०५४ थी। राज्य में जनसंख्या का घनत्व प्रति वर्ग मील २४४ है, जब कि संपूर्ण भारत का औसत घनत्व ३१२ है।

उड़ीसा विशेष रूप से ग्रामीण राज्य है। इसमें केवल एक महानगर कटक तथा ३८ साधारण नगर हैं, जब कि ग्रामों की संख्या ५०,९८४ है। इस प्रकार नगर की समस्त जनसंख्या केवल ४.०६ प्रति शत है। राज्य में स्थित मुख्य नगर कटक (जनसंख्या १,०२,५०५), ब्रह्मपुर (६२,३४३) तथा पुरी (४९,०५७) हैं।

खनिज—उड़ीसा विस्तृत रूप से लौह अयस्क का भांडार है। यहाँ के लौह अयस्क में लोहे की मात्रा ६० प्रति शत से अधिक है। लौह अवसाद की दृष्टि से राज्य में सुंदरगढ़, क्योंझर तथा मयूरभंज जिले प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त हाल की खोजों से कटक तथा मयूरभंज जिलों में अन्य अवसादों का पता चला है, जिनमें पर्याप्त मात्रा में लौह अयस्क हैं। उड़ीसा भारत में मैंगनीज का २०% उत्पादन करता है, जो क्योंझर, सुंदरगढ़, बोलाँगीर तथा कालाहाँडी जिलों में उपलब्ध है। क्रोमाइट के विस्तृत अवसाद भी क्योंझर, ढनकानाल तथा कटक जिलों में हैं। तालचेर जिले में पर्याप्त मात्रा में कोयले का भांडार है। गंगपुर में डोलोमाइट (कैल्सियम-मैंगनीसियम कार्बोनेट) और चूने का पत्थर (लाइम स्टोन) प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं।

राज्य में प्राय: २४,००० वर्ग मील में वन फैले हुए हैं; अर्थात् राज्य के पूरे भूक्षेत्र का ४०% भाग वन के अंतर्गत है। उड़ीसा में पाए जानेवाले विभिन्न प्रकार के काष्ठों में व्यापारिक दृष्टि से साखू, पिसाल, साघन, रोज-वुड, गंबर, बंधन तथा हल्दू मुख्य हैं। वैसे केंदू की पत्तियों की बाहर बड़ी माँग रहती है, क्योंकि वे बीड़ी बनाने के काम आती हैं। बाँस की भी भरमार है जो बहुत उपयोगी होता है। इससे राज्य में कागज बनाने की मिलें खुली हैं। वन से प्राप्त अन्य उपयोगी वस्तुओं में सर्पगंधा, जिससे पागलपन की औषधि बनती है, लाक्ष (लाह) इत्यादि हैं।

विशाल उद्योग धंधों की दृष्टि से उड़ीसा पिछड़ा हुआ है। महानदी को बाँधकर उससे उत्पन्न की गई विद्युत् तथा उसके जल का उपयोग किया जायगा। राज्य के मुख्य उद्योग धंधों में हाल ही में प्रारंभ किया गया राउरकेला स्थित लोहे तथा इस्पात का विशाल कारखाना है जहाँ उत्पादन प्रारंभ हो गया है। इसके अतिरिक्त कागज, चीनी तथा सीमेंट बनाने के कारखाने हैं। यहाँ का करघा उद्योग सबसे मुख्य धंधा है जिसमें पर्याप्त लोग लगे हैं। यहाँ पीतल तथा अन्य धातुओं के गहने बनाने एवं खरादने इत्यादि का काम उच्च कोटि का होता है। हाथीदाँत तथा सींग पर कारीगरी करना भी यहाँ का एक अच्छा कुटीरउद्योग है। सींग से प्राय: ३० प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती हैं।

ग्रामीण जीवन की अधिकता होने के कारण यहाँ के आवागमन के साधन अच्छे नहीं हैं। संपूर्ण राज्य में केवल १२,७४२ मील लंबी सड़कें और केवल ७८३ मील लंबी रेलवे लाइनें हैं।

आधुनिक उड़ीसा की औद्योगिक योजनाओं में हीराकुड तथा राउरकेला प्रमुख हैं। हीराकुड बाँध के बन जाने से राज्य की भयानक महानदी पर नियंत्रण पा लिया जायगा, बाढ़ की रोक थाम होगी और १,४०,००० एकड़ भूमि की सिंचाई भी होगी। हीराकुड राज्य की औद्योगिक उन्नति का केंद्रबिंदु है। राउरकेला स्थित इस्पात के कारखाने में भी उत्पादन प्रारंभ हो गया है। बाँध के समीप ही ऐल्यूमिनियम का एक कारखाना खोला जा रहा है।

भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् उड़ीसा की निम्नलिखित देशी रियासतें उड़ीसा राज्य में मिला दी गईं—पटना, अलीगढ़, अथमालिक, खाइपाड़ा, रेराखोल, रनपुर, बमरा, दसपाला, हिंडोल, नरसिंगपुर, नयागढ़, नीलगिरि, पालाहारा, सोनपुर, तालचेर तथा टिगिरिया।

उड़ीसा के मंदिर (देखें पृ० ५३)
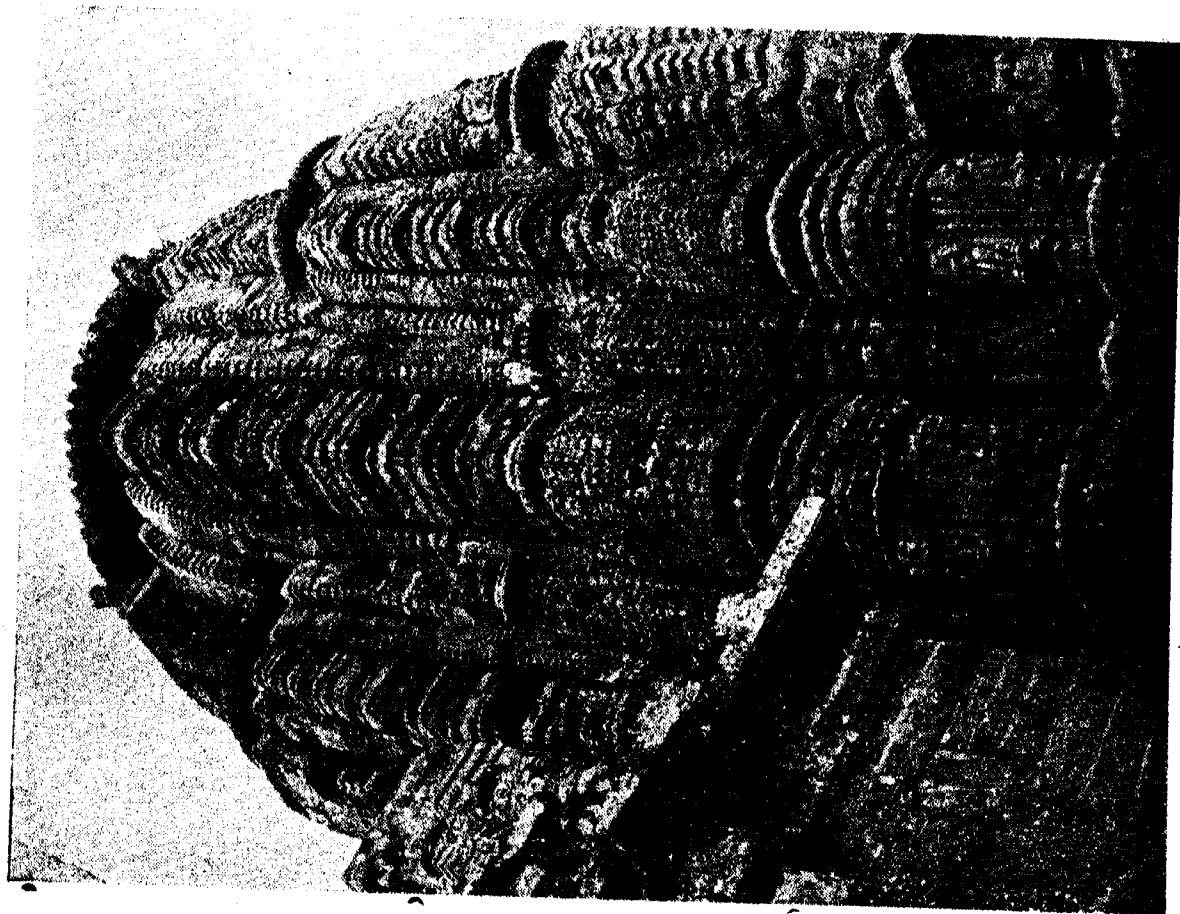
अपने सौंदर्य के लिये स्तुत्य भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)
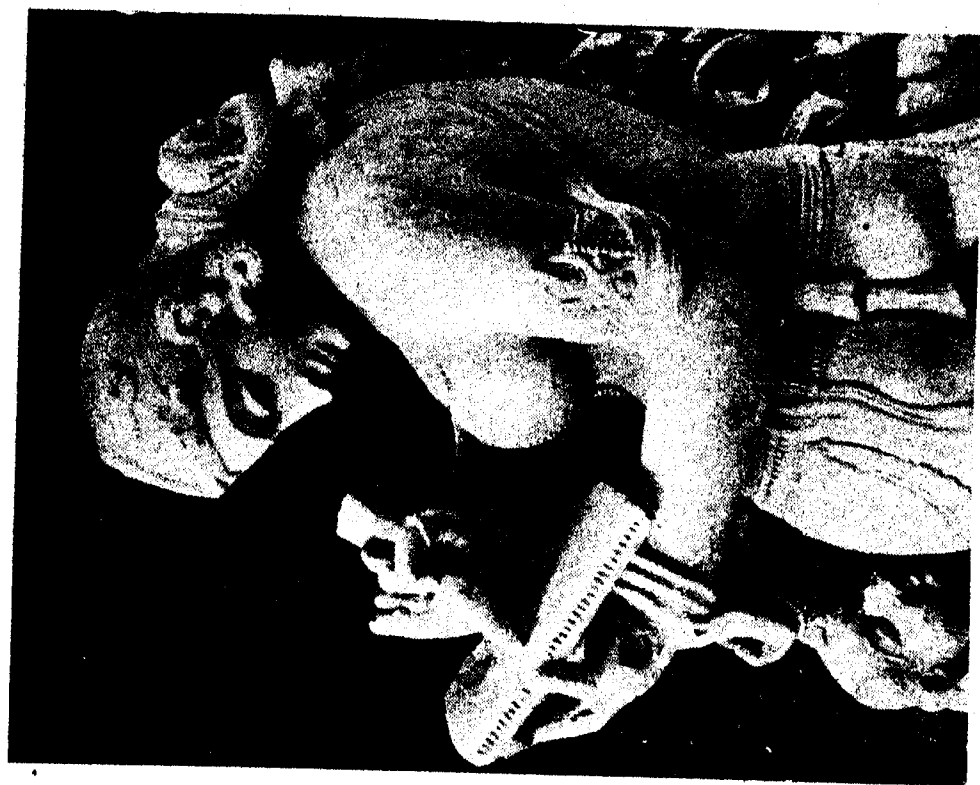
अप्रतिम शिल्प का आदर्श—'पत्रलेखन'
उत्तर मध्य कालीन मूर्तिकला
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)

फलक ७

उड़ीसा के मंदिर (देखें पृष्ठ ५३)
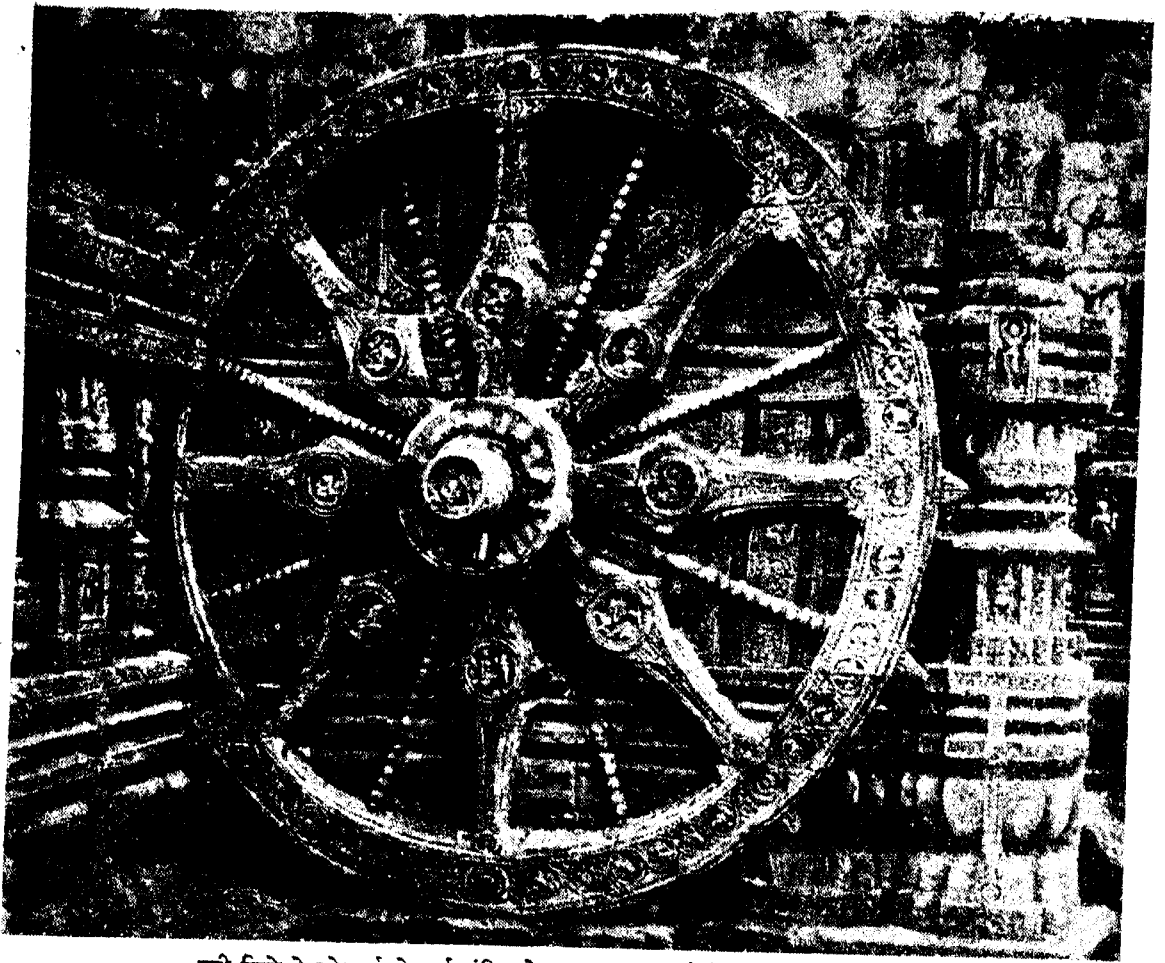
पुरी जिले के कोणार्क के सूर्य मंदिर के एक चक्र का फोटो (१२४०–८० ई०)
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार, के सौजन्य से)
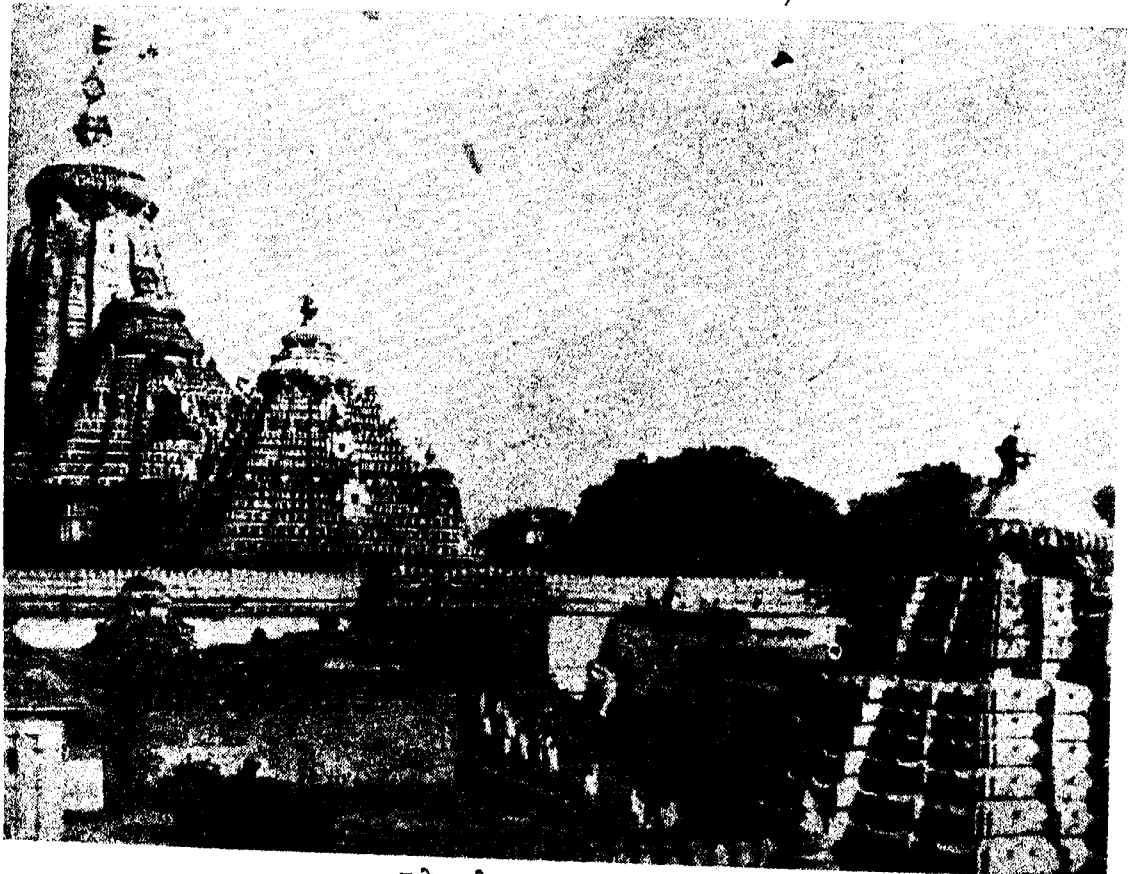
पुरी, उड़ीसा का जगन्नाथ मंदिर
(प्रेस सूचना केंद्र, भारत सरकार के, सौजन्य से)

संक्षिप्त इतिहास—उड़ीसा अथवा उत्कल का वर्णन उत्तरकालीन दिक साहित्य से ही चला आता है। अशोक के आक्रमण का जिस वीरता और बलिदान से कलिंगवासियों ने सामना किया था वह उनके शालीन इतिहास का गौरव है। उसी से प्रेरित होकर अशोक ने हिंसा त्याग बौद्ध-धर्म में दीक्षा ली थी। प्राचीन कलिंगवासी ईसा से पहले जैन राजा खारवेल के समय से ही सामुद्रिक यात्राओं तथा सुदूर देशों में उपनिवेश और विशाल साम्राज्य स्थापित करने में अग्रगण्य रहे हैं। वैभव के उन दिनों में तेजस्वी कलिंग राजाओं का विशाल साम्राज्य दक्षिण में गोदावरी से लेकर उत्तर में गंगा तक फैला हुआ था। परंतु सन् १५६८ से १७५१ ई० तक उड़ीसा मुसलमानों के अधीन मुगल साम्राज्य का एक अंग था। सन् १८०३ ई० में अंग्रेजों द्वारा विजित होने के पूर्व आधी शताब्दी तक यह भूभाग मराठा शक्तियों से प्रभावित होता रहा।

अंग्रेजों द्वारा विजित होने के बाद यह बंगाल प्रांत में मिला लिया गया। परंतु उड़ीसावासी, जिन्हें अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता तथा भाषा पर गर्व रहा है,सदैव ही राजनीतिक कारणों के लिये उड़ीसा प्रदेश को विभाजित करने का विरोध करते रहे हैं। इसके फलस्वरूप सन् १९३६ ई० के प्रथम अप्रैल को उड़ीसा को एक पृथक् प्रांत का रूप दिया गया।

उड़ीसा अपने छह जिलों (कटक, बालासोर, पुरी, संभलपुर, गंजाम तथा कोरापुट) के साथ सन् १९३६ ई० से पृथक् प्रांत रहा है, परंतु सन् १९४८ ई० में २३ और १९४९ ई० में एक देशी रियासत को इसमें मिलाकर नए उड़ीसा राज्य का संघटन किया गया। छोटी छोटी देशी रियासतों को तो पड़ोस के जिलों में मिला दिया गया और जो बड़ी रियासतें थीं उन्हें नए जिलों का रूप दे दिया गया। इस प्रकार अब उड़ीसा राज्य तेरह जिलों में विभाजित है। [श्या० सुं० श०]

मंदिर—उड़ीसा के मंदिरों की ख्याति बड़ी है और इस ख्याति का कारण उसकी विशिष्ट तथा विशद निर्माण कला है। ये मंदिर अधिकतर १२वीं–१३वीं सदी के बने हुए हैं और भारतीय वास्तु कला में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी मूर्तियों का उभार, तक्षण की सजीवता तथा भंग और छंदस् भारतीय कला में अपना सानी नहीं रखते। उड़ीसा के मंदिरों का एक महान् केंद्र भुवनेश्वर है। भुवनेश्वर का विख्यात शिवमंदिर ९वीं शताब्दी के मध्य में उत्कल के तेजस्वी राजा ललातेंदु केशरी के राज्यकाल में ही निर्मित किया गया तथा पुरी के विख्यात जगन्नाथमंदिर का निर्माण १२वीं शताब्दी में अनंगभीमदेव द्वितीय ने कराया था। १३वीं शताब्दी के मध्य महाराज नरसिंहदेव के द्वारा कोणार्क के विश्वविख्यात सूर्यमंदिर का निर्माण हुआ। उस समय सागर का जल इस विशाल एवं भव्य मंदिर का पादप्रक्षालन करता था, परंतु आज सागर उस स्थान को छोड़कर कुछ पूर्व हट गया है। फिर भी इस मंदिर की शिल्पकला आज भी दर्शकों को बरबस अपनी ओर खींच लेती है। वहाँ के मंदिर अधिकतर शिवके हैं। उड़ीसा के मंदिरों के साधारणतः निम्नलिखित भाग होते हैं—विमान, जगमोहन, नाट्यमंडप, गर्भगृह तथा भोगमंडप। इनके विमानों की ऊँचाई गगनचुंबी होती है। भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर अपने सौंदर्य के लिए स्तुत्य है। इनके अतिरिक्त पुरी का जगन्नाथ मंदिर और कनारक का कोणार्क-सूर्यमंदिर बड़े प्रसिद्ध हैं। जगन्नाथपुरी का मंदिर तो कला की सूक्ष्म दृष्टि से उड़ीसा-शैली का अवसान प्रमाणित करता है परंतु कनारक का मंदिर वास्तु का अपूर्व रत्न है। उसके अश्व, चक्र, ग्रह आदि अद्भुत वेग और सजीवता के परिचायक ह। जगन्नाथ और कनारक के मंदिरों के बहिरंग पर सैकड़ों कामचित्र उभारे हुए हैं। इस दृष्टि से इनकी और खजुराहो के मंदिरों की कलादृष्टि समान है। संभवतः इस प्रकार के अर्ध नग्न चित्रों का कारण वज्रयान तथा तंत्रयान का प्रभाव है। वज्रयान का आरंभ उड़ीसा में ही श्रीपर्वत (महेन्द्र पर्वत) पर हुआ था। उड़ीसा के मंदिरों के काल परिमाण के बाद इस प्रकार के नग्न चित्रों की चलन भारतीय वास्तु और मंदिरों से उठ गई। उड़ीसा के मंदिरों के विमान उत्तर भारत की शिल्प कला में प्रमाण बन गए और उत्तराखंड में बनने वाले बाद के मंदिरों की नगर शैली उनसे ही प्रसूत हुई।

सं० ग्रं०—आर. डी. बनर्जी : हिस्ट्री ऑव ओरिसा; बी. सी. मजुमदार : ओरिसा इन दि मेकिंग। [भ० श० उ०]

उड्डयन, नागरिक

सेना द्वारा संचालित उड़ानों को छोड़कर अन्य सभी प्रकार की उड़ानों को नागरिक उड्डयन के ही अंतर्गत माना गया है। इसमें जो कार्य व्यवहार में आते हैं वे ये हैं : यात्रियों का व्यावसायिक यातायात, माल और डाक, व्यापार या शौक के लिये निजी हैसियत से की गई उड़ानें तथा सरकारी उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया गया इसका उपयोग।

दो अमरीकी बंधु ऑरविल राइट तथा विल्बर राइट आज के प्रचलित नागरिक एवं सैन्य उड्डयन के जनक माने जाते हैं। १९०३ में ही इन बंधुओं ने पहले पहल ऐसी यात्रा की थी जिसमें वायुयान इंजनयुक्त और हवा से भारी था। हवाई उड्डयन में अन्य कई देशों में भी, विशेषतः फ्रांस में, इस दिशा में प्रयोग किए जा रहे थे। १९१० तक हवाई यातायात को अधिकांश देशों में व्यावहारिक रीति से अपना लिया गया था। शीघ्र प्रथम विश्वयुद्ध सामने आया। इसने वैज्ञानिक एवं प्राविधिक प्रयोगों को उन्नत होने की पर्याप्त प्रेरणा दी और युद्ध का अंत होते होते यातायात के हवाई साधन भली भाँति दृढ़ हो चुके थे।

इसके बाद तीव्र प्रगति हुई। १९१९ के अंत तक लंदन और पेरिस के बीच वायुचर्याएँ चालू हो गई। यूरोप के कुछ अन्य बड़े नगरों के साथ भी इस प्रकार का संपर्क स्थापित हुआ। रूस में लेनिनग्राड और मास्को के बीच नियमित चर्याएँ चालू हुई। संयुक्त राज्य, अमरीका, की व्यावसायिक प्रगति कुछ मंद थी, तथापि वायुचर्याएँ सिएटल (वाशिंगटन) और विक्टोरिया (ब्रिटिश कोलंबिया) तथा की-वेस्ट (फ़्लोरिडा) और हैवैना (क्यूबा) में संचालित की जाने लगीं।

१९१९ से १९३९ तक की प्रगति द्रुत रही। विभिन्न देशों के बीच वायु-मार्गों का जाल धीरे धीरे घना हुआ तथा फ्रेंच, ब्रिटिश एवं डचों ने अफ्रीका एवं सुदूरपूर्व में स्थित अपने उपनिवेशों तक के लिये लंबे वायुमार्ग स्थापित किए। जर्मनी ने दक्षिणी अमरीका में हवाई यातायात का संपर्क स्थापित किया तथा ब्रैज़ील, अर्जेंटाइना तथा कुछ अन्य लातीनी अमरीकी देशों में अपने वायुयानों का घना जाल फैलाया। १९२९ में संयुक्त राज्य, अमरीका, ने मियामी से दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी किनारे, चिली, तक एक वायुमार्ग स्थापित किया। १९३१ में जर्मनी एवं ब्रैज़ील के बीच जर्मनी की एक ज़ेपलिन चर्या स्थापित हुई (गैस भरे और इंजनयुक्त विशेष रूप के हवाई जहाज को ज़ेपलिन कहते हैं)। १९३५ में प्रशांत महासागर के आर पार पानी में भी तैर सकनेवाले वायुयान की चर्या तथा १९३६ में अंध महासागर (एटलैंटिक) पार जानेवाली ज़ेपलिन की चर्या चालू की गई। १९३९ में उत्तरी एवं दक्षिणी अंध महासागर के आर पार जानेवाली नियमित उड़ानें होने लगीं। व्यापारिक वायुमार्गों ने तब समूचे जगत् को चारों ओर से घेर लिया।

फिर द्वितीय महायुद्ध सामने आया। इसने भी प्राविधिक उन्नति को बढ़ावा दिया और उड्डयन विषयक ज्ञान की बहुत वृद्धि हुई। अखिल विश्व के पैमाने पर सैनिक हवाई यातायात के कार्यों का होना उस समय की एक बहुत बड़ी अनिवार्यता थी। उड्डयन को अब बहुत अधिक बल मिला। १९४५ में युद्ध समाप्त हुआ। उसके बाद के कुछ वर्षों में व्यावसायिक हवाई यातायातों तथा तत्संबंधी उपयोगी वस्तुओं म बहुत बड़े परिवर्तन हुए और दुनिया में वायुमार्गों का विराट् विस्तार देखने में आया। परिवहन की क्षमता बढ़ गई, गति में तीव्रता आई और यात्राओं का विस्तार लंबा होने लगा। इंजनचालित वायुयानों के बदले टरबाइन चालित, फिर जेट चालित वायुयान बने। अक्टूबर, १९५८ में संयुक्त राज्य, अमरीका, से ब्रिटेन और फ्रांस तक, अंध महासागर को पार करके जानेवाली पहली जेट सर्विस का उद्घाटन हुआ। इस प्रकार व्यावसायिक उड्डयन ने अब जेट युग में प्रवेश कर लिया है।

भारत में नागरिक उड्डयन—भारत में वायुचर्याओं के चलाए जाने की चर्चा भारत सरकार द्वारा बहुत पहले, १९१७ में ही, प्रारंभ की गई थी। प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त होते ही, सितंबर, १९१९ में सरकार ने भारत भर में डाक पहुँचाने का पूरा उत्तरदायित्व एक यातायात कंपनी को सौंप देने का निश्चय किया, परंतु कुछ कार्य न हो सका। एक साल

बाद हवाई अड्डे स्थापित करने और बंबई-कलकत्ता तथा कलकत्ता-रंगून की चर्याओं के लिये सुविधाएँ देने की ओर सरकार की प्रवृत्ति हुई। एक भारतीय वायुमंडली (एयर बोर्ड) स्थापित हुई। सब कुछ होने पर भी सरकार ने नीतिनिर्धारण करने के अतिरिक्त और कुछ न किया।

बाद के कुछ वर्षों में ब्रिटेन, फ्रांस और हालैंड ने भारत के बाहर सुदूर-पूर्वी उपनिवेशों में हवाई चर्याएँ स्थापित कीं। इन प्रगतियों ने भारत सरकार को भी सोचने को बाध्य किया और भारत में सहायक चर्याएँ चलाने की आवश्यकता का उसने अनुभव किया। परिणामतः भारतीय व्यापारियों से बातचीत आरंभ की गई। इन वार्ताओं के फलस्वरूप टाटा एयरलाइन और इंडियन नैशनल एयरवेज़ की चर्याओं का विकास हुआ। इन कंपनियों ने डाक ढोने के लिये एक इंजनवाले हल्के वायुयानों द्वारा कार्यसंचालन आरंभ किया। भारत सरकार द्वारा १९३८ में बनाई गई राजकीय हवाई डाक योजना से इस उद्योग में विस्तार को बढ़ावा मिला। बड़े वायुयानों का उपयोग होने लगा और नई नई चर्याएँ खुलीं।

तब द्वितीय विश्वयुद्ध आया। इंडियन एयरलाइन का उपयोग सामरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किया जाने लगा। राजकीय वायुसेना के यातायात समादेश (कमैंड) के वायुमार्गों के अंतर्गत बहुत से मार्गों पर इन सेवाओं का उपयोग उधार मिले (लीज़-लेंड) वायुयानों, विशेषतः डकोटा विमानों, द्वारा किया गया। पूर्वोक्त एयरलाइनों को वायुसेना के विमानों का संचालन, उनको ठीक रखने एवं निर्वहन का कार्य सौंपा गया। इससे उन्हें एकदम आधुनिक ढंग के वायुयानों को उपयोग में लाने का सुअवसर प्राप्त हुआ और बहुत से लोगों ने इन कार्यों में प्रशिक्षित होकर निपुणता प्राप्त कर ली।

अगस्त, १९४५ में युद्ध समाप्त होने पर एयरलाइनों पर से सरकारी नियंत्रण हट गया और वे पुनः व्यावसायिक स्तर पर आ गई। युद्धोत्तर वर्षों में भारतीय नागरिक उड्डयन के क्षेत्र में सबसे मुख्य बात दिखाई दी—भारतीय यात्रियों में हवाई यात्रा की चेतना का समुन्नत विकास। हवाई उद्योग में तीव्रता आ गई जिससे देश के प्रमुख उद्योगपति पर्याप्त संख्या में वायु यातायात के उद्योग की ओर अग्रसर हुए। १९४७ की जनवरी तक वायु यातायात की अनुज्ञप्ति मंडली (लाइसेंसिंग बोर्ड) को विभिन्न उपयोगी वायुमार्गों के लिये १२२ आवेदनपत्र प्राप्त हुए। अंत में बोर्ड ने एयर इंडिया (जिसने टाटा एयरलाइंस का स्थान लिया), इंडियन नैशनल एयरवेज तथा एयर सर्विसेज़ ऑव इंडिया आदि पुरानी चालू कंपनियों के अतिरिक्त निम्नलिखित ११ नई कंपनियों को अस्थायी अनुमतिपत्र प्रदान किए : डेकन एयरवेज़, डालमिया जैन एयरवेज़, भारत एयरवेज़, एयरवेज़ (इंडिया), ओरिएंट एयरवेज़, मिस्त्री एयरवेज़, अंबिका एयर लाइंस और जुपिटर एयरवेज़।

इस प्रकार बहुत से संचालकों को अनुमतिपत्र दे देने से, वह भी ऐसी दशा में जब कि अनेक मार्गों में व्यापार की संभावनाएँ बहुत सीमित थीं, एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई जिससे अवांछनीय प्रतिद्वंद्विता आरंभ हो गई जो अर्थशास्त्रीय दृष्टि से सर्वथा असंगत और अहितकर थी। इसने इस उद्योग के लिये बड़ी गंभीर कठिनाइयाँ उपस्थित कर दीं। कुछ कंपनियों का दिवाला निकल गया। शेष ने सरकार पर इस बात के लिये जोर दिया कि वह उड्डयन को अनुप्राणित रखने के लिये वित्तीय सहायता कुछ छूट के रूप में दे। अब यह स्पष्ट हो गया कि इस उद्योग को ऐसी आर्थिक सहायता की आवश्यकता है जिससे उसका विस्तार होता रहे। यह भी स्पष्ट हो गया कि अब इस उद्योग के पास खुले बाजार में धन उगाहने की क्षमता नहीं रह गई। इन सभी बातों को दृष्टि में रखकर सरकार ने एक समिति नियुक्त की जो इस निष्कर्ष पर पहुँची कि सभी हवाई कंपनियाँ राज्य द्वारा अधिकृत एक विशाल निगम (कॉरपोरेशन) में अंतर्भुक्त कर ली जायँ। मई, १९५३ में संसद ने एयर कॉरपोरेशन संबंधी एक अधिनियम पारित किया तथा अगस्त, १९५३ में इंडियन एयरलाइंस कॉरपोरेशन स्थापित हो गया।

पहले साल तो कॉरपोरेशन को व्यवस्था एवं संचालन संबंधी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। वायुमार्गों का पहलेवाला ढर्रा अब ठीक नहीं जान पड़ता था। अतः उसके पुनरीक्षण की आवश्यकता हुई।

यांत्रिक पक्ष में भी अनेक उलझनें उत्पन्न हुई और इस बात की आवश्यकता हुई कि नए सक्षम कारखाने स्थापित किए जायँ। उधर व्यापारिक पक्ष में पर्याप्त संख्या में नए टिकटघर स्थापित करने तथा पुराने भवनों को नया करने की आवश्यकता थी। बुकिंग एजेंटों के पूरे ढाँचे को बहुत कुछ बदलना पड़ा और विदेशी कंपनियों और सरकारों से नवीन अंतर्देशीय समझौते करने पड़े।

इन सभी समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना किया गया और प्रगति के पथ पर पहला पग आगे बढ़ा। १९५३-५४ में इंडियन एयरलाइंस कॉरपोरेशन ने तीन लाख यात्रियों और ३८,००० टन माल का परिवहन किया जिससे तीन करोड़ से अधिक की आय हुई। दूसरे वर्ष इसे दृढ़ बनाने के लिये राष्ट्रीयकरण की योजनाएँ जोर पकड़ने लगीं। अलग अलग वायुमार्गों की व्यवस्था के स्थान पर समूचे ढाँचे की संघटित नियंत्रणशैली अपनाई गई। केंद्र में दृढ़ संचालन संस्था की स्थापना हुई। पूरा संचालन-क्षेत्र तीन भागों में बाँटा गया और दिल्ली, बंबई तथा कलकत्ता इसके नए केंद्र हुए। कॉरपोरेशन के तृतीय वर्ष में प्रवेश करने के साथ ही संगठन एवं हिसाब किताब के संचालन की कार्यपद्धतियाँ भी एक निश्चित रूप में सुस्थिर की गईं। जहाजी बेड़ों में भी आठ हेरोन नामक और तीन स्काईमास्टर नामक वायुयानों को रखकर उन्हें समृद्ध बनाया गया। वाइकाउंट वायुयानों के प्रयोग की योजना ने भी मूर्त रूप धारण किया। स्काईमास्टर की रात्रिचर्या भी स्थापित हुई। इंडियन एअर कॉ० ने आसाम के बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों के लिये सामान पहुँचाने के कार्य में महत्वपूर्ण भाग लिया। १९५६-५७ में व्यापार समृद्धतर हुआ और वायुयानों की संख्या बढ़ाने की आवश्यकता हुई। अतः पाँच वाइकाउंटों के लिये एक साथ आर्डर भेजा गया। लंबे वायुमार्गों में इनका उपयोग करने का निश्चय था। इंजीनियरों एवं संचालन के विविध अंग के लोगों को प्रशिक्षित करने की एक सर्वांगपूर्ण योजना उपस्थित की गई। पर्याप्त चालकों एवं इंजीनियरों को प्रशिक्षण के निमित्त ब्रिटेन भेजे जाने के लिये चुना गया। १० अक्टूबर को दिल्ली-कलकत्ता मार्ग पर वाइकाउंट की पहली उड़ान हुई। इसके बाद ही सभी लंबे मार्गों पर वाइकाउंट विमान चालू किए गए।

१९५७-५८ में इं० ए० कॉ० ने और भी प्रगति की तथा राष्ट्रहित में अधिक भाग लिया। महामारी एवं दैवी विपत्तियों से ग्रस्त क्षेत्रों के लिये ओषधियाँ आदि ढोने के अतिरिक्त काश्मीर जानेवाले मालों को भी ढोने का काम इसने किया। सबसे बढ़कर इं० ए० कॉ० ने 'नेफा' (उत्तर-पूर्वी सीमा क्षेत्र) प्रदेश में सहायतार्थ सामान गिराने का काम किया। इसी वर्ष दिल्ली में वाइकाउंटों के लिये छाजन (डॉक) बनकर पूरा हो चुका था। संगठन में भी काफी सुधार हुआ।

इंडियन एयरलाइंस कॉरपोरेशन की पाँच वर्षों की क्रमिक प्रगति का विवरण निम्नांकित सारणी से स्पष्ट हो जायगा :

वर्ष	यात्री	कुल व्यय (लाखों में)	कुल आय (लाखों में)
१९५३-५४	२,८७,१२२	५१३·७९	४३४·३१
१९५४-५५	५,७७,५८३	७८२·६२	६९२·४७
१९५५-५६	५,००,३६३	९२८·००	८०८·६०
१९५६-५७	५,७१,१०६	९७०·१४	८६१·३५
१९५७-५८	५,९९,५७३	१०२९·१४	९२६·०७

अंतर्राष्ट्रीय समझौते—युद्धकालीन हवाई यातायात के विराट् विस्तार एवं विस्तार की तात्कालिक संभावनाओं तथा दूरदर्शिता ने यह आवश्यक बना दिया कि आकाश के उपयोग एवं उड्डयन संबंधी नियमों को सुस्थिर करने के लिये अंतर्राष्ट्रीय समझौता किया जाय। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर नवंबर, १९४४ में ५४ देशों के प्रतिनिधि शिकागो (अमरीका) में एकत्रित हुए। इसके परिणामस्वरूप चार समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए जिनका विवरण नीचे दिया जाता है :

१. अंतर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन की शर्तें ४ अप्रैल, १९४७ से लागू हुईं। इनके अंतर्गत निम्नलिखित बातों का समावेश था : (क) उड्डयन-कला के विधिवत् संचालन में सुविधा एवं सहयोग प्रदान करना तथा इसके प्राविधिक नियमों एवं कार्यविधि में अधिक से अधिक सामंजस्य स्थापित करने
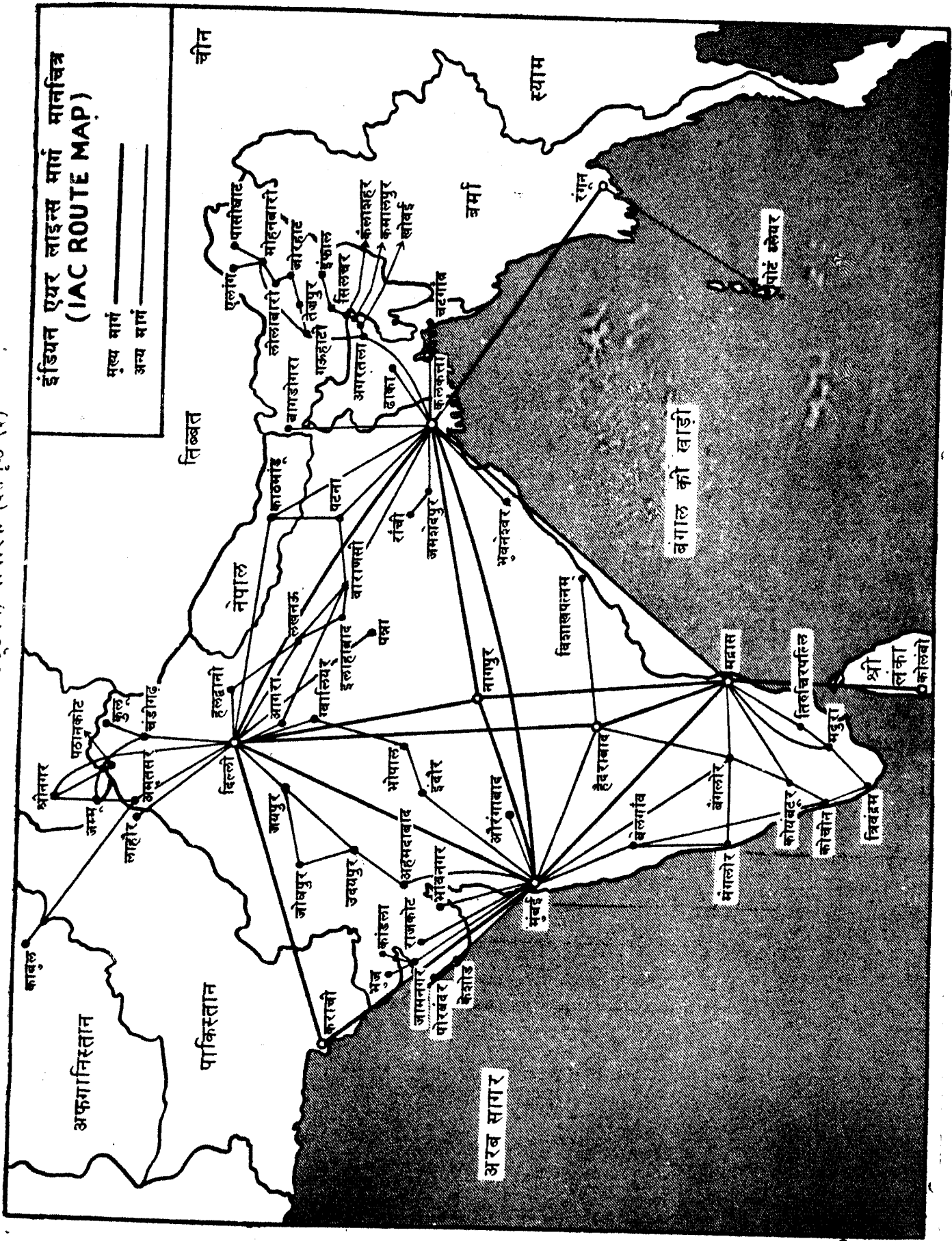
उड्डयन, नागरिक (देखें पृष्ठ ५३)

(इंडिया एयर लाइन्स के सौजन्य से प्राप्त)

उड्डयन, नागरिक (देखें पृष्ठ ५३)
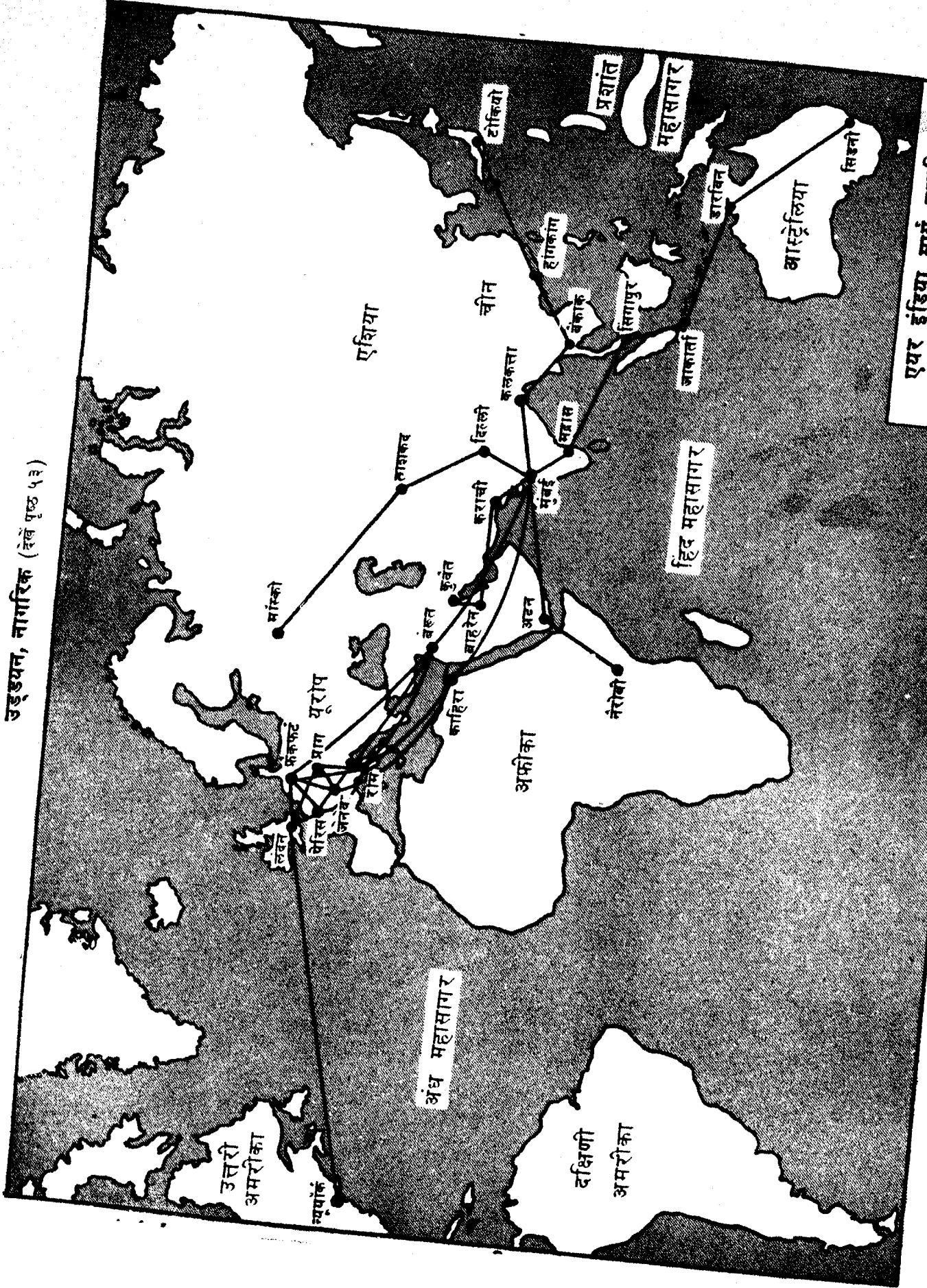
(इंडिया एयर लाइन्स के सौजन्य से

ठीक नहीं जान पड़ता था। अतः

के लिये प्रयत्नशील होना; (ख) नागरिक उड्डयन के सभी पहलुओं में समता लाने के लिये एक स्थायी संघटन, अंतर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ (आई० सी० ए० ओ०) की स्थापना करना; (ग) आई० सी० ए० ओ० के अंतर्गत कुछ समितियाँ स्थापित हुईं जो नागरिक उड्डयन की विविध शाखाओं का काम देखती थीं। ये समितियाँ थीं : एयर नैविगेशन कमीशन, एयर ट्रैंसपोर्ट कमिटी और लीगल कमिटी।

आई० सी० ए० ओ० का सचिवालय और स्थायी हेडक्वार्टर मॉण्ट्रियल (कैनाडा) में स्थापित हुआ।

२. अंतर्राष्ट्रीय हवाई यातायात समझौते के आधार पर अनुसूचित अंतर्राष्ट्रीय वायुसेनाओं के लिये 'पाँच' स्वतंत्रताओं का बहुमुखी प्रस्ताव स्वीकृत हुआ : (क) देशों से होकर गुजरने की स्वतंत्रता; (ख) आकस्मिक आवश्यकतावश रुक सकने की स्वतंत्रता; (ग) अपने देश से यात्रियों या सामान को किसी सदस्य राष्ट्र में ले जाने की स्वतंत्रता; (घ) किसी सदस्य देश से यात्रियों और सामान को स्वदेश लाने की स्वतंत्रता; (ङ) किसी एक सदस्य देश से अन्य सदस्य देशों को यात्री अथवा माल ले जाने अथवा उतारने की स्वतंत्रता।

वायुयानों के अन्य व्यापारिक उपयोग—बहुत से कार्य ऐसे हैं जो वायुयानों द्वारा अन्य साधनों की अपेक्षा बहुत शीघ्र एवं कम व्यय में संपन्न हो सकते हैं। कैनाडा में वायुयान का उपयोग बहुत पहले ही हुआ था और वहाँ सवक्षरण (सरवे) के कार्य एवं दावाग्नि से सुरक्षा के लिये इसका उपयोग बहुत दिनों से हो रहा है। अमरीका में भी कृषि के संबंध में हानिकारक कीड़ों को मारने के लिये चूर्ण छिड़कने का कार्य वायुयान द्वारा आरंभ से ही हो रहा है। रूस तथा अर्जेंटाइना में वायुयानों का उपयोग टिड्डियों के संहार कार्य में होता रहा है। अन्वेषकों ने कच्ची धातु का पता चुंबकत्वमापी यंत्रों को साथ लेकर वायुयानों से लगाया है। विदेशों में किसान और फार्मवाले वायुयान को खेती का साधारण उपकरण समझते हैं। तेल के रक्षक वायुयान पर चढ़कर पाइप लाइनों की देखरेख किया करते हैं। बिजली की कंपनियाँ भी उच्चशक्तिवाली लाइनों का निरीक्षण इसी प्रकार करती हैं।

अमरीका और रूस में लाखों एकड़ भूमि पर वायुयानों द्वारा रासायनिक चूर्ण छिड़ककर जंगली घास पात से उसकी रक्षा की जाती है। इन देशों में धान बोने और खेतों में रासायनिक खाद डालने का काम भी वायुयानों से लिया जाता है।

भारत में भी वायुयानों का उपयोग बहुत लाभप्रद कार्यों में किया गया है; उदाहरणतः बाढ़पीड़ितों की सहायता, ऐसे दुर्गम क्षेत्रों में, जहाँ वायुमार्ग से ही जाया जा सकता हो, आवश्यक माल पहुँचाना, विपत्तिग्रस्त लोगों का उद्धार आदि कार्य हैं। अभी हाल में तैल क्षेत्रों का पता लगाने के लिय भी वायुयान का उपयोग किया गया है। आस्ट्रेलिया में इसका उपयोग रोगी तक डाक्टरों को तुरंत पहुँचाने के लिये किया गया है, जो इस बहुमुखी कार्यवाले यंत्र का एक नवीन पक्ष है।

संसार के प्रमुख देशों की अंतर्राष्ट्रीय वायुचर्या के सन् १९५७ के आँकड़े निम्नांकित हैं :

महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय वायुचर्याएँ (१९५७ में)

एयर लाइन	देश	यात्री संख्या × मील	कर्मचारी
१—पैन अमेरिकन	संयुक्त राज्य	३,८७,६०,००,०००	२४,९४४
२—बी० ओ० ए० सी०	ब्रिटेन	१,३२,०४,३४,५६५	१९,४०७
३—के० एल० एम०	हालैंड	१,२१,८२,७८,१३३	१७,१२६
४—एयर फ्रांस	फ्रांस	१,१२,५०,७१,१४८	१९,४४६
५—एस० ए० एस०	स्कैंडिनेविया	९२,७३,६५,७०४	१०,९६३
६—टी० डब्ल्यू० ए०	संयुक्त राज्य	६९,९९,४५,०००	१९,८५१
७—ब्रिटिश यूरोपियन एयरवेज	ब्रिटेन	६५,४३,०७,३६८	११,००९
८—स्विस एयर	स्विट्ज़रलैंड	५३,०८,३६,२९७	४,७१३
९—काण्टाज़	आस्ट्रेलिया	३६,४९,७४,३७०	६,२६६
१०—सैबीना	बेलजियम	३०,१९,७५,३७७	८,४८३
११—लुफ्ट हांसा	प० जर्मनी	२८,४०,४५,२३७	४,९४०
१२—एयर इंडिया इंटरनैशनल	भारत	२३,५०,८७,९२६	४,२३९
१३—ट्रांस कैनाडा	कैनाडा	२३,०७,७७,५९७	९,७२६
१४—अलिटालिया	इटली	२१,२४,१३,८८७	३,०५५
१५—कैनेडियन पैसिफ़िक	कैनाडा	२०,७६,७४,८५४	२,२४०
१६—पैनाग्रा	संयुक्त राज्य	१६,८६,४१,०००	१,३४७
१७—जापान	जापान	१४,५६,९१,९५४	१,९०३
१८—आइबेरिया	स्पेन	१३,३४,७०,२५०	२,८३६
१९—नार्थ वेस्ट	संयुक्त राज्य	१२,७४,७६,५३९	५,९२५
२०—साउथ एफ्रिकन	दक्षिणी अफ्रीका	१२,६१,३४,१३७	२,२६५

सं०ग्रं०—एडवर्ड पी० वार्नर : अर्ली हिस्ट्री ऑव एयर ट्रांसपोर्टेशन, (१९३७); एम० आर० देवनी : एयर ट्रांसपोर्ट इन इंडिया (१९५३); आइ० सी० ए० ओ० तथा ब्रिटिश मंत्रालय एवं अमरीकी राजकीय विभाग द्वारा प्रकाशित नागरिक उड्डयन के बुलेटिन। [दे० रा० से०]

उतथ्य जन्म आंगिरस कुल में। उनकी भार्या भद्रा बड़ी रूपवती थी जिसे वरुण ने छिपा लिया था। जब नारद की मध्यस्थता से भी वरुण ने भद्रा को लौटाना स्वीकार नहीं किया, तब उतथ्य ने सरस्वती को सूख जाने और ब्रह्मर्षि देश को अपवित्र हो जाने का अभिशाप दे दिया। इसपर वरुण ने भद्रा को लौटा दिया। [चं० म०]

उत्कीर्णन लकड़ी, हाथीदाँत, पत्थर आदि को गढ़ छीलकर अलंकृत करने या मूर्ति बनाने को उत्कीर्णन या नक्काशी करना (अंग्रेजी में कार्विंग) कहते हैं। पत्थर के उत्कीर्णन का वर्णन अन्यत्र दिया है (देखें **मूर्तिकला और स्थापत्य**)। यहाँ काष्ठ उत्कीर्णन पर प्राविधिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। उत्कीर्णन के लिये लकड़ी को सावधानी से सूखने देना चाहिए। एक रीति यह है कि नई लकड़ी को बहते पानी में डाल दिया जाय, जिसमें उसका सब रस बह जाय और तब उसे सूखने के लिये छोड़ दिया जाय। साधारणतः लकड़ी का हवादार जगह में छोड़ देना काफी होता है। शीशम, बाँझ (ओक) और देवदार पर उत्कीर्णन अच्छा होता है; अखरोट, चंदन आदि घने रेशेवाली लकड़ियों पर सूक्ष्म उत्कीर्णन किया जा सकता है। मोटा काम प्रायः सभी लकड़ियों पर हो सकता है। उत्कीर्णन के लिये छोटी बड़ी अनेक प्रकार की चपटी और गोल रुखानियों तथा छुरियों का प्रयोग किया जाता है। काम को पकड़ने के लिये बाँक (वाइस) भी हो तो सुविधा होती है। काठ की एक मुंगरी (हथौड़ा) भी चाहिए। कोने अँतरे में लकड़ी को चिकना करने के लिये टेढ़ी रेती भी चाहिए। बारीक काम में रुखानी को ठोंका नहीं जाता। केवल एक हाथ की गदोरी से दबाया जाता है और दूसरे हाथ की अँगुलियों से उसके अग्र को नियंत्रित किया जाता है। उत्कीर्णन का काम सरल है। अभ्यास से कोई भी व्यक्ति साधारण उत्कीर्णन सीख सकता है। नवसिखुए के लिये दस बारह औजार पर्याप्त होंगे। उत्कीर्णन के लिये बने यंत्रों को बढ़िया इस्पात का होना चाहिए
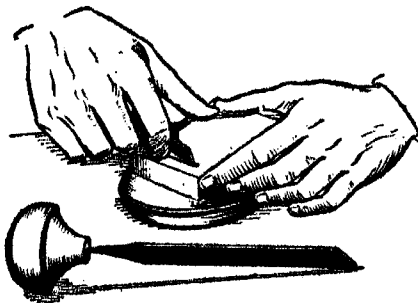
सूक्ष्म उत्कीर्णन करने का ढंग

और उन्हें छुरा तेज करने की सिल्ली पर तेज करके अंतिम धार चमड़े की चमोटी पर रगड़कर चढ़ानी चाहिए। अतीक्ष्ण यंत्रों से काम स्वच्छ नहीं बनता और लकड़ी के फटने या टूटने का डर रहता है। गोल रुखानियों को नतोदर पृष्ठ की ओर से तेज करने के लिये बेलनाकार सिल्लियाँ मिलती हैं या साधारण सिल्लियाँ भी घिसकर वैसी बनाई जा सकती हैं।

यों तो थोड़ा बहुत उत्कीर्णन सभी जगह होता है, परंतु काश्मीर की बनी अखरोट की लकड़ी की उत्कीर्ण वस्तुएँ बड़ी सुंदर होती हैं। चीन और जापान के मंदिरों में काष्ठोत्कीर्णन के आश्चर्यजनक सूक्ष्म और सुंदर उदाहरण मिलते हैं।

सं०ग्रं०—पी० एन० हैसलक : वुड कार्विंग (१९०८); ऐल्फ्रेड मैस्केल : वुड स्कल्पचर (१९११); इलीनर रो : प्रैक्टिकल वुड कार्विंग (१९३०)।

उत्खनन

इमारती पत्थरों को खोदकर निकालने की क्रिया को उत्खनन कहते हैं। उस स्थान को जहाँ से पत्थर निकाले जाते हैं पाषाण खान कहते हैं। पाषाण खान (क्वैरी) साधारणतया खुले स्थान में ही बनाई जाती है।

इमारती पत्थरों में ग्रैनाइट, बैसाल्ट, बालू के पत्थर, चूने के पत्थर, स्लेट और संगमरमर मुख्य हैं। ग्रैनाइट शब्द के अंतर्गत साधारणतया हलके रंग की सभी आग्नेय शिलाएँ मानी जाती हैं। इन शिलाओं की रचना क्वार्ट्ज, फेल्स्पार, अभ्रक और हॉर्न ब्लेंड नामक खनिजों से होती है। बैसाल्ट प्रायः काले रंग की शिलाएँ होती हैं। ये ट्रैप भी कहलाती हैं। इनमें फेल्सपार और पाइरॉक्सीन खनिजों की प्रचुर मात्रा होती है। इन शिलाओं में कई प्रकार के भंग होते हैं, जिनसे इन्हें खोदने में सुविधा होती है। ये सामान्यतः कड़ी होती हैं। ग्रैनाइट शब्द के अंतर्गत ही नाइस नामक कायांतरित शिलाओं को भी गिन लिया जाता है। अभ्रकादि खनिज के समांतर तलों में व्यवस्थित होने से इनमें अनेक दुर्बल धरातल बन जाते ह, जिनके कारण इन्हें खोदने में सुकरता हो जाती है। भंगों की उपस्थिति में इसे और भी सरलता से खोदा जा सकता है। बालुकाश्म (सैंडस्टोन) एवं चूने का पत्थर (लाइम स्टोन) जलज शिलाएँ हैं। अतः इनमें स्वाभाविक रूप से स्तर होते हैं। स्तरों की उपस्थिति के कारण इनका खोदना और इन्हें सिल्लियों का रूप देना अत्यंत सरल हो जाता है। कायांतरण के प्रभाव से चूने के पत्थर संगमरमर की शिलाओं में परिवर्तित हो जाते हैं, परंतु उनकी स्तररचना नष्ट हो जाती है। संगमरमर की शिलाओं को तोड़ने के लिये भंगों का सहारा लेना पड़ता है। स्लेट भी कायांतरित शिला है। इसमें समांतर तड़कन होती है, अतः इसकी अत्यंत पतली परतें निकाली जा सकती हैं।

किसी भी पत्थर को खोद निकालने के पूर्व उसकी कठोरता, शक्ति, खनिज रचना, रंध्रता और चिकना करने पर प्राप्त चमक और सुंदरता की परीक्षा की जाती है। खोदने के स्थान पर पत्थरों में अत्यधिक भंग, दरार अथवा ऐसे अन्य दुर्बल धरातल नहीं होने चाहिए जिनसे पुष्ट और बड़ी सिल्लियाँ न मिल सकें, परंतु यदि ऐसे धरातल हों ही नहीं तो भी कठिनाई पड़ेगी। तब खोदे हुए पत्थरों को चारों ओर से घिसने का व्यय बढ़ जायगा। पत्थरों में अत्यधिक तथा अनियमित अपक्षय (वायु और जल से कटान) भी नहीं होना चाहिए।

पत्थरों की कठोरता, दुर्बल धरातलों की उपस्थिति, सिल्लियों की माप और खदान की विस्तृति पर खोदने की क्रिया का निर्णय किया जाता है। छोटी पाषाण खान में प्रायः सभी कार्य हाथ से किया जाता है। विस्फोट क्रिया द्वारा चट्टानें तोड़ी जाती हैं। भंगों की अनुपस्थिति में निश्चित दूरी पर खड़े छिद्र बनाए जाते हैं और उनमें विस्फोट किया जाता है। जलज शिलाओं म स्तरों के समांतर क्षतिज छिद्र बनाकर विस्फोट किया जाता है। साधारणतः खदान सीढ़ीनुमा बनाई जाती है। बहुत बड़ी पाषाण खानों में अधिकाधिक कार्य मशीनों से लिया जाता है।

भारतवर्ष में इमारती पत्थरों के उत्खनन का कार्य बहुत प्राचीन काल से होता रहा है। दक्षिण भारत के ग्रैनाइट आदि पत्थरों से बने प्रागैतिहासिक काल के मंदिर अभी तक विद्यमान हैं। आंध्र तथा मैसूर राज्यों में इस प्रकार के पत्थरों की खदानें आजकल भी हैं। इनसे पत्थर निकालकर विदेशों को भेजे जाते हैं। महाराष्ट्र और आसपास के क्षेत्रों में बैसाल्ट अथवा ट्रैप नामक लावा की शिलाओं का प्रयोग इमारती पत्थरों के रूप में किया जाता है। अजंता तथा एलोरा की गुफाएँ इन्हीं पत्थरों में खोदी गई हैं। विंध्य श्रेणी के बलुआ पत्थर दीर्घ काल से हमारी मूल्यवान् निधि रहे हैं। गंगा और यमुना के किनारे खड़े विशाल घाट तथा मंदिर ही नहीं वरन् अनेक प्राचीन अशोकस्तंभ भी इन्हीं से निर्मित हुए हैं। इन पत्थरों की मुख्य खदानें कैमूर, चुनार, भरतपुर, फतेहपुर सीकरी आदि स्थानों में स्थित हैं। समस्त उत्तर भारत में अशोककाल से लेकर आज तक इमारती पत्थरों में विंध्य श्रेणी के बलुआ पत्थरों का योगदान सबसे अधिक रहा है। गोंडवाना युग के बलुआ पत्थर बिहार, उड़ीसा एवं मध्यप्रदेश में तथा महासरट (जूरैसिक) युग के पत्थर कच्छ में निकाले जाते हैं। कायांतरित बलुआ पत्थरों की शिलाएँ अलवर तथा अजमेर में खोदी जाती हैं। सौराष्ट्र में कई स्थानों पर पाषाण खानें हैं, इनमें 'पोरबंदर पत्थर' की खान सबसे मुख्य है। बीजापुर, वारंगल, बूँदी, उदयपुर, मध्यप्रदेश, आंध्र तथा मद्रास राज्यों में भी इस प्रकार के पत्थर निकाले जाते हैं। स्लेट की खदानें कुमायूँ, गढ़वाल, मंडी, चंबा, काँगड़ा आदि पर्वतीय प्रदेशों में बहुलता से मिलती हैं। आंध्र के करनूल जिले में भी स्लेट शिलाएँ अत्यधिक मात्रा में विद्यमान हैं। रेवारी तथा गुड़गाँव में भी स्लेट मिलती है। संगमरमर शिलाओं के लिये जोधपुर के निकट मकराना की पाषाण खानें दीर्घकाल से प्रसिद्ध हैं। आगरे का ताजमहल एवं कलकत्ते का विक्टोरिया मेमोरियल मकराना संगमरमर का ही बना है। राजस्थान में अलवर, जयपुर, नाथद्वारा, राजनगर, रामालो आदि संगमरमर के अन्य प्रसिद्ध क्षेत्र हैं। दक्षिण भारत में चीतलदुर्ग, मैसूर, सेलम और मदुराई जिले तथा मध्यप्रदेश में जबलपुर, छिंदवाड़ा और महाराष्ट्र में नागपुर और सिवनी जिले सुंदर संगमरमर के लिये प्रसिद्ध हैं। असाधारण रंग के संगमरमर पत्थरों के लिये गुजरात में हरिकुवा, रेवाकाँठा और सांडारा तथा आंध्र में कुर्नूल, कृष्णा और गुंटुर जिले प्रसिद्ध हैं।

[वि० कां० दा०]

उत्तमौजा

उत्तर वैदिक परंपरा में जहाँ सृंजय पांचालों के साथ संबद्ध दिखलाए गए ह, महाभारत में उत्तमौजा को पांचाल तथा सृंजय दोनों ही कहा गया है। महाभारत के पात्रों में उत्तमौजा एक पराक्रमी राजा था जिसे 'युद्धविशारद' और 'वीर्यवान्' कहा गया है और जिसने पांडवों की ओर से युद्ध किया था।

[चं० म०]

उत्तर पुराण

महापुराण का उत्तरार्ध। यह जिनसेन के पट्टशिष्य गुणभद्राचार्य की प्रौढ़ रचना है। इसमें लगभग साढ़े नौ हजार श्लोक हैं जिनमें तेईस तीर्थंकरों तथा अन्य शलाकापुरुषों के चरित्र काव्यरीति में वर्णित हैं। स्पष्ट है कि यह आदिपुराण की अपेक्षा विस्तार में निःसंदेह बहुत ही न्यून है, परंतु कला की दृष्टि से यह पुराण आदिपुराण का एक उपयुक्त पूरक माना जा सकता है। उत्तरपुराण की समाप्तितिथि का पूरा परिचय नहीं मिलता, परंतु इसकी समाप्ति शक सं० ८२० (८९८ ई०) से पहले अवश्य हो गई होगी, क्योंकि गुणभद्र के शिष्य लोकसेन के कथनानुसार उक्त संवत् में इस ग्रंथ का पूजामहोत्सव निष्पन्न किया गया था। विद्वानों का अनुमान है कि महापुराण का यह पूजामहोत्सव लोकसेन ने अपने गुरु के स्वर्गवासी होने पर किया होगा। गुणभद्र बड़े ही विनीत तथा गुरुभक्त थे। काव्यकला में वे अपने पूज्य गुरुदेव के सुयोग्य शिष्य थे। उत्तरपुराण की कथाओं में जीवंधर की कथा बड़ी प्रसिद्ध है जिसका वर्णन अनेक कवियों ने संस्कृत और तमिल में काव्यरूप से किया है।

[ब० उ०]

उत्तर प्रदेश

गणतंत्र भारत का एक राज्य है, जो २३° ५२′ उ० से ३१° १८′उ० अक्षांशों और ७७° ३′ पू० से ८४° ३९′ पूर्व देशांतर रेखाओं के मध्य उत्तरी खंड में स्थित है। इसके उत्तर में नेपाल और तिब्बत दक्षिण में मध्य प्रदेश, पूर्व में बिहार और पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में क्रमशः हिमाचल प्रदेश, पंजाब, दिल्ली और राजस्थान हैं। इसका कुल क्षेत्रफल १,१३,४०९ वर्ग मील (भारत के राज्यों में बंबई, मध्य

उड्डयन, नागरिक (देखें पृष्ठ ५३)

डी-सी₃ या डैकोटा

डी-सी₄ या स्काइमास्टर

इंडियन एयर लाइंस के वायुयान : डैकोटा प्रदायक (feeder) मार्गों पर चलता है; वाइकाउंट मुख्य मार्गों पर चलता है।

स्काइमास्टर से रात्रि की वायु डाक सेवा का कार्य लिया जाता है; फ्रेंडशिप प्रदायक मार्गों पर डैकोटा विमानों का स्थान अब ले रहा है।
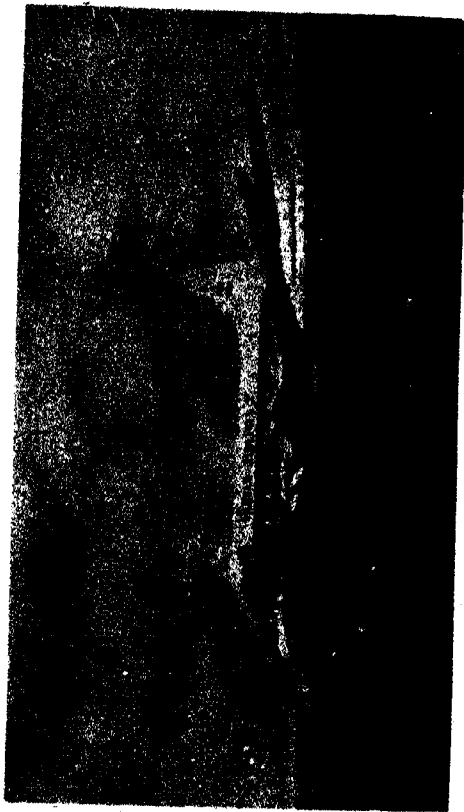
वाइकाउंट

एफ़-२७ या फ्रेंडशिप
(इंडियन एयर लाइन्स के सौजन्य से प्राप्त)

उत्खनन तथा उत्तर प्रदेश (देखें पृष्ठ ५६)
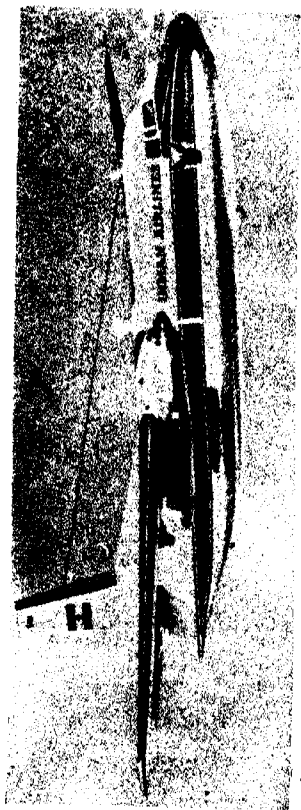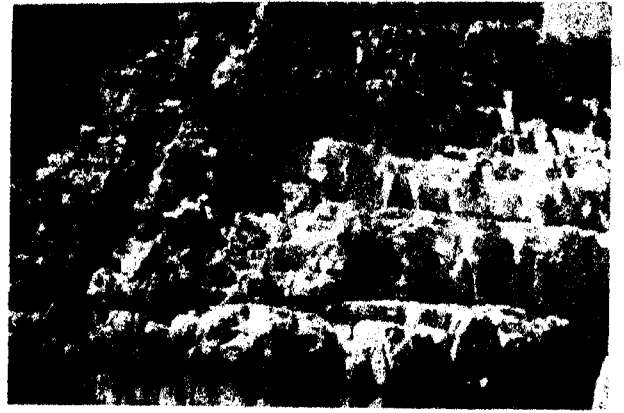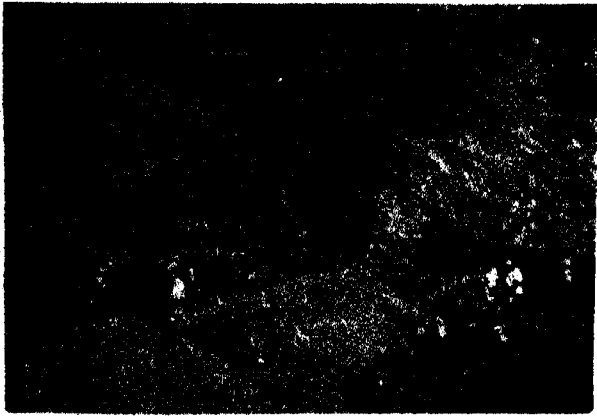
बुलंद दरवाजा, फतेहपुर सिकरी, जिला आगरा, उत्तर प्रदेश
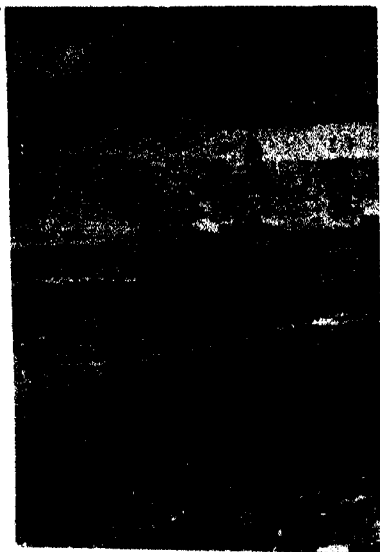
उत्खनन

ऊपर बाईं ओर : मैंगनीज़ की खान; ऊपर दाईं ओर : मार्बल राक्स, जबलपुर—चट्टान की दरारें भली प्रकार विकसित हैं, जिनसे उत्खनन सरल हो जाता है; नीचे बाईं ओर : कोयले का उत्खनन; नीचे दाहिनी ओर : अग्नि मृत्तिका के निक्षेप का उत्खनन। इस चित्र में एक विभंग (fault) भी दिखाई पड़ रहा है।
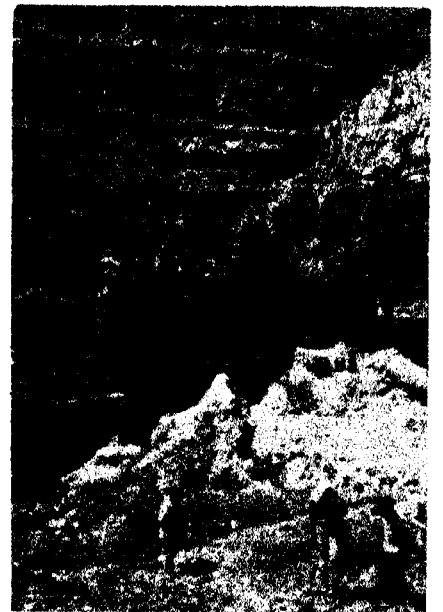
प्रदेश और राजस्थान के बाद चतुर्थ स्थान) और जनसंख्या ७,३६,५०,००० (१९६१) (भारत के राज्यों में प्रथम स्थान) है। वर्तमान उत्तर प्रदेश अपनी पूर्ववत् क्षेत्रीय सीमा के अंतर्गत स्थित आगरा और अवध के संयुक्त प्रांत, रामपुर, टिहरी-गढ़वाल और बनारस की देशी रियासतों तथा अन्य राज्यों के छोटे छोटे टुकड़ों का संमिलन होने से बना है। इस प्रकार पहले के संयुक्त प्रांत में कुल ६,२७६ वर्ग मील क्षेत्र और १३,२५,००० आबादी संमिलित हो गई है। राज्य-पुनर्गठन-अधिनियम के अंतर्गत उत्तर प्रदेश में कोई क्षेत्रीय परिवर्तन नहीं हुआ। इस राज्य का नाम २६ जनवरी, १९५० ई० (गणतंत्र दिवस) से 'संयुक्त प्रांत' से बदलकर 'उत्तर प्रदेश' कर दिया गया। राज्य की राजभाषा हिंदी है। [वर्तमान लेख में, जहाँ कहीं वर्ष स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया है, वहाँ आँकड़े सन् १९५१ के अनुसार दिये गये हैं।]

प्राकृतिक दशा—भौगोलिक दृष्टि से इस प्रदेश को तीन बड़े प्राकृतिक भागों में विभाजित किया जा सकता है :

१. उत्तर का हिमालय पर्वतीय प्रदेश—एक दीवार की भाँति उत्तरी सीमा पर पूर्व-पश्चिम फैला हुआ है। इसमें निम्नलिखित भाग संमिलित हैं : (क) सबसे उत्तर में बृहत् हिमालय की श्रेणियाँ हैं जिनकी औसत ऊँचाई २०,००० फुट से अधिक है और जिनमें गगनचुंबी शिखर नंदादेवी, धौलागिरि आदि स्थित हैं। (ख) बृहत् हिमालय के दक्षिण में मध्य हिमालय की श्रेणियाँ हैं जो औसत में १२,००० फुट ऊँची हैं। (ग) उनके दक्षिण में बाह्य हिमालय (अथवा सिवालिक) की श्रेणियाँ हैं, जिनकी औसत ऊँचाई ५,००० फुट तक है; इनकी ऊँची श्रेणियों पर नैनीताल, मसूरी, अल्मोड़ा, रानीखेत आदि शैलावास (हिल स्टेशन) हैं। इन बाह्य हिमालय की श्रेणियों के बीच में लंबी 'दून' घाटियाँ स्थित हैं जो अपनी स्वास्थ्यप्रदता और उपजाऊपन के लिये संसारप्रसिद्ध हैं। इन दून घाटियों को 'उत्तर प्रदेश का उद्यान' भी कहा जाता है। इन घाटियों के दक्षिण में फैली हुई पादश्रेणियाँ सिवालिक के ही अंग हैं। इनके ठीक नीचे भाबर प्रदेश है जो नदियों द्वारा लाए हुए अवसादों के एकत्र होने से बना है। इसमें नदियाँ भूपृष्ठ के नीचे नीचे बहती हैं।

२. दक्षिण का पठारी प्रदेश—इसको संरचना, प्राकृतिक दशा, मिट्टी, जलवायु के अनुसार दो भागों में विभाजित किया जाता है—प्रथम, मध्य भारत का पश्चिमवाला पठारी भाग, जो बुंदेलखंड के पठार का एक भाग है और नीस नामक चट्टानों से निर्मित है। झाँसी इस भाग का केंद्र है। द्वितीय, जो पूर्व में विंध्याचल की श्रेणियों से (सोन के उत्तर में) और प्राचीन चट्टानों से (सोन के दक्षिण) बना है और जिसके उत्तर स्थित गंगा के मैदानी भाग में मिर्जापुर बसा है। इसे मिर्जापुर का पठार कह सकते हैं। यह भाग ऊँची नीची, छिन्न भिन्न, एकल पहाड़ियों और अत्यंत छोटी घाटियों से बना है।

३. गंगा का मैदान—इस भाग में उत्तर प्रदेश का अधिकांश भाग आता है। यह मैदान गंगा और उसकी सहायक यमुना, रामगंगा, घाघरा आदि नदियों से बना है और समतल, सुप्रवाहित तथा प्रधानतया कृषीय है। इस मैदान को निम्नलिखित उपविभागों में विभक्त किया जा सकता है : (क) ऊपरी गंगा का मैदान जो इलाहाबाद के समीप तक और ४०'' वार्षिक वर्षारेखा के पश्चिम में स्थित कहा जा सकता है। साधारणतया इसका धरातल ४०० फुट (इलाहाबाद) से ७०० फुट (मेरठ)—८०० फुट (सहारनपुर) तक है। इस भाग का अधिकांश संसारप्रसिद्ध गंगा-यमुना-दोआब में पड़ता है। गंगा की तलहटी में जैसे जैसे हम ऊपर चढ़ते जाते हैं, वर्षा की मात्रा कम होती जाती है। अतः ४०''-३०'' वर्षावाले प्रदेश को मध्य का मैदानी भाग और ३०'' से कम वर्षावाले पश्चिमी, अपेक्षाकृत शुष्क भाग को पश्चिम का मैदानी भाग कहते हैं। (ख) मध्य गंगा का मैदान : इसका अर्ध भाग इलाहाबाद से पूर्व उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में पड़ता है और शेष अर्ध भाग बिहार में पटना नगर तक पहुँचता है। इस भाग में गंगा की सहायक नदियाँ—घाघरा, गंडक, सोन आदि—बहुत जल लाती हैं। इन नदियों की तलहटियाँ उनके द्वारा एकत्र मिट्टी के कारण अत्यंत छिछली हो गई हैं, अतः वर्षा ऋतु में नदियों का मार्गपरिवर्तन होता रहता है और भीषण बाढ़ आ जाया करती है। अतः मध्य गंगा की तलहटी में अनेक छिछली झीलें, दलदल तथा लवणपात्र हैं। ये या तो नदियों के पुराने छोड़े हुए मार्ग के कारण झील के रूप में हैं अथवा नदियों के बीच दलदल के रूप में। गंगा नदी के दक्षिण की तंग पट्टी की भूमि अधिक सूखी है और यहाँ दलदल बहुत कम हैं।

तराई—गंगा के मैदान और उत्तर के हिमालय पादपर्वतीय एवं भाबर प्रदेश के मध्य एक सँकरी पट्टी है, जिसका धरातल मैदानी भाग से अपेक्षाकृत ऊँचा है, परंतु जल की निकासी बहुत ही कुव्यवस्थित है। जो नदियाँ भाबर प्रदेश में धरातल के नीचे चली जाती हैं वे इस भाग में धरातल पर आ जाती हैं। तराई का भाग बहुधा लंबी मोटी घास एवं जंगलों से ढका रहता है। यह भाग आर्द्र, अस्वास्थ्यकर एवं मच्छरों से भरा है; अतः यहाँ आबादी कम है। तराई और मैदान की मिलनरेखा पर नगरों की एक पंक्ति मिलती है, जिसपर सहारनपुर, पीलीभीत, खीरी, बहराइच, गोरखपुर आदि बस गए हैं। इन्हें आधार मानकर अब सरकार तथा जनता द्वारा तराई में फसल उगाने, लकड़ी काटने आदि के आर्थिक प्रयत्न किए जा रहे हैं।

जलप्रणाली—राज्य की मुख्य नदी गंगा है जिसमें बाईं ओर से रामगंगा, गोमती और घाघरा अथवा सरयू और दाईं ओर से यमुना आ मिलती हैं। गंगा नदी टेहरी-गढ़वाल जिले के देवप्रयाग नामक स्थान पर अलकनंदा और भागीरथी के मिलने से बनती है और हरिद्वार के पास मैदान में उतरकर राज्य की दक्षिण-पूर्वी दिशा में बहती है। यमुना नदी इसके दाएँ हिमालय से निकलकर इस प्रदेश की पश्चिमी तथा दक्षिणी सीमा के पास से बहती है और इलाहाबाद में गंगा से मिल जाती है। अतः ऊपरी गंगा की तलहटी का एक बड़ा भाग गंगा-यमुना के दोआब से बना है। दक्षिण के पठारी भागों से चंबल, सिंध, बेतवा और केन आदि नदियाँ यमुना से मिलती हैं। रामगंगा गढ़वाल से निकलती है और रुहेलखंड में बहकर कन्नौज के पास गंगा से मिल जाती है। गंगा के उत्तरी हिस्से को घाघरा दो भागों में बाँटती है और यह अपनी सहायक नदियों—शारदा, राप्ती—के साथ बहुत जल लाती है। घाघरा इस राज्य के बाहर पटना के समीप गंगा से मिल जाती है। सरयू पार क्षेत्र को राप्ती दो भागों में विभाजित करती है। गोमती नदी अपनी सहायक सई नदी के साथ घाघरा-गंगा के दोआब में बहती है और गाजीपुर जिले में सैदपुर के पास गंगा से मिल जाती है। पूर्वोक्त नदितयाँ पूर्वी जिलों में बहुत छिछली हो गई हैं और बहुधा मार्गपरिवर्तन कर ी रहती हैं। इनमें बरसात में भीषण बाढ़ आती रहती है। यमुना और उसकी दक्षिणी सहायक नदियों, विशेषतया चंबल, ने बहुत सी भूमि को काट छाँटकर ऊबड़ खाबड़ बना दिया है और मिट्टी का कटाव बहुत अधिक हुआ है।

भूविज्ञान—उत्तर का पर्वतीय प्रदेश भूवैज्ञानिक दृष्टि से बड़ा जटिल है और इसमें पृथ्वी के इतिहास के कैंब्रियन युग से प्रादिनूतन युग तक के सब युगों के नमूने विद्यमान हैं। इन पर्वतों का आंतरक (हीर) ठोस, मणिभ और रूपांतरित चट्टानों का बना हुआ है, जिनमें प्राचीन अजीवाश्मप्रद (अनफ़ॉसिलीफ़ेरस) अवसाद शिलाएँ भी संमिलित हैं। बाह्य हिमालय तृतीय युगीन अवसादीय नदीनिक्षेपों (डिपाजिट्स) से बने हैं। हिमालय की पादश्रेणियों में बालू और बजरी अधिक मिलती हैं। ये नदियों के अवसादीय निक्षेपों के कालांतर में उठ जाने के कारण पर्वत हो गए हैं। ये हिमालय प्रदेशीय पर्वत नए भंजमय (फ़ोल्डेड) पर्वत हैं। हिमालय को उठानेवाली शक्तियाँ अब भी गतिशील हैं, इसलिये पृथ्वी के इन दुर्बल भागों में पड़े स्थानों में भूकंप की आशंका बराबर बनी रहती है। मिर्जापुर का पठारी प्रदेश अपेक्षाकृत अति प्राचीन है और नदियों द्वारा कट छँट गया है। सोन के उत्तरवाला भाग विंध्य समतल अवसाद शैलों से बना है, जिसमें बलुआ पत्थर, जंबशिला (शेल) और चूने के पत्थर मुख्य हैं। सोन के उस पार का प्रदेश पूर्वी सतपुड़ा की श्रेणियों से युक्त है जिनमें आग्नय एवं परिवर्तित शिलाएँ विद्यमान हैं। बुंदेलखंड क्षेत्र में चट्टानें प्राचीन मणिभ ग्रैनाइट और नीस की बनी हुई हैं। गंगा का मैदानी भाग तथा दून घाटी मुख्यतः जलोढ़ (एलूवियम) से बनी हुई हैं। गंगा के मैदान में लगभग ३००० फुट तक जलोढ़ जमी हुई है, जिससे नीचे की भूरचना छिप गई है। पुराना जलोढ़वाला भाग, जो बाढ़ से रक्षित रहता है, बाँगर कहलाता है। नई जलोढ़वाला बाढ़पीड़ित क्षेत्र खादर कहलाता है।

खनिज पदार्थ—अधिकांश भाग जलोढ़ निर्मित होने के कारण खनिजों की दृष्टि से उत्तर प्रदेश विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। शेष भागों में भी अभी तक राज्य के खनिज साधनों का पूर्ण रूप से अनुसंधान नहीं हो सका है।

हिमालय प्रदेश में कुछ पुराने लौहखनन के स्थानों के अवशेष मिलते हैं। नई खोजों से गढ़वाल जिले में जिप्सम, अल्मोड़ा एवं कुमायूँ पर्वतों में मैग्नेसाइट और गढ़वाल तथा अल्मोड़ा में ताँबे के निक्षेपों का पता चला है। हिमालय में अनुमानतः खनिज तैल का अमित भांडार है जिसकी खोज फलदायक सिद्ध हो सकती है। इसके अतिरिक्त हिमालय के विभिन्न भागों में चूना पत्थर और स्लेट अधिक मात्रा में प्राप्य हैं। दक्षिणी पठारी प्रदेश में कुछ लोहा और कोयला (मिर्जापुर जिला के सिंगरौली क्षेत्र में) मिलता है, परंतु अभी आर्थिक रूप में इसका उत्पादन संभव नहीं हो सका है। यहाँ भी पुराने लौहखनन के अवशेष मिलते हैं। यहाँ चूने का पत्थर बहुत मात्रा में है, जिसके कारण चुर्क में सीमेंट का एक बड़ा कारखाना चल रहा है। इन स्थानों से चूना भी खूब मिलता है। विंध्य श्रेणियों का बलुआ पत्थर इमारतों के निर्माण के लिये बहुत उपयुक्त है और इसका उपयोग राज्य में खूब होता है। इसकी कई खदानें केवल मिर्जापुर जिले में ही चलती हैं।

मैदानी भाग में आर्थिक महत्व का कंकड़ मिलता है, जो सड़क बनाने के उपयोग में आता है। इससे चूना भी बनता है। इसके तथा बालू और मिट्टी के अतिरिक्त मैदानी भाग में आर्थिक महत्व की अन्य सामग्री शोरा है, जो कहीं कहीं मिट्टी के पृष्ठ पर प्रस्फुटन (एफ्लोरेसेंस) के रूप में मिलता है। दक्षिण के कुछ चूना पत्थर विभिन्न रंगों के होते हैं और उनसे सजावट का काम लिया जाता है। झाँसी जिले की चरखारी तहसील (पहले के चरखारी देशी राज्य) में पहले कुछ हीरे भी निकाले गए थे।

जलवायु—साधारणतया उत्तर प्रदेश की जलवायु उष्ण और शुष्क है। उत्तर का हिमालय पर्वतीय प्रदेश अपेक्षाकृत ठंढा है और वर्षा यहाँ मैदानी भाग से अधिक होती है। यहाँ ताप का औसत ५५° फा० और वर्षा का ६०'' से अधिक रहता है। तराई में ४०'' से ८०'' तक वर्षा होती है जिसका अधिकांश जुलाई अगस्त में बरसता है। वर्षा पूर्व से पश्चिम की ओर घटती जाती है। जनवरी में ताप ६०° फा० से ६५° फा० और

औसत गर्मी में ८०° फा० से अधिक रहता है। मैदानी भाग गर्मी में शुष्क उष्ण, वर्षा में आर्द्र उष्ण और जाड़े में ठंढा एवं शुष्क रहता है। ग्रीष्म ऋतु में ताप बहुधा ११५° फा० तक चला जाता है और दस बजे दिन से पाँच बजे शाम तक भीषण लू के रूप में पछुआ हवा बहती रहती है।

इलाहाबाद से पश्चिम जाने पर जौ, गेहूँ, बाजरा, ज्वार के खेत अधिक मिलते हैं और पूरब बढ़ने पर आर्द्रताप्रिय शस्यों (धान आदि) की खेती बढ़ती जाती है। संपूर्ण प्रदेश में जाड़े की ऋतु (नवंबर से फरवरी तक) बड़ी सुहावनी होती है। कभी कभी पाला पड़ता है और शीतलहरी दौड़ जाती है। वर्षा ऋतु की वर्षा बंगाल की खाड़ी के पावस से होती है। दक्षिणी पठारी प्रदेश में वार्षिक वर्षा का औसत २०''–४०'' रहता है और जनवरी का ताप ५५° फा० से ६५° तक रहता है। यहाँ चट्टानी धरातल एवं शस्यहीन चट्टानी मिट्टी के कारण गर्मी की ऋतु बहुत गरम और सूखी रहती है।

मिट्टी, वर्षा की विषमता और सिंचाई—उत्तर प्रदेश के मैदानी भाग एवं दून घाटी की मिट्टी जलोढ़ होने के कारण उपजाऊ है। नदियों के किनारे के पास खादर मिट्टी रहती है। बाँगर में अच्छे जलनिकासवाली दोमट मिट्टी पाई जाती है जिसके नीचे अधिकतर कंकड़ की परतें होती हैं। राज्य में दोमट (लोम), मटियार (क्ले) और भूर या बलुआ तथा इनके मिश्रण से बनी कई प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं। मटियार तथा करैल मिट्टी पूर्वी भाग के निम्न भागों में मिलती है और धान के लिये उपयुक्त है। दोमट अपेक्षाकृत ऊँचे भागों में मिलती है और सींचने पर अत्यंत उपजाऊ होती है। दून घाटी की दोमट और मटियार मिट्टियाँ चाय तथा धान के लिये अत्यंत उपजाऊ हैं। कुमायूँ क्षेत्र में चट्टानी मिट्टी मिलती हैं, पर कहीं कहीं ढालों पर उपजाऊ मिट्टी मिलती है। अल्मोड़ा जिले में जंगली प्रदेश की भूरी मिट्टी फलों के पौधों के लिये अत्यंत उपजाऊ है। दक्षिण के पठारी भागों में तथा मध्य मैदान के फतेहगढ़, कानपुर तथा इलाहाबाद जिलों में राकर, काबर, परवा और मार मिट्टियाँ पाई जाती हैं जो बुंदेलखंड के पठारी भागों की मिट्टी हैं। ये मिट्टियाँ अपेक्षाकृत उपजाऊ तथा शुष्क होती हैं। अपेक्षाकृत शुष्क भागों में एक प्रकार की क्षारीय मिट्टी मिलती है जिसे रेह कहते हैं। यह मिट्टी भूमि को ऊसर बनाती है। गंगा-घाघरा-दोआब में ऊसर मिट्टी की अपेक्षाकृत प्रचुरता है।

कुछ भागों में मिट्टी का अपक्षरण बड़े वेग से जारी है और कई फुट मिट्टी की तहें कट गई हैं। फलतः बड़े बड़े खड्ड बन गए हैं। चंबल, बेतवा, यमुना और गोमती की घाटी में इनके उदाहरण बड़ी संख्या में मिलते हैं।

उत्तर प्रदेश कृषिप्रधान राज्य है, अतः इसका भाग्य वर्षा की मात्रा, निश्चितता और समयानुकूलता पर निर्भर रहता है। परंतु न तो वर्षा की मात्रा और न समयानुकूलता ही निश्चितप्राय है, अतः कभी सूखा से, कभी भीषण वर्षा एवं बाढ़ तथा मिट्टी के कटाव से शस्यहानि होती है। कभी फसलों का न बोया जाना, अथवा खड़ी फसलों का नाश आदि के रूप में भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। साधारणतया प्रति पाँच वर्ष में वर्षा समयानुकूल और पर्याप्त मात्रा में होती है। इस अनिश्चितता से यहाँ के किसान बड़े दुःखी रहते हैं।

अतः सिंचाई उत्तर प्रदेश की कृषि के लिये अत्यंत आवश्यक है। इससे कृषि की निश्चितता बढ़ जाती है। उत्तर प्रदेश सिंचाई के लिये संसार-प्रसिद्ध है। यहाँ कुओं, तालाबों, नलकूपों (ट्यूब वेल) एवं नहरों से अनेक स्थानों में सिंचाई होती है। भारत के सभी राज्यों से अधिक एकड़ (१९५५–५६ में १,२३,३५,००० एकड़) में यहाँ सिंचाई होती है, परंतु यह कुल बोई जानेवाली भूमि का केवल २९.४ प्रति शत है। चालू योजनाओं के पूरी होने पर १९,२०,००० एकड़ और भूमि की सिंचाई की सुविधा प्राप्त हो जायगी। १९५१ के पहले भारत के कुल २,५०० नलकूपों में से २,३०० केवल उत्तर प्रदेश में थे, तो भी ये पर्याप्त न थे। उस वर्ष ३,०९५ पाताल कुएँ बनवाने की योजना प्रारंभ हुई, जिनमें से १९५५ तक २,३५२ तैयार हो चुके थे। जलोढ़ मिट्टी के निक्षेप, समतल मैदान तथा कम गहराई पर ही पानी मिलने के कारण कुएँ कम खर्च में बन जाते हैं; अतः कुओं से भी प्रदेश के प्रत्येक भाग में सिंचाई होती है। किसान कुओं से पानी निकालने के लिये चरसा या पुरवट, ढेकली तथा रहट का प्रयोग करते हैं। नहरों से केवल ४४,६३,००० एकड़ में ही सिंचाई होती है। ये नहरें राज्य की बड़ी नदियों से निकाली गई हैं। इनमें प्रमुख नहरें गंगा की उत्तरी और दक्षिणी नहरें, यमुना की पूर्वी यमुना नहर और आगरा नहर तथा शारदा नहर हैं। शारदा नहर को बढ़ाकर जौनपुर तथा आजमगढ़ जिले को भी सींचने के लिये नहरें खोदी जा रही हैं।

सिंचाई की सुविधा प्रदान करने में पूर्वी उत्तर प्रदेश ब्रिटिश काल में भुला सा दिया गया था। नहरों तथा नलकूपों का सारा प्रबंध पश्चिमी जिलों के लिये किया गया था। अतः पूर्वी जिले अब तक इस दुरंगी राजनीति के शिकार होकर पीड़ित हैं, जब कि पश्चिमी उत्तर प्रदेश आर्थिक एवं अन्य दृष्टियों से अधिक समृद्ध है। यही नहीं, प्रत्येक वर्ष आनेवाली प्रलयंकरी बाढ़ों से भी रक्षा का कोई विशेष प्रबंध पूर्वी जिलों के लिये नहीं हुआ है। संतोष का विषय है कि अब राज्य सरकार इधर भी ध्यान देने लगी है।

बहुधंधी योजनाएँ—राज्य में सैकड़ों छोटे बाँधों के बाँधने, कुएँ खोदने, रहट लगाने आदि कामों के अतिरिक्त बहुधंधी योजनाएँ भी चालू की गई हैं, जिनमें मिरजापुर की रेणु (रिहंड) योजना सर्वप्रमुख है। इससे सारे पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं लखनऊ तक के इलाकों को बिजली दी जायगी तथा दस लाख एकड़ भूमि में सिंचाई होगी। ललितपुर (झाँसी) का बाँध, कर्मनाशा पर नौगढ़ का बाँध, चंद्रप्रभा बाँध आदि अपेक्षाकृत छोटी योजनाएँ हैं।

जंगल—राज्य में कुल १,०५,५४,७६० एकड़ में जंगल लगे हुए हैं (१९५५–५६) जो राज्य की १४.३ प्रति शत भूमि में हैं। राज्य के जंगल बड़े संपन्न और विभिन्न प्रकार के हैं। तराई के घने जंगलों से साखू की बड़ी मूल्यवान् लकड़ी मिलती है। राज्य में शीशम के वृक्ष भी, जो कुर्सी मेज आदि के लिये बड़े उत्तम होते हैं, अधिक पाए जाते हैं। बिखरे जंगलों तथा मैदानी भागों में महुआ के वृक्ष अधिकता से मिलते हैं। कुर्सी आदि बनाने योग्य लकड़ी देनेवाले अन्य कई प्रकार के वृक्ष भी राज्य में मिलते हैं। उत्तर के हिमालय के पहाड़ी प्रदेश में चीड़ सदृश नरम लकड़ीवाले घने वन हैं। मैदानों के फलवाले बागों में आम, अमरूद, बेर आदि तथा हिमालय के क्षेत्रों में सेब, नासपाती, खूबानी आदि उगाए जाते हैं। मैदानों के जंगल खेती के लिये काट डाले गए हैं, जिससे मिट्टी का अपक्षरण बढ़ गया है। अब राज्य सरकार उचित स्थानों पर जंगल लगा रही है।

जीवजंतु—विभिन्न नस्लों के पशु, जैसे बकरियाँ, भेड़ें, घोड़े, खच्चर, गदहे, आदि करोड़ों की संख्या में राज्य में पाए जाते हैं। हिंसक जीव, बाघ, चीते आदि पहाड़ी खोहों तथा तराई भागों में बहुत मिलते हैं। नीलगाय, बंदर और हिरन भी बहुतायत से मिलते हैं। शिकारी चिड़ियों में जंगली बत्तख, चाहा, जंगली मुर्गी और मोर प्रमुख हैं। १९५१ में अनुमानतः २,३५,००,००० गाय बैल; ९२,००,००० भैंसें; १६,००,००० भेड़ें; ५२,००,००० बकरियाँ; ४,००,००० घोड़े और टट्टू; ३,००,००० खच्चर और गदहे; ३९,००० ऊँट तथा ८,००,००० सूअर थे।

कृषि—उत्तर प्रदेश कृषिप्रधान है और यहाँ साल में मुख्यतः दो फसलें काटी जाती हैं: (१) खरीफ अर्थात् धान, मक्का, ज्वार, सावाँ आदि जो वर्षा के प्रारंभ में बोई जाती हैं और अक्टूबर से दिसंबर तक में काटी जाती हैं; (२) रबी, अर्थात् गेहूँ, जौ, चना, मटर जो अक्टूबर या नवंबर में बोई जाती हैं और मार्च अप्रैल में काटी जाती हैं। कृषि में कुल जनसंख्या के ७४ प्रति शत लोग लगे हुए हैं। पर कुल ग्रामीण जनसंख्या का ८६ प्रति शत कृषक है। अधिकांश जनता के खेतिहर होते हुए भी कृषि की हालत अच्छी नहीं है। १९५५–५६ में ४,१६,७०,४५१ एकड़ अर्थात् ५६ प्रति शत भूमि में खेती हुई। इसमें कुल बोई भूमि की २९.४ प्रति शत सींची गई और ७०.६ प्रति शत असिंचित रही। कुल बोई भूमि के २५ प्रति शत से भी कम में दो फसलें उपजाई गईं। राज्य में खाद्य फसलों की कुल उपज लगभग १,१९,००,००० टन हुई। इनमें सर्वप्रथम स्थान गेहूँ का है, जो ९९,६४,७७९ एकड़ में २३,२३,००० टन हुआ। द्वितीय फसल धान है जो ९२,९७,५४३ एकड़ में ३१,९०,००० टन हुआ। राज्य में अन्य खाद्यान्नों में महत्वानुसार क्रमशः जौ, ज्वार, बाजरा, चना, मड़ुआ, कोदो, सावाँ, मक्का आदि का स्थान है। दालों में चना, अरहर, मसूर, मूँग और उर्द आदि प्रमुख हैं।

गेहूँ मध्य तथा पश्चिमी जिलों में और धान पूर्वी जिलों में अधिक होता है। राज्य में व्यापारिक फसलें केवल ३४,७१,५६६ एकड़ भूमि अर्थात् कुल कर्षित भूमि के ७ प्रति शत से भी कम में उगाई गईं। व्यापारिक फसलों में गन्ना, तेलहन (तीसी, सरसों, मूँगफली, रेंड़, तिल) तथा कपास और जूट प्रमुख हैं। गन्ना मुख्यतः पूर्वी जिलों एवं पश्चिम के सिंचित जिलों में, कपास पश्चिम के जिलों में, चाय उत्तर के पहाड़ी जिलों तथा दून घाटी में और जूट तराई में होता है। स्थानीय रूप से मसाले और तंबाकू मुख्य हैं। यह राज्य भारत का सबसे बड़ा अफीम उत्पन्न करनेवाला है। फल और तरकारियाँ सर्वत्र, विशेषकर नगरों के पास, उगाई जाती हैं। खाद्यान्नों में कुल कर्षित भूमि के ६३ प्रति शत से भी अधिक भूमि पर खाद्यान्न फसलें उगाकर भी राज्य खाद्यान्नों की कठिनाई अनुभव करता है। इसके प्रमुख कारण सिंचाई की कमी, पुराने ढंग की खेती, अनुपयुक्त बीज, छोटे अनार्थिक चक, किसानों की ऋणग्रस्तता तथा उत्साह की कमी, जिनसे प्रति एकड़ उपज कम होती है, खाद्यान्नों की चोरबाजारी, वितरण की अवैज्ञानिक रीति आदि हैं।

राज्य में जोतने योग्य भूमि लगभग, ४,२०,५७,००० एकड़ है जिसमें कुल ४,१६,७०,००० एकड़ जोती जा रही है। ऐसी भूमि जो जोतने योग्य बनाई जा सकती है ५,२८,३७,००० एकड़ है, अतः अभी लगभग १,१६, ६२,००० एकड़ भूमि खेती के योग्य बन सकती है, जिसमें से केवल सुधार द्वारा लगभग ७७,००,००० एकड़ भूमि उपजाऊ बनाई जा सकती है। इसमें से १० लाख एकड़ बंजर,ऊसर या अपक्षारित होने से अनुपजाऊ हो गई है।

उद्योग धंधे—राज्य में प्रमुख उद्योग चीनी, धातु तथा इंजीनियरी (सूती, ऊनी और जूट के) कपड़े, चमड़ा, काच, रासायनिक उद्योग, आटा, चावल तथा तेल की मिलों आदि के हैं। सन् १९५३ में राज्य में १,६४६ रजिस्टर्ड कारखाने थे, जिनमें २,०६,७४० व्यक्ति काम करते थे। ५८१ व्यापारिक संघ थे, जिनकी सदस्यसंख्या २,३१,३९८ थी। पूर्वोक्त धंधों के अतिरिक्त बड़े उद्योगों में शक्ति ऐल्कोहल (पावर ऐल्कोहल), वनस्पति घी, रजन और तारपीन (रेजिन और टरपेंटाइन), लालटेन बनाने, कागज तथा तत्संबंधी उद्योग, ढरकी (बाबिन), स्टार्च, कृषि के औजार, खैर, दियासलाई, सिमेंट तथा लकड़ी के उद्योग, सिगरेट और लाख (लाह) आदि के उद्योग प्रमुख हैं। कानपुर न केवल राज्य का, प्रत्युत कलकत्ता और बंबई के बाद देश का, सर्वप्रमुख औद्योगिक केंद्र है जहाँ सूती कपड़ों की ३४ मिलें, चमड़े की १७ तथा अन्य विभिन्न उद्योगों की कई मिलें हैं। राज्य में काच तथा चूड़ियों के ८६, लोहा, इस्पात तथा काँसा ढालने के ५१, जूट के ३, दियासलाई के ४, खोखले बरतनों के ४०, चीनी के ८६, कागज तथा गत्ते के ६, चमड़े के २२, वनस्पति घी के ५, साबुन के २५ बड़े, तेल के १५० बड़े एवं २५० छोटे, मदिरा के १३, इंजीनियरी के ९६ तथा रासायनिक उद्योग के १५ बड़े एकक (यूनिट) थे। राज्य सरकार ने मिर्जापुर जिले में चुर्क में सिमेंट का कारखाना खोला है, जिसकी प्रति दिन उत्पादन की क्षमता ७०० टन है। वहाँ ऐल्युमिनियम का कारखाना खोलने की भी योजना है। राज्य में कानपुर के अतिरिक्त आगरा तथा रामपुर के चमड़े के काम, वाराणसी में जरी के कपड़ और बनारसी साड़ी, वाराणसी, मिर्जापुर तथा मुरादाबाद के पीतल के धंधे, शाहजहाँपुर तथा नैनीताल के मदिरा के कारखाने, लखनऊ तथा सहारनपुर के कागज के कारखाने, भदोही के कालीन के तथा आगरा के दरी के धंधे, लखनऊ के चिकन के कार्य, अलीगढ़ का धातु एवं ताले का धंधा, बरेली एवं सहारनपुर का फर्नीचर का कार्य, मिर्जापुर का लाख एवं बर्तन का व्यापार, चुनार और खुर्जा के मिट्टी एवं चीनी मिट्टी के बर्तनों के कार्य, फिरोजाबाद और बहजोई के चूड़ियों के धंधे प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त सभी बड़े नगरों तथा अधिकांश छोटे नगरों में आटा, चावल तथा तेल की मिलें और बिस्कुट एवं अन्य खाद्यान्न पदार्थों के कारखाने चलते हैं।

इन बड़े उद्योगों के अतिरिक्त यह राज्य घरेलू एवं कुटीर उद्योगों के लिये भी प्रसिद्ध है। इनमें हाथ करघे के कपड़े (मऊ), रासायनिक पदार्थ, टिन के बर्तन, लोहे के ट्रंक, प्लास्टिक के सामान, कारबन कागज, फलों का संरक्षण, साइकिल, धातु के यथार्थमापी यंत्र, कैंची तथा छुरी, बटन, हड्डी की खाद, आदि के उद्योग दिनानुदिन बढ़ रहे हैं। विभाजन के बाद मेरठ एवं बरेली में सभी प्रकार के खेलों के सामान बनने लगे हैं।

यातायात के साधन—उत्तर प्रदेश में यातायात के साधन समृद्ध हैं। राज्य में रेलों का घना जाल बिछा हुआ है और प्रत्येक बड़ा नगर एक या दो रेलवे लाइनों का जंकशन है। घाघरा के उत्तर (सरयू पार मैदान तथा घाघरा दोआब पूर्व में) मीटर गेज (उ० पू० रे०) लाइन है, प्रायः शेष भाग में बड़ी (ब्रॉड गेज) लाइनें हैं। गंगा और इसकी सहायक नदियों में नावें चला करती हैं। आगरा और गंगा की नहरों में भी नावें चलती हैं। १९५६ में अनुमानतः ११,६७४ मील पक्की एवं ३४,४८१ मील कच्ची सड़कें थीं। राज्य सरकार की बसें मुख्य सड़कों पर चलने लगी हैं। राज्य सरकार ने सात यातायात क्षेत्र बनाए हैं जो मेरठ, बरेली, आगरा, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद और गोरखपुर क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। कुमायूँ क्षेत्र बरेली में और देहरादून मेरठ में मिला दिया गया है। सभी प्रमुख नगरों के पास हवाई अड्डे भी स्थापित किए गए हैं। पर्यटक उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिये सरकार ने पहाड़ी मार्गों, नगरों एवं अन्य आकर्षण-प्रधान केंद्रों में यातायात के साधन बढ़ा दिए हैं। नगरों एवं उपनगरों के बीच में, जैसे वाराणसी मुगलसराय, इलाहाबाद नैनी आदि में, नगर-परिवहन-सेवाएँ प्रारंभ हो गई हैं।

व्यापार—यातायात के साधनों एवं कृषि तथा उद्योगों के विकास के साथ साथ राज्य का व्यापार बढ़ रहा है। यहाँ का निर्यात मुख्यतः खेती की उपजें हैं; जैसे गेहूँ, तेलहन, दलहन, राई आदि; इनके अतिरिक्त चीनी, शीरा, लकड़ी और जंगल की अन्य उपज, जैसे रँगने के सामान, घी, तंबाकू आदि हैं। मुख्य आयात सूती, ऊनी, रेशमी कपड़े, मशीनें, धातु के सामान, अन्य तैयार माल, नमक और प्रति दिन की वस्तुएँ हैं। राज्य के प्रमुख व्यापारिक केंद्र कानपुर, इलाहाबाद, आगरा, वाराणसी, मिर्जापुर, हापुड़, मेरठ, मुरादाबाद, गोरखपुर तथा कुछ अन्य नगर हैं।

जनसंख्या—१९५१ की जनगणना के अनुसार राज्य की कुल जनसंख्या ६,३२,१५,७४२ थी; अतः जनसंख्या का प्रति वर्ग मील घनत्व ५५७ था। इस प्रकार उत्तर प्रदेश का भारत के राज्यों में कुल जनसंख्या में प्रथम तथा प्रति वर्ग मील घनत्व में पंचम स्थान है। यह राज्य भारत के केवल ९ प्रति शत क्षेत्र पर बसा है, परंतु देश की कुल जनसंख्या का १८ प्रति शत, अर्थात् लगभग पाँचवाँ भाग, यहाँ रहता है। यहाँ १८७२ से लेकर अब तक (केवल १९११ एवं १९२१ की जनगणनाओं के ह्रास को छोड़कर) जनसंख्या एवं घनत्व दोनों की निरंतर वृद्धि होती रही है। १८७२ में जनसंख्या ४,२७, ८०,२९२ थी और प्रति वर्ग मील घनत्व ३७७ था, जो आज ५५७ तक पहुँच गया है। १९०१–२१ के बीच में अकाल, महामारी तथा अन्य कई कारणों से जनसंख्या का ह्रास हुआ। १९२१ से पहले और १९२१ के बाद के दशकों में जनसंख्या की कुल वृद्धि में बहुत अंतर है। १९२१ से पहले सर्वाधिक वृद्धि दर (६.०५ प्रति शत) १८८१–१८९१ दशक में हुई; परंतु १९२१ के बाद यह वृद्धिदर ६.४४ प्रति शत (१९२१–३१ में), १२.७१ प्रति शत (१९३१–४१ में) और ११.१६ प्रति शत (१९४१–५१ में) रही। पिछले दशकों में अपेक्षाकृत कम वृद्धिदर के कारण १९०१–५१ के बीच राज्य की जनसंख्या में कुल वृद्धि केवल ३० प्रति शत ही हुई जब कि संपूर्ण देश में इस काल में आबादी ५१.६ प्रति शत बढ़ी है।

राज्य के विभिन्न प्राकृतिक भागों, जिलों, तहसीलों आदि में भी वृद्धि-दर, प्रति वर्ग मील घनत्व आदि में बहुत अंतर है। इस विषमता के लिये क्षेत्रों की विभिन्न प्राकृतिक दशाएँ, वर्षा, मिट्टी, सिंचाई के साधनों में अंतर, कृषि की भिन्न भिन्न उपजें तथा औद्योगिक एवं अन्य प्रकार के विकास में विषमता आदि उत्तरदायी हैं। मैदानी भाग में पूर्व में बलिया से लेकर पश्चिम में मुजफ्फरनगर तक का क्षेत्र घना बसा है। साधारणतया पूरब से पश्चिम में घनत्व घटता जाता है। इसी प्रकार मध्य से उत्तर तथा दक्षिण में भी, दोनों ओर पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण, घनत्व घटता जाता है। हिमालय प्रदेश में घनत्व केवल १३० और दक्षिण के पठारी भाग में २४८ प्रति वर्ग मील है, जब कि मैदान के पश्चिमी भाग में ६५७, मध्य में ७१७ और पूर्वी भाग में ८५० है। घनत्व की विषमताओं का कारण मैदानों में कृषियोग्य भूमि एवं सुविधाओं की अधिकता तथा पहाड़ी भागों में इनकी कमी है। मैदान के पश्चिमी भाग में सिंचाई का सुप्रबंध एवं

पूर्वी भाग में वर्षा की अधिकता (४०'' से अधिक वार्षिक) ऐसे घनत्व के लिये उत्तरदायी है। निम्नांकित तालिका से घनत्व एवं कृषि की सुविधाओं के परस्पर संबंध का विवरण स्पष्ट है :

	कुल भूमि के अनुपात में कुल जोती भूमि का प्रति शत	कुल जोती भूमि का प्रति शत	
		सिंचाई	दो फसली भूमि
भू मैदानी भाग	६८.६	३६.०	२८.२
मध्य मैदानी भाग	६१.६	२६.०	२२.७
पश्चिमी मैदानी भाग	६६.६	३१.४	२०.५
हिमालय प्रदेश	४१.०	१४.१	६.६
दक्षिण का पठारी भाग	१०.४	१०.४	१३.१

राज्य के विभिन्न जिलों की जनसंख्या के घनत्व में भी बहुत अंतर है। सर्वाधिक घने बसे जिले लखनऊ (१,१५६ व्यक्ति प्रति वर्ग मील), बलिया (१,०१०), बनारस (१,००७), और देवरिया (१,००७) हैं, जो मैदानी भाग में विशेषतः पूर्वी भाग में, स्थित हैं। लखनऊ का घनत्व लखनऊ नगर की जनसंख्या के कारण बढ़ गया है। न्यूनतम घने बसे जिले हिमालय प्रदेश के टेहरी-गढ़वाल (६१), गढ़वाल (११४), नैनीताल (१२७), अल्मोड़ा (१४१), तथा उनसे कुछ ही अधिक घनत्ववाले झाँसी क्षेत्र के जिले हैं जो पठारी भाग में स्थित हैं। इसी प्रकार १६०१–५१ के बीच प्रति वर्ग मील घनत्व की कुछ वृद्धि मैदान के पूर्वी भाग में (२२७), मध्य में (१४३), पश्चिमी भाग में (१३६), दक्षिणी पठार में (५८) एवं हिमालय प्रदेश में न्यूनतम (४५) हुई है।

राज्य की ८६.४ प्रति शत जनसंख्या ग्रामीण है और केवल १३.६ जनता नगरों में रहती है। राज्य की कुल नागरिक जनसंख्या लगभग ८६,२६,००० है, जो ४८६ नगरों में रहती है। इसमें से ४५.३ प्रति शत एक लाख से अधिक जनसंख्यावाले नगरों में तथा २३.२ प्रति शत एक लाख से तीस हजार तक की जनसंख्यावाले नगरों में रहती है। अतः कुल मिलाकर ६८.५ प्रति शत नागरिक जनता बड़े नगरों में तथा शेष छोटे नगरों में रहती है। साधारण जनसंख्यावाले नगर उत्तर प्रदेश में प्रत्येक अन्य राज्य से अधिक हैं। राज्य का सबसे बड़ा नगर कानपुर (जनसंख्या ६,४७,७६३) सन् १६६१ की जनसंख्या के अनुसार है, जिसकी वृद्धि तीव्र गति से हुई है। १६वीं शताब्दी में (१८४० तक) यह साधारण गाँव था, परंतु रेलवे के आगमन के कारण यह उत्तर प्रदेश की सबसे बड़ी मंडी और सर्वप्रमुख औद्योगिक केंद्र हो गया है। १६६१ की जनगणना के अनुसार राज्य के अन्य बड़े नगर लखनऊ (जनसंख्या ६,६२,१६६), आगरा (५,५६,१०८), वाराणसी (५,७३,५५८), इलाहाबाद (४,३३,२७२) हैं, जिनका इतिहास अपेक्षाकृत पुराना है। आगरा एवं लखनऊ मध्ययुगीन काल में प्रशासनिक केंद्र तथा वाराणसी और प्रयाग (इलाहाबाद) सदा से धार्मिक एवं सांस्कृतिक केंद्र रहे हैं। ये पाँच बड़े नगर 'कवाल' (KAVAL) नगर कहलाते हैं; यह शब्द इन नगरों के नामों के प्रथम अंग्रेजी अक्षरों को संयुक्त करने से बना है।

इनमें सन् १६६० से नगरनिगम (कॉरपोरेशन) स्थापित हो गए हैं और इनकी उन्नति के लिये इनमें विभिन्न योजनाएँ चालू हैं। इन नगरों में उद्योग एवं व्यापार निरंतर बढ़ रहे हैं। इनके अतिरिक्त पश्चिमी मैदानी भाग में मेरठ (जनसंख्या २,३३,१८३), बरेली (२,०८,०८३), मुरादाबाद (१,६१,८५४), सहारनपुर (१,४८,४३५), अलीगढ़ (१,४१,६१८), रामपुर (१,३४,२७७), मथुरा (१,०५,७७३) एवं शाहजहाँपुर (१,१०,१६३), एक लाख जनसंख्या से ऊपरवाले ये आठ नगर हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश में बनारस के अतिरिक्त केवल गोरखपुर बड़ा नगर (१,३२,४३६) है। उत्तर के पहाड़ी जिलों में केवल देहरादून (१,४४,२१६) तथा दक्षिण के पठारी भाग में केवल झाँसी (१,२७,३६५) बड़े नगर हैं। राज्य की कुल नागरिक जनसंख्या की ४६.१ प्रति शत जनता पश्चिमी मैदानी भाग में, २६.१ प्रति शत मध्य भाग में एवं १५ प्रति शत पूर्वी मैदानी भाग में रहती है। हिमालय प्रदेश एवं दक्षिण के पठारी भाग में केवल ६.४ एवं ३.४ प्रति शत नागरिक जनता रहती है। अतः पूर्व से पश्चिम मैदानी भाग में शहरी आबादी बढ़ती जाती है, जब कि जनसंख्या का घनत्व ठीक इसके विपरीत बढ़ता है। विद्युच्छक्ति एवं सिंचाई के साधनों की व्यवस्था के कारण उद्योग धंधों एवं कृषि का विकास अधिक संभव हो सका जिससे इस क्षेत्र में औद्योगिक एवं व्यापारिक केंद्र अधिक उन्नति कर गए हैं। राज्य के अधिकांश नगर औद्योगिक नहीं, प्रायः पूर्णतया व्यापारिक एवं प्रशासनिक केंद्र मात्र हैं। अतः राज्य में औद्योगिक बस्ती बहुत कम है और वृद्धि की प्रचुर संभावना है।

यहाँ नगरों की स्थापना के कारण भी विभिन्न हैं। कुछ तो प्रारंभ से ही धार्मिक केंद्र थे, जैसे बनारस, इलाहाबाद आदि, कुछ विभिन्न प्रशासकों द्वारा बसाए गए, जैसे बहराइच, बाराबंकी, रायबरेली, जायस, सलोन, डलमऊ, रुद्रपुर, गोरखपुर आदि और कुछ भर राजाओं द्वारा बसाए गए। कुछ राजपूतों द्वारा बसाए गए, जैसे कन्नौज, चउपला (मुरादाबाद में), कोइल (अलीगढ़), हापुड़ और सरधना (मेरठ), बुलंदशहर, इटावा, बदायूँ, उन्नाव, ललितपुर आदि, कुछ अफगानों तथा दिल्ली के शाहंशाहों द्वारा, जैसे एटा, सफीपुर, पुरवा (उन्नाव), बिस्वाँ (सीतापुर), उतरौला (गोंडा), शम्साबाद, साकित (एटा), खुर्जा, अंबेहटा (सहारनपुर) बिसौली (बदायूँ), लहरपुर (सीतापुर), सिकंदरपुर (बलिया), मुहम्मदाबाद (गाजीपुर), सरायमीर (आजमगढ़), जौनपुर आदि, और कुछ मुगलों द्वारा बसाए गए, जैसे मुगलसराय, अकबरपुर, मिरजापुर, जलालाबाद, शाहाबाद, मुरादाबाद, जहाँगीराबाद। अन्य नगर या तो मुगलों द्वारा बसाए गए अथवा प्राचीन स्थानों पर विकसित किए गए। रेलों के आने से कुछ पुराने नगर, जो नदियों के किनारे स्थित थे और नदियों के आवागमन के कारण प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र थे, रेलों पर न पड़ने के कारण समाप्त हो गए अथवा ह्रासप्राय होने लगे। नई सुविधाएँ पाकर कुछ कानपुर की तरह उदित हो उठे। इस प्रदेश में उद्योगों एवं व्यापार की वृद्धि के साथ साथ नगरों की वृद्धि की अधिकाधिक संभावना है।

शिक्षा, संस्कृति और अन्य प्रगति के कार्य—उत्तर प्रदेश शिक्षा का महान् केंद्र है। यहाँ सात बड़े विश्वविद्यालय विभिन्न भागों में, इलाहाबाद, वाराणसी, गोरखपुर, लखनऊ, अलीगढ़, आगरा एवं रुड़की में स्थित हैं। मेरठ एवं कानपुर में भी विश्वविद्यालय स्थापित करने का प्रयास जारी है। रुद्रपुर में ग्रामीण विश्वविद्यालय और वाराणसी, रुड़की एवं प्रयाग में इंजीनियरिंग कालेज, आगरा, लखनऊ एवं कानपुर में मेडिकल कालेज हाल में ही खुल गए हैं। कानपुर तथा वाराणसी में एक एक कृषि विद्यालय भी हैं। देहरादून में सर्वे ऑव इंडिया तथा वन विभागीय खोज केंद्र, लखनऊ में केंद्रीय औषधि अनुसंधान संस्था (सेंट्रल ड्रग रिसर्च इंस्टिट्यूट) एवं राष्ट्रीय वनस्पति उद्यान (नेशनल बोटैनिकल गार्डेंस), कानपुर में शर्करा औद्योगिक संस्था (शुगर टेकनॉलॉजी इंस्टिट्यूट) एवं रुड़की में केंद्रीय भवन निर्माण अनुसंधान संस्था (सेंट्रल बिल्डिंग रिसर्च इंस्टिट्यूट) स्थापित हैं। इनके अतिरिक्त राज्य सरकार ने विभिन्न केंद्रों पर प्रौद्योगिक केंद्र—चमड़े, हाथकरघे, बढ़ईगिरी, तथा अन्य कार्यों के सिखाने के लिये प्रशिक्षण पाठशालाएँ—खोल रखी हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय विकास सेवाखंडों (नेशनल एक्स्टेंशन सर्विस) और पंचायतों तथा रबी एवं खरीफ आंदोलन द्वारा कृषि एवं गाँवों के विकास के प्रयत्न किए जा रहे हैं, जिनसे लोग खेती आदि के नए ढंग अपनाकर अधिकाधिक उत्पादन करें। [रा० लो० सिं०]

उत्तरमीमांसा

उत्तरमीमांसा भारतीय दर्शनों में से एक। उत्तरमीमांसा को शारीरिक मीमांसा और वेदांतदर्शन भी कहते हैं। ये नाम बादरायण के बनाए हुए ब्रह्मसूत्र नामक ग्रंथ के हैं। मीमांसा शब्द का अर्थ है अनुसंधान, गंभीर विचार, खोज। प्राचीन भारत में वेदों को परम प्रमाण माना जाता था। वेद वाङ्मय बहुत विस्तृत है और उसमें यज्ञ, उपासना और ज्ञान संबंधी मंत्र पाए जाते हैं। वे मंत्र (संहिता), ब्राह्मण और आरण्यक-उपनिषद् नामक भागों में विभाजित किए गए हैं। बहुत प्राचीन (भारतीय विचारपद्धति के अनुसार अपौरुषेय) होने के कारण वेदवाक्यों के अर्थ, प्रयोग और परस्पर संबंध समन्वय का ज्ञान लुप्त हो जाने से उनके संबंध में अनुसंधान करने की आवश्यकता पड़ी। मंत्र और ब्राह्मण भागों के अंतर्गत वाक्यों का समन्वय जैमिनि ने अपने ग्रंथ

मीमांसासूत्र (पूर्वमीमांसादर्शन) में किया। मंत्र और ब्राह्मण वेद के पूर्वभाग होने के कारण उनके अर्थ और उपयोग की मीमांसा का नाम पूर्वमीमांसा पड़ा। वेद के उत्तर भाग आरण्यक और उपनिषद् के वाक्यों का समन्वय बादरायण ने ब्रह्मसूत्र नामक ग्रंथ में किया अतएव उसका नाम उत्तरमीमांसा पड़ा। उत्तरमीमांसा शारीरिक मीमांसा भी इस कारण कहलाता है कि इस शरीरधारी आत्मा के लिये उन साधनों और उपासनाओं का संकेत है जिनके द्वारा वह अपने ब्रह्मत्व का अनुभव कर सकता है। इसका नाम वेदांतदर्शन इस कारण पड़ा कि इसमें वेद के अंतिम भाग के वाक्यों के विषयों का समन्वय किया गया है। इसका नाम ब्रह्ममीमांसा अथवा ब्रह्मसूत्र इस कारण पड़ा कि इसमें विशेष विषय ब्रह्म और उसके स्वरूप की मीमांसा है, जब कि पूर्वमीमांसा का विषय यज्ञ और धार्मिक कृत्य हैं।

उत्तरमीमांसा में केवल वेद (आरण्यकों और उपनिषदों के) वाक्यों के अर्थ का निरूपण और समन्वय ही नहीं है, उसमें जीव, जगत् और ब्रह्म संबंधी दार्शनिक समस्याओं पर भी विचार किया गया है। एक सर्वांगीण दर्शन का निर्माण करके उसका युक्तियों द्वारा प्रतिपादन और उससे भिन्न मतवाले दर्शनों का खंडन भी किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह भाग बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता है।

समस्त ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के प्रथम चार सूत्र और दूसरे अध्याय के प्रथम और द्वितीय पादों में वेदांत दर्शन संबंधी प्रायः सभी बातें आ जाती हैं। इनमें ही वेदांत दर्शन के ऊपर जो आक्षेप किए जा सकते हैं वे और वेदांत को दूसरे दर्शनों में---पूर्वमीमांसा, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, पाशुपत दर्शनों में जो उस समय प्रचलित थे---जो त्रुटियाँ दिखाई देती हैं वे आ जाती हैं।

समस्त ग्रंथ सूक्ष्म और दुरूह सूत्रों के रूप में होने के कारण इतना सरल नहीं है कि सब कोई उसका अर्थ और संगति समझ सकें। गुरु लोग इन सूत्रों के द्वारा अपने शिष्यों को उपनिषदों के विचार समझाया करते थे। कालांतर में उनका पूरा ज्ञान लुप्त हो गया और उनके ऊपर भाष्य लिखने की आवश्यकता पड़ी। सबसे प्राचीन भाष्य, जो इस समय प्रचलित और प्राप्य है, श्री शंकराचार्य का है। शंकर के पश्चात् और आचार्यों ने भी अपने अपने संप्रदाय के मतों की पुष्टि करने के लिये और अपने मतों के अनुरूप ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे। श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य, श्री निंबार्काचार्य और श्री वल्लभाचार्य के भाष्य प्रख्यात हैं। इन सब आचार्यों के मत, कुछ अंशों में समान होते हुए भी, बहुत कुछ भिन्न हैं।

स्वयं बादरायण के विचार क्या हैं, यह निश्चित करना और किस आचार्य का भाष्य बादरायण के विचारों का समर्थन करता है और उनके अनुकूल है, यह कहना बहुत कठिन है क्योंकि सूत्र बहुत दुरूह हैं। इस समस्या के साथ एक यह समस्या भी संबद्ध है कि जिन उपनिषद् वाक्यों का ब्रह्मसूत्र में समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है उनके दार्शनिक विचार क्या हैं। बादरायण ने उनको क्या समझा है और भाष्यकारों ने उनको क्या समझा है? वही भाष्य अधिकतर ठीक समझा जाना चाहिए जो उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र दोनों के अनुरूप हो। इस दृष्टि से श्री शंकराचार्य का मत अधिक समीचीन जान पड़ता है। कुछ विद्वान् रामानुजाचार्य के मत को अधिक सूत्रानुकूल बतलाते हैं।

उत्तरमीमांसा का सबसे विशेष दार्शनिक सिद्धांत यह है कि जड़ जगत् का उपादान और निमित्त कारण चेतन ब्रह्म है। जैसे मकड़ी अपने भीतर से ही जाल तानती है, वैसे ही ब्रह्म भी इस जगत् को अपनी ही शक्ति द्वारा उत्पन्न करता है। यही नहीं, वही इसका पालक है और वही इसका संहार भी करता है। जीव और ब्रह्म का तादात्म्य है और अनेक प्रकार के साधनों और उपासनाओं द्वारा वह ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव करके जगत् के कर्मजंजाल से और बारंबार के जीवन और मरण से मुक्त हो जाता है। मुक्तावस्था में परम आनंद का अनुभव करता है।

[भी० ला० आ०]

उत्तररामचरित महाकवि भवभूति का प्रसिद्ध संस्कृत नाटक है, जिसके ७ अंकों में राम के उत्तर जीवन की कथा है। जनापवाद के कारण राम न चाहते हुए भी गर्भवती सीता का परित्याग कर देते हैं। सीतात्याग के बाद विरही राम की दशा का तृतीय अंक में करुण चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो काव्य की दृष्टि से इस नाटक की जान है। भवभूति ने इस दृश्यकाव्य में दांपत्य प्रणय के आदर्श रूप को अंकित किया है। कोमल एवं कठोर भावों की रुचिर व्यंजना, रमणीय और भयावह प्रकृति चित्रों का कुशल अंकन इस नाटक की विशेषताएँ हैं। उत्तररामचरित में नाटकीय व्यापार की गतिमत्ता अवश्य शिथिल है और यह कृति नाटकत्व की अपेक्षा काव्यत्व और गीति नाट्यत्व की अधिक परिचायक है। भवभूति की भावुकता और पांडित्यपूर्ण शैली का चरम परिपाक इस कृति में पूर्णतः लक्षित होता है।

उत्तररामचरित पर अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं जिनमें घनश्याम, वीरराघव, नारायण और रामचंद्र बुधेंद्र की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। इसके अनेक भारतीय संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें अधिक प्रचलित निर्णयसागर संस्करण है, जिसका प्रथम संस्करण सन् १८९९ में बंबई से प्रकाशित हुआ था। इसके और भी अनेक संपादन निकल चुके हैं। इनमें प्रसिद्ध संस्करण ये हैं : सी० एच० टानी द्वारा अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित (कलकत्ता, १८७१), फ्रेंच अनुवाद सहित फ़ेलीनेव (Félix Néve) द्वारा ब्रूसेल्स तथा पेरिस से १८८० में प्रकाशित, डॉ० बेल्वेलकर द्वारा केवल अंग्रेजी अनुवाद तथा भूमिका के रूप में हार्वर्ड ओरिएंटल सीरीज में संपादित (१९१५ ई०)।

[भो० शं० व्या०]

उत्तरा मत्स्य के विराट् नरेश की कन्या और अभिमन्यु की पत्नी; वह अपने सौंदर्य तथा ललित कलाओं के लिये विख्यात थी। महाभारत के अंत में उत्तरा के पुत्र परीक्षित को हस्तिनापुर का राज्य मिला। उसने युद्ध में शस्त्र ग्रहण कर अनेक वीरों को पराजित किया था।

[चं० म०]

उत्तराखंड प्राचीन काल में भारतवर्ष के चार खंड दिशाओं के अनुरूप किए जाते थे। यह उत्तराखंड भारतवर्ष का उत्तरी प्रदेश था। वाराहमिहिर तथा राजशेखर ने अपने ग्रंथों में इस खंड के प्रदेशों का विस्तृत वर्णन किया है। महाभारत के सभापर्व में भी अर्जुन की दिग्विजय के प्रसंग में इन देशों का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है। भारत का उत्तराखंड, राजशेखर के अनुसार, पृथूदक से उत्तर दिशा में पड़ता है। पृथूदक की वर्तमान पहचान 'पिहोवा' से है जो थानेश्वर से पंद्रह मील पश्चिम की ओर है। उत्तरापथ के जनपदों में शक, केकय, वोक्काण, हूण, वनायुज, कंबोज, वाह्लीक, पह्लव, लिंपाक, कुलूत, कीर, तंगण, तुषार, तुरुष्क, बर्बर, हरहूख, हूहुक, सहुड, हंसमार्ग, रमठ, करकंठ आदि का उल्लेख मिलता है (काव्यमीमांसा पृ० ९४)। इनमें सब जनपदों की पहचान तथा स्थिति निश्चित रूप से निर्णीत नहीं हो सकती है, तथापि अनेक जनपद अनुसंधान के द्वारा निश्चित किए जा सकते हैं। इनमें से कुलूत काँगड़ा के पास का कुलू है जिसकी प्राचीन राजधानी नगरकोट थी और आजकल जिसका मुख्य नगर सुल्तानपुर है। कीर जनपद किरथार पहाड़ के उत्तर में दक्षिणी अफगानिस्तान का एक प्रांत था जहाँ नवीं और दसवीं शताब्दी में शाहिवंशी राजा राज करते थे। तुरुष्क देश से तात्पर्य पूरबी तुर्किस्तान से है। तुषार या तुखार वंक्षु नदी (आमू दरिया) की ऊपरी घाटी का प्रदेश है जिसमें बल्ख और बदख्शाँ संमिलित थे। हिंदूकुश पर्वत के उत्तर पश्चिम में वंक्षु की शाखा बल्ख नदी के दोनों ओर की भूमि वाह्लीक जनपद में मानी जाती थी। इसी प्रकार कांबोज जनपद वंक्षु नदी के उस पार स्थित था जिसे आजकल पामीर का ऊँचा पठार कहते हैं। कनिंघम के अनुसार सिंधु नदी के किनारे भंबूर नामक स्थान था जिसका निर्देश तोलेमी ने भी किया है। तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष की विस्तृत उत्तरी सीमा एक ओर तो शकस्थान (ठेठ मंगोल देश का पश्चिमी जनपद) को और दूसरी ओर वनायुज (अरब) को स्पर्श करती थी और मध्य एशिया के समस्त प्रांत इसी सीमा के अंतर्गत माने जाते थे। फलतः शकस्थान से लेकर कन्याकुमारी तक यह प्राचीन भारतवर्ष फैला हुआ था। निःसंदेह यह व्याख्या सर्वमान्य नहीं।

[ब० उ०]

उत्तरी अमरीका क्षेत्रफल (९३,५४,६११ वर्ग मील) तथा जनसंख्या (२४,८१,७६,०००---१९५६) के आधार पर उत्तरी अमरीका संसार का तृतीय बड़ा महाद्वीप है। यह ८° उत्तर अक्षांश से ८२° उत्तर अक्षांश तक एक त्रिभुज की भाँति फैला हुआ है जिसका

आधार उत्तर में तथा शीर्ष दक्षिण में है। इसकी उत्तर-दक्षिण लंबाई लगभग ४,६०० मील तथा पूर्व-पश्चिम चौड़ाई लगभग ४,००० मील है। इस महाद्वीप की समुद्रतल से औसत ऊँचाई २,००० फुट है। यहाँ कैनाडा, संयुक्तराज्य एवं मेक्सिको का ही वर्णन किया जायगा।

इस महाद्वीप को, पूर्व से पश्चिम, चार प्रमुख प्राकृतिक विभागों में विभाजित किया जा सकता है :

१. ऐटलांटिक तटीय प्रदेश—यह तट उत्तर में आर्कटिक सागर से प्रारंभ होकर दक्षिण में फ्लोरिडा तक पूर्वी पर्वतीय प्रदेश के पूर्व, ऐटलांटिक महासागर के किनारे फैला हुआ है। इसका लंबा तथा सँकरा तटीय मैदान न्यूयार्क के दक्षिण में फ्लोरिडा तक अपेक्षाकृत अधिक चौड़ा है पर उत्तर की ओर संकीर्ण होता गया है। संरचना तथा भूतत्व के आधार पर इसके दो विभाग हैं, पूर्वी और पश्चिमी, जो प्रपातरेखा द्वारा पृथक् होते हैं। पूर्वी भाग की ऊँचाई २००-३०० फुट तक है पर पश्चिमी भाग लगभग १,००० फुट ऊँचा है। पूर्वी पर्वतीय प्रदेश से निकलकर अंध महासागर में गिरनेवाली नदियों में—सस्केहाना, पोटोमैक, डिलावेर, जेम्स आदि सबमें—प्रपात हैं। इन प्रपातों में से उनको जो, अपनी नदी पर समुद्र से निकटतम है एक कल्पित रेखा से मिलाया जा सकता है जिसे प्रपातरेखा कहते हैं। इन नदियों में प्रपातरेखा तक सामुद्रिक जहाज आते हैं, अतः यहाँ फ़िलाडेल्फिया, बाल्टीमोर, वाशिंगटन, रिचमांड आदि नगर एवं बंदरगाह विकसित हो गए हैं। पूर्वी भाग नदियों द्वारा लाई गई नरम मिट्टी से बना है, अतः इसकी शिलाएँ तृतीयक (टर्शियरी) युगीन हैं। पश्चिमी भाग प्राचीन युग में पूर्वी पर्वतीय प्रदेश का ही अंश था, जो कालांतरिक आवरणक्षय (डेन्युडेशन) होने के कारण विषम मैदान में परिणत हो गया है। इसकी चट्टानें कार्बनप्रद युगीन अथवा इससे भी पुरानी हैं। कहीं कहीं, विशेषतया मैसाचूसेट्स के उत्तर में, तटरेखा विकट एवं अत्यंत सँकरी है जिसके पास अनेक निमज्जित घाटियाँ खाड़ियों के रूप में तथा पहाड़ियाँ भूनासिकाओं (प्रोमांटोरीज़) एवं द्वीपों के रूप में स्थित हैं।

२. पूर्वी पर्वतीय प्रदेश—ऐटलांटिक के तटीय मैदान तथा मध्यवर्ती बृहत् मैदान के मध्य में उत्तरी अमरीका का प्राचीन भूभाग स्थित है। इसे सेंट लारेंस नदी की घाटी दो भागों में विभाजित करती है—उत्तरी तथा दक्षिणी। इस घाटी से लेकर उत्तर तथा उत्तर-पूर्व में हडसन की खाड़ी तथा उत्तर सागर तक फैला हुआ अत्यंत विषम संरचना का क्षेत्र है जिसे लारेंशिया का पठार कहते हैं। यह भाग उत्तरी अमरीका का प्राचीनतम भूभाग है जिसके दक्षिण तथा पश्चिम में कालांतर में कई स्थलखंड परस्पर जुड़ गए। इस प्रकार आधुनिक महाद्वीप का निर्माण हुआ। अन्य सिद्धांतों के अनुसार वर्तमान लारेंशिया पठार उस बृहत्तर स्थलखंड का एक अंश मात्र है जो पुराकल्प (पैलिओज़ोइक एरा) में दक्षिण में टेक्सास राज्य तथा पश्चिम में रॉकी पर्वतों तक फैला हुआ था और जिसके मध्यकल्प-युगीन (मेसोज़ोइक) महासागर में निमज्जित होने से महासागरीय निक्षेप हुआ। प्रातिनूतनकालिक (प्लाइस्टोसीन) हिमयुग का सूत्रपात्र भी इसी स्थलखंड से हुआ। ऐसा होते हुए भी, विचाराधीन भाग अमरीका के अन्य भागों की अपेक्षा कालांतरिक आवरणक्षय से बचा रहा। हिमयुगीन अपक्षरण के तथा निक्षेप के कारण यहाँ की भूमि ऊबड़ खाबड़, मिट्टी-विहीन तथा अनुपजाऊ है। कुछ अच्छी मिट्टीवाले भागों एवं खनिज स्थानों पर आबादी है।

सेंट लारेंस नदी के दक्षिणवाला भाग ऐपालैचियन पर्वतीय प्रदेश कहलाता है जो प्राचीनतम ऐपालैचिआ नामक स्थलखंड का भाग है। यह उत्तर-पूर्व में न्यूफ़ाउंडलैंड से लेकर दक्षिण-पश्चिम में ऐलाबैमा तथा एक शाखा द्वारा आरकैंज़ैस तक फैला हुआ है। इस भाग को अपेक्षाकृत शांत पड़े लारेंशियन क्षेत्र की अपेक्षा तोड़ फोड़, उत्थान पतन, अतिनिक्षेप एवं अति आवरणक्षय के कई युग देखने पड़े। कैंब्रियनपूर्व युग में ऊँचे पर्वतों का निर्माण हुआ जो लगातार आवरणक्षय के कारण मध्यकल्प (मेसोज़ोइक एरा) में अवशिष्ट मात्र रह गए। तृतीयक कल्प (टर्शियरी एरा) में पुनः इनका उत्थान हुआ और पठार के ऊँचे भाग पर्वत बन गए। इन पर्वतीय भागों की ऊँचाई कहीं भी ७,००० फुट से अधिक नहीं है और न तो ये क्रमबद्ध पर्वतश्रेणी के रूप में हैं। इनके बीच में नदियों ने गहरी तथा चौड़ी घाटियाँ बना ली हैं। इसका उत्तरी भाग, जो न्यू इंग्लैंड राज्य में पड़ता है, अपेक्षाकृत समुद्र से अधिक निकट, कटा छँटा और बीहड़ है। दक्षिण में ऐलेघनी पठार है जिसका निर्माण समतलीय शिलाओं, बलुआ पत्थरों, शेलों एवं चूना पत्थरों से हुआ है। तत्संबंधी कंबरलैंड का पठार उसके दक्षिण में है और ऐलाबैमा तक फैला हुआ है। मिसौरी का ओज़ार्क पठार तथा आरकैंज़ैस का आचिटा पर्वत इन्हीं के भाग हैं जो एक दूसरे से संबंधित हैं। दक्षिण पूर्व में पर्वतपदीय पठार है जो समुद्रतट तक चला गया है।

३. मध्यस्थित बृहत् मैदान—पूर्वी एवं पश्चिमी पर्वतीय भागों (२ तथा ४) के मध्य, उत्तर में उत्तरी महासागर तथा दक्षिण में मेक्सिको की खाड़ी के तट तक १२,५०,००० वर्ग मील में फैला हुआ यह समतल मैदान है, जिसमें अनेक नदियों की चौड़ी घाटियाँ स्थित हैं। लगभग संपूर्ण मैदान समतलीय शिलाओं से संरचित है और अपेक्षाकृत सदियों की विकृति एवं विखंडन आदि भूतात्विक हलचलों से बचा रहा है जिसके कारण कई प्रवाहप्रणालियों ने अपने विशाल मैदान निर्मित किए हैं। पूर्वी मैदानी भाग पुराकल्पयुगीन शिलाओं से निर्मित है, परंतु पश्चिमी भाग मध्यकल्प तथा तृतीयक कल्प में निर्मित हुए हैं। पूर्व एवं पश्चिमी पर्वतीय भागों के तृतीयक कल्पयुगीन उत्थान के साथ इनमें भी उत्थान हुआ, परंतु कुछ भागों को छोड़कर अधिकांश समतल मैदानी भाग हैं। पूर्वी मैदान गंडमूदीय निक्षेप के कारण अधिक समतल हो गया है। मध्य-पश्चिमी भागों में गिरिपाद निक्षेप हुआ है। उत्तर-पूर्व में हिमयुगीन अपक्षरण तथा निक्षेप का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है, जिससे अधिक झीलें आदि बन गई हैं।

४. पश्चिमी पर्वतीय क्षेत्र—मध्यवर्ती मैदान के पश्चिम रॉकी पर्वतों से लेकर पश्चिम में प्रशांत महासागरीय तट तक उत्तर से दक्षिण अनेक पर्वतप्रणालियों तथा पठारों का अत्यंत विषम क्षेत्र है, जिसे उत्तरी अमरीका का कार्डिलेरा भूभाग कहते हैं। यद्यपि इन विभिन्न प्रणालियों में उत्पत्ति, सरंचना एवं आयु में पारस्परिक अंतर है, तथापि पूर्वी पर्वतीय प्रदेश की अपेक्षा ये नए हैं और नवकल्पयुग में भंजित हुए हैं। अतः ये अधिक ऊँचे और विषम हैं। इनके विभिन्न भागों में ज्वालामुखी पर्वत तथा उनके उद्गार तत्व भी प्राप्य हैं। ओरीज़ोवा और पोपाकाटापेट्ल (मेक्सिको), माउंट सैनफ्रैंसिस्को (एरीज़ोना), शास्ता (कैलिफ़ोर्निया) रेनियर (वाशिंगटन), रैंजेल (अलास्का) आदि मुख्य ज्वालामुखी पर्वत हैं। कोलंबिया पठार भारतीय लावा पठार की भाँति ज्वालामुखी से निकली हुई लावा चट्टानों से निर्मित है। इसके अतिरिक्त इस भाग में विशाल अंतर्पर्वतीय एवं गिरिपाद (पीडमौंट) पठार तथा नदियों की अत्यंत गहरी घाटियाँ (कनियंस) वर्तमान हैं।

पूर्व से पश्चिम, विचाराधीन भूभाग के पाँच भौगोलिक विभाग हैं—१. पूर्व में रॉकी पर्वतप्रणाली का क्षेत्र औसत रूप में १,२०० मील लंबा तथा २०० मील चौड़ा है। इसकी उत्तरी तथा दक्षिणी प्रणालियों के बीच ग्रेट डिवाइड या वायोमिंग बेसिन है, जिसके द्वारा आवागमन की सुविधा प्राप्त होती है। इन पर्वतों में कई समांतर श्रेणियाँ हैं जिनके मध्य नदियों की घाटियाँ स्थित हैं। २. रॉकी क्षेत्र के पश्चिम में विषम धरातलीय अंतर्पर्वतीय तथा गिरिपाद पठारों का विशाल क्षेत्र है, जिनमें उत्तर से दक्षिण अलास्का पठार, कोलंबिया पठार, ग्रेट बेसिन, कौलोरेडो पठार तथा मेक्सिको पठार हैं। कौलोरेडो तथा उसकी सहायक नदियों ने लगभग ६,००० फुट से अधिक गहरी घाटियाँ (कैनियंस) बना ली हैं। ३. इन पठारों के पश्चिम (अलास्का पठार के दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व) पुनः पर्वतीय श्रेणियाँ हैं जो उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में स्थित अलास्का से दक्षिण में स्थित मेक्सिको तक चली गई हैं। उत्तर में तथा उत्तर-पश्चिम में इनका नाम अलास्का पर्वतश्रेणी, पश्चिमी कनाडा में कस्केड, पश्चिमी संयुक्त राज्य में सियरा नेवादा, तथा दक्षिण और मेक्सिको में सियरा मादरी है। अलास्का पर्वतश्रेणियों में उत्तरी अमरीका के सर्वोच्च ११ शिखर वर्तमान हैं जिनमें माउंट मैकिनले (२०,३०० फुट) सर्वोच्च है। ४. इन पर्वतश्रेणियों के पश्चिम, तथा समुद्रतटीय पर्वतों के मध्य, कई सँकरी उपजाऊ घाटियाँ हैं, जिनमें पगेट साउंड तथा कैलिफ़ोर्निया की घाटियाँ क्रमशः १५० तथा ५०० मील लंबी हैं। इन घाटियों के पश्चिम (अलास्का के दक्षिण) प्रशांत-महासागर-तटीय

श्रेणियाँ (कोस्टल रेंजेज) फैली हुई हैं। (५) इनके पश्चिम प्रशांत महासागर का अत्यंत सँकरा तटीय क्षेत्र स्थित है जहाँ, विशेषकर ब्रिटिश कोलंबिया के पास, छोटे छोटे द्वीप तथा खाड़ियाँ और फियोर्ड्स स्थित हैं। जिन स्थानों पर मैदान कुछ अधिक चौड़ा है, वहाँ मल्लाहों आदि के आवास मिलते हैं।

मेक्सिको में मध्यवर्ती पठार के पूर्व और पश्चिम, सियरा मादरी की पूर्वी तथा पश्चिमी श्रेणियाँ फैली हैं जो टेहुआंटेपेक में जाकर भारत की नीलगिरि श्रेणियों की तरह एकबद्ध हो जाती हैं। फलतः पठार दक्षिण में सँकरा तथा उत्तर में चौड़ा हो गया है। पूर्वी क्षेत्र समुद्र से दूर है; अतः तटीय मैदान चौड़ा है पर पश्चिमी तट पर्वतों के समुद्र से सटे होने के कारण सँकरा है। पठार की ढाल मेक्सिको की खाड़ी की ओर है।

जलप्रणाली—भूतल की संरचना तथा विकास की अंतर्विषमता के कारण कई प्रवाहप्रणालियाँ विकसित हुई हैं। संसार की सबसे लंबी नदी मिसिसिपी-मिसौरी (४,१५० मील) का विकास कई भूभागों के विकास के साथ संबद्ध है। पूर्वी पर्वतीय भागों से निकलनेवाली इसकी सहायक नदी ओहायो (१,३०० मील) मध्य कल्पयुगीन है जब कि पश्चिमी सहायक नदियाँ मिसौरी (२,७०० मील), आरकंज़ास तथा रेड नदी तृतीयक युगीन हैं। दक्षिणी तटीय भागों के विकसित होने पर मिसिसिपी की लंबाई लगभग दूनी हो गई। उत्तर में प्रातिनूतन हिमयुगीन निक्षेप के कारण कई नदियाँ मिसीसिपी में आत्मसात हो गईं और अब वे शीर्ष नदियों के रूप में ही वर्तमान हैं। मिसिसिपी मेक्सिको की खाड़ी में अत्यंत विशाल डेल्टा बनाती है। उक्त खाड़ी में गिरनेवाली दूसरी प्रसिद्ध नदी रॉयो ग्रांडे है जो रॉकीज़ से निकलती है और अपने निचले प्रवाह में मेक्सिको की सीमारेखा बनाती है। कॉर्डिलेरा की विभिन्न श्रेणियों से निकलकर प्रशांत महासागर में गिरनेवाली नदियों में यूकन, कोलंबिया एवं कोलोरैडो प्रमुख हैं। यूकन पश्चिमोत्तर कैनाडा तथा अलास्का में प्रवाहित होकर बेरिंग जलडमरूमध्य के दक्षिण नॉर्टन साउंड में गिरती है। कोलंबिया नदी, कैनाडा के ब्रिटिश कोलंबिया के रॉकीज़ पर्वत से निकलकर २,२०,००० वर्ग मील के बेसिन से बहती हुई, प्रशांत महासागर में गिरती है। स्नेक तथा स्पोकेन इसकी प्रमुख सहायक नदियाँ हैं। कोलोरेडो नदी रॉकीज़ से निकलकर उत्तरी अमरीका के सबसे अधिक सूखे राज्यों ऊटा, एरीजोना, दक्षिणी कैलिफ़ोर्निया एवं मेक्सिको के कुछ भागों से बहती हुई कैलिफ़ोर्निया की खाड़ी में गिरती है। इसका खड्ड (कैनियन) कहीं कहीं ६,००० फुट से भी अधिक गहरा है। उत्तरी सागर में गिरनेवाली सर्वप्रमुख नदी मैकेंजी (२,३०० मील) है जो अनेक झीलों से होकर आती है। इसका मुहाना कई महीनों तक बर्फ से ढका रहता है। नेल्सन, अल्बानी, फोर्ट जार्ज आदि कई छोटी नदियाँ उत्तर में हडसन की खाड़ी में गिरती हैं। सेंट लारेंस नदी बड़ी झीलों से प्रवाहित होती हुई उत्तर-पूर्व में सेंट लारेंस की खाड़ी में गिरती है। इसके मुहाने पर भी महीनों तक बर्फ जमी रहती है। पूर्वी पर्वतीय प्रदेश से निकलकर पूर्व में अंध महासागर में गिरनेवाली नदियाँ—सस्केहाना, पोटोमक, डिलावर, जेम्स आदि—अत्यंत छोटी हैं। उपर्युक्त समुद्रगामी जलप्रणालियों के अतिरिक्त उत्तरी अमरीका में एक विशाल अंतर्मुखी जलप्रणाली है जो शुष्क ग्रेट बेसिन में मिलती है। इसके अतिरिक्त उत्तरी अमरीका में अनेक झीलें हैं, जिनमें सुपीरियर (३१,८२० वर्ग मील), ह्यूरन (२३,००० वर्ग मील), मिशिगन (२२,४०० वर्ग मील), ईरी (९,९५० वर्ग मील), और ओंटेरियो (७,५४० वर्ग मील) आदि पाँच बृहत् झीलों के अतिरिक्त, साल्ट लेक, विनिपेग, ग्रेट स्लेव, ग्रेट बेयर आदि झीलें प्रमुख हैं। सेंट लारेंस नदी तथा पाँच बड़ी झीलें देशाभ्यंतर जलपथों के लिये सुप्रसिद्ध हैं।

जलवायु—उत्तरी अमरीका की जलवायु पर चार बातों का विशेष प्रभाव पड़ता है—(१) अक्षांशीय स्थिति, (२) पर्वतों का उत्तर-दक्षिण फैलाव, (३) नियतवाही हवाएँ और समुद्र की धाराएँ तथा (४) उत्तरी प्रशांत एवं उत्तरी ऐटलांटिक की हवा के कम दबाव के केंद्र। उच्च अक्षांशों में स्थित होने के कारण कैनाडा का दो-तिहाई भाग वर्ष के अधिकांश महीनों में बर्फ से ढका रहता है। पर्वतों के उत्तर-दक्षिण फैले रहने के कारण उत्तरी-दक्षिणी हवाएँ मध्य भाग में बेरोक बहती हैं जिससे महाद्वीप का अधिकांश जाड़े में अधिक ठंढा हो जाता है, परंतु ग्रीष्म में इसका प्रभाव अच्छा होता है, क्योंकि मेक्सिको की खाड़ी से चलनेवाली हवाएँ कैनाडा के उत्तरी भाग तक पहुँच जाती हैं। पर पूर्व-पश्चिम आकर वर्षा करनेवाली हवाओं या सामुद्रिक धाराओं का प्रभाव इन तटीय पर्वतों के कारण अंतर्प्रांत में नहीं पड़ने पाता। जाड़े में संपूर्ण कैनाडा, अलास्का, न्यूफ़ाउंडलैंड तथा मध्यवर्ती मैदान के अर्धोत्तरी भाग का ताप ३२° फा० से कम रहता है। मेक्सिको खाड़ी के तटीय भागों तथा मेक्सिको में ४८°-६४° फा० का ताप रहता है। अतः जाड़े में महाद्वीप का कोई भाग अधिक गरम नहीं रहता। ग्रीष्म ऋतु में केवल उत्तरसागरीय तट तथा उसके निकटवर्ती भागों को छोड़कर संपूर्ण महाद्वीप में ३२° फा० से अधिक ताप रहता है। अतः महाद्वीप के अधिकांश में जनवरी-जुलाई के माध्यमिक तापों का अंतर ४०° फा० से अधिक तथा उत्तर में ७०° फा० से भी अधिक पड़ जाता है। ४०° उत्तरी अक्षांश के उत्तरवाले पश्चिमी तट के भागों में गरम जलधाराओं का प्रभाव पड़ता है, लेकिन समकक्ष पूर्वी तट का जल लैब्राडोर की ठंढी जलधारा के कारण जम जाता है। दक्षिण में पश्चिमी तटों पर कैलिफोर्निया की ठंढी धारा चलती है और समकक्ष पूर्वी तटों पर मेक्सिको की गरम धाराएँ।

इसी प्रकार पर्वतीय स्थिति, चक्रवातीय पथ, समुद्र से निकटता, हवाओं की दिशा आदि का प्रभाव वर्षा पर पड़ता है। ४०° उत्तरी अक्षांश से उत्तर भागों में पश्चिमी तट पर वाष्पयुक्त पश्चिमी हवाओं के कारण प्रचुर वर्षा हो जाती है पर समकक्ष पूर्वी तट वर्षाविहीन रहता है। ३०°-४०° उत्तरी अक्षांशों में पश्चिमी तट पर जाड़े में पछवाँ हवाओं द्वारा वर्षा होती है, परंतु गर्मी में यह भाग उत्तर-पूर्वी व्यापारिक हवाओं में पड़ने के कारण शुष्क रह जाता है। ३०° उत्तरी अक्षांश के दक्षिण का पश्चिम-तटीय भाग साल भर इन हवाओं के प्रभाव में रहने के कारण मरुस्थल है, पर ये ही हवाएँ समकक्ष पूर्वी क्षेत्रों—फ्लौरिडा और मेक्सिको—में प्रचुर वर्षा करती हैं। मेक्सिको की खाड़ी से हवाएँ मिसिसिपी की घाटी में ग्रीष्मकाल में प्रवेश करती हैं। उनसे खाड़ी के निकटवर्ती स्थानों में अधिक वर्षा होती है और भीतरी स्थानों में वर्षा की मात्रा दूरी के अनुसार कम होने लगती है। उत्तरी अमरीका में अधिक वर्षावाले (४०''-८०'' वार्षिक) क्षेत्र दक्षिण-पूर्वी मेक्सिको, संयुक्त राज्य के ऐटलांटिक तटीय राज्य, मेक्सिको की खाड़ी के तटवर्ती पूर्वी राज्य, ब्रिटिश कोलंबिया, यूकन के पश्चिमतटीय भाग तथा अलास्का के दक्षिणी तट हैं। २०'' से ४०'' तक वर्षा मेक्सिको के अन्य शेष भाग, टेक्सास, मिसिसिपी घाटी के राज्यों तथा विनिपेग झील से पूर्व स्थित कैनाडा के राज्यों में होती है। २०'' से कम वर्षा के क्षेत्र के अंतर्गत रॉकी पर्वत की पूर्वी ढाल पर स्थित पठारी मैदान, पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश के मध्यवर्ती पठार, ग्रेट बेसिन, कैलिफ़ोर्निया का रेगिस्तानी भाग, कैनाडा के सस्केचवान, अलबर्टा, मेकेंजी, पूर्वी ब्रिटिश कोलंबिया, यूकन पठार के पश्चिमी तथा उत्तरी प्रांत और अलास्का का उत्तरी भाग संमिलित हैं।

वनस्पति, जीवजंतु—महाद्वीप में टुंड्रा से लेकर उष्ण कटिबंध तक सभी प्रकार की जलवायु मिलने के कारण सभी प्रकार की वनस्पतियाँ मिलती हैं। उत्तरी सागर के तटीय भागों में टुंड्रा वनस्पति तथा दक्खिन में भोजपत्र, चिनार एवं नम्रा (विलो) आदि उगते हैं। इसके दक्षिण में लगभग ३,००० मील लंबा और ६० मील चौड़ा भाग कोणधारी वनों (सरो, देवदारु, पोपलर इत्यादि के वृक्षों) से आच्छादित है। पूर्वी पर्वतीय क्षेत्र के उत्तरी भागों में कोणधारी तथा दक्षिण में पतझड़वाले वृक्ष (ओक, चेस्टनट, एल्म, मेपुल आदि) हैं। पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश के उत्तरी भागों में सरो, देवदारु आदि तथा दक्षिणी भागों में डगलस फ़र, रेड सीडर (रक्त देवदारु) आदि मुख्य हैं। मेक्सिको क्षेत्र में उष्ण कटिबंधीय (महोगनी आदि के) वन मिलते हैं। पर्वतीय भागों में पर्वतीय वनस्पतियाँ प्राप्य हैं। इन पर्वतीय भागों को छोड़कर अधिकांश शुष्क पठारी भागों में मरु तथा अर्धमरु वनस्पतियाँ (सेंहुड़, नागफली इत्यादि) मिलती हैं। मध्यवर्ती मैदान के पूर्वी भागों में लंबी घासें तथा पश्चिमी भागों में छोटी घासें प्रमुख वनस्पति हैं। कृषि तथा चरागाहों की वृद्धि के साथ मनुष्य के विनाशकारी कार्यों द्वारा प्राकृतिक वनस्पति का अत्यधिक ह्रास हुआ है।

उत्तरी अमरीका के पशुपक्षी यूरेशिया के पशुपक्षियों से अधिक मिलते जुलते हैं। छछूंदर, शल्यक (आर्मांडिलो), साही, प्रेअरी कुत्ता, रॉकी

पर्वतीय बकरी आदि पशु तथा बाल्टिमोर कांचन (ओरिओल), काउ बर्ड, रालभाश (फ्लाइ कैचर), कैलिफ़ोर्निया बटेर (क्वेल) आदि पक्षी उत्तरी अमरीका की विशेषताएँ हैं। कुछ पक्षी दक्षिण अमरीकी पक्षियों से भी मिलते जुलते हैं।

जनसंख्या—उत्तरी अमरीका की कुल जनसंख्या २२,११,५५,००० है जिसमें संयुक्त राज्य १७,३६,४६,००० (१९५७), कैनाडा १,६०,८०,००० (१९५६) तथा मेक्सिको ३,१४,२६,००० (१९५६) है। अतः प्रति वर्ग मील जनघनत्व संयुक्त राज्य में ५६.७, कैनाडा में ४.२ और मेक्सिको में ४१.३ है। इन भूभागों में जनसंख्या का वितरण अत्यंत विषम है। अलास्का में लगभग पौने तीन वर्ग मील पर एक मनुष्य, और नेवादा में प्रति वर्ग मील पर दो मनुष्य हैं तथा दूसरी ओर मैसाचुसेट्स और रोड आइलैंड आदि राज्यों में प्रति वर्ग मील ५५० से भी अधिक मनुष्य निवास करते हैं। संयुक्त राज्य में १००° पश्चिमी देशांतर रेखा के पश्चिम स्थित राज्यों में घनत्व कम है। कैनाडा की ९० प्रति शत जनसंख्या दक्षिणी भाग (ऐटलांटिक तट), सेंट लारेंस की घाटी, बड़ी भीलों के भूभाग तथा प्रेअरीज प्रदेश में स्थित है। अतः उत्तरी अमरीका का मध्य-उत्तर-पूर्वी भाग संसार के चार सर्वाधिक घने आबाद क्षेत्रों में से एक है। मेक्सिको में जनसंख्या का वितरण अपेक्षाकृत कम विषम है, परंतु आबादी कर्क रेखा के दक्षिणस्थित सँकरे भाग तथा आनावाक नामक पठार पर पाई जाती है। उत्तरी अमरीका की जनसंख्या की वृद्धि में संसार के अन्य देशों की अपेक्षा बाहर से व्यक्तियों के आने का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। कृषि, उद्योग तथा यातायात की वृद्धि के साथ साथ वितरण की विषमता कम हो रही है।

१९५० ई० में संयुक्त राज्य की ६४ प्रति शत जनता २,५०० निगमित नगरों में थी, जो पर्याप्त बड़े नगर हैं। कैनाडा (१९४१) में ५६.३ प्रति शत तथा मेक्सिको (१९३०) में केवल ३३.५ प्रति शत जनसंख्या नगरों में निवास करती थी। शहरी जनसंख्या का अनुपात दिनानुदिन बढ़ रहा है।

नगर—जनसंख्या की वृद्धि के साथ साथ महाद्वीप में नगरों का विकास भी दिनानुदिन होता जा रहा है। दस लाख से अधिक जनसंख्यावाले नगर महाद्वीप में १५ हैं जिनमें से कैनाडा में १ (मौंट्रियल : १६,२०,७५८) मेक्सिको में १ (मेक्सिको सिटी : २२,३४,७७५), एवं संयुक्त राज्य में १३ हैं : न्यूयार्क (१,२९,११,९९४), शिकागो (५४,९५,३६४), लॉस ऐंजिलस (४३,६७,९११), फ़िलाडेलफिया (३६,७१,०४८), डिट्रायट (३०,१६,१९७), बोस्टन (२३,६७,९८६), सैन फ्रैंसिस्को (२२,४०,७६७), पिट्सबर्ग (२२,१३,२३६), सेंट लुई (१६,८१,२८१), क्लीवलैंड (१४,६५,५११), बाल्टिमोर (१३,३७,३७३), मिनियापोलिस-सेंटपाल (११,१६,५०९) तथा बफेलो (१०,८९,२३०)। ये सभी नगर बड़े निगमित क्षेत्र हैं जिनमें प्रधान नगर पर आश्रित आसपास के उपनगरों की भी जनसंख्या संमिलित है। इनमें से अधिकांश नगर उद्योगप्रधान तथा व्यापारिक हैं। संयुक्त राज्य के १४ बड़े निगमित नगरों में से, जहाँ देश की लगभग ३०% जनता रहती है, १० उद्योगप्रधान उत्तर-पूर्वी भाग में, २ पश्चिमी तट पर, तथा दो मध्य के कृषिप्रधान मैदान में स्थित हैं। इन १४ में से न्यूयार्क, फ़िलाडेल्फिया, बोस्टन एवं बाल्टिमोर, जो ऐटलांटिक तट पर हैं, और लास ऐंजिल्स एवं सैन फ्रैंसिस्को, जो पश्चिमी तट पर हैं, सर्वप्रमुख बंदरगाह एवं औद्योगिक नगर हैं। शिकागो, पिट्सबर्ग, सेंट लुई, डिट्रायट, क्लीवलैंड तथा बफेलो देश के भीतरी भाग में मुख्य संग्राहक, वितरक एवं औद्योगिक नगर हैं। इसी प्रकार महाद्वीप में पाँच लाख से अधिक तथा दस लाख से कम आबादीवाले नगर १९ हैं जो सभी संयुक्त राज्य में हैं। सब मिलाकर एक लाख से अधिक जनसंख्यावाले नगर १२७ हैं, जिनमें से मेक्सिको में १०, कैनाडा में ११ एवं संयुक्त राज्य में १०६ हैं।

निवासी तथा भाषाएँ—संयुक्त राज्य (१९५०) में ८९.५% श्वेत जाति के तथा १०% हब्शी हैं। कैनाडा में ९८% श्वेत और केवल १.१ हब्शी तथा रेड इंडियन हैं। मेक्सिको में मेस्तीज़ो (मिश्रित श्वेत-रेड इंडियन) ६०%, इंडियन २९% एवं स्वच्छ श्वेत वर्णवाले केवल १०% हैं। संयुक्तराज्य में श्वेत और काले का भेदभाव अधिक है। संयुक्त राज्य में ७८.६% जनता अंग्रेजी, ४.२०% जर्मन तथा शेष अन्य यूरोपीय भाषाएँ बोलती है। कैनाडा में ६६.१% अंग्रेजी, १९.६% फ्रेंच, १३.२% अंग्रेजी फ्रेंच दोनों तथा १.१% लोग इंडियन तथा अन्य भाषाएँ बोलते हैं। मेक्सिको में अधिकतर लोग स्पेनिश तथा केवल ६% लोग इंडियन भाषाएँ व्यवहार में लाते हैं।

कृषि—उत्तरी अमरीका की कृषि जलवायु, मिट्टी, धरातल और बाजार, नए आविष्कारों आदि तथा यातायात के साधनों द्वारा प्रभावित हुई है। इस महाद्वीप में कृषिक्षेत्र विभिन्न प्राकृतिक एवं मानसिक सुविधाओं के कारण उसी प्रकार भू-भाग-विशेष में केंद्रित है जिस प्रकार औद्योगिक क्षेत्र। यहाँ की खेती व्यापारिक ढंग पर बड़े पैमाने पर होती है; अतः अधिकाधिक लाभ उठाने एवं प्रतिद्वंद्वितापूर्ण बाजारों में सुविधा प्राप्त करने के लिये यहाँ विशेष प्रकार की खेती उन विशेष क्षेत्रों में होती है जहाँ सभी सुविधाएँ सर्वाधिक उपलब्ध हैं। उदाहरणतः कैनाडा के प्रेअरीज और संयुक्त राज्य के मिसिसिपी मैदान के उत्तर-पश्चिमी भाग में गेहूँ, मध्यवर्ती भाग में मक्का तथा दक्षिणी भागों में कपास आदि फसलों के लिये श्रेष्ठतम जलवायु एवं धरातल तथा मिट्टी पाई जाती है, बाजार भी समीप है, मशीनों से कार्य हो सकता है, अतः ये क्षेत्र इन फसलों के लिये संसारप्रसिद्ध हैं। यद्यपि इन क्षेत्रों में अन्य फसलों की भी खेती होती है, पर संबंधित क्षेत्र की मुख्य फसल के नाम पर ही उन्हें संबोधित किया जाता है।

इस महाद्वीप ने संसार को तीन मुख्य फसलें प्रदान की हैं—मक्का, तंबाकू और आलू। प्रथम उपनिवेशियों को जंगल काटने, मिट्टी को उपजाऊ बनाने, पानी की सुविधा प्राप्त करने, कीड़ों तथा अन्य प्राकृतिक आपत्तियों का सामना करने में बड़ी कठिनाई झेलनी पड़ी थी। मजदूरों की कमी के कारण कृषि के नए नए औजारों का आविष्कार हुआ। फलतः आज यहाँ २० प्रति शत से कम ही लोग कृषि में लगे हैं (संयुक्त राज्य में केवल १६.५%)। महाद्वीप के मध्यवर्ती बड़े मैदान के उत्तरी भाग में ग्लेशियर द्वारा बिछाई हुई नरम एवं उपजाऊ मिट्टी, दक्षिणी भाग में नदियों द्वारा लाई हुई जलोढ मिट्टी तथा प्रेअरीज़ के घास के मैदान की काली मिट्टी अत्यंत उपजाऊ हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ खाद का अधिकाधिक प्रयोग होता है। खतों के चक बहुत बड़े बड़े (कैनाडा में लगभग १/४ वर्ग मील, संयुक्त राज्य में १६०-५०० एकड़) हैं, अतः मशीनें आसानी से प्रयुक्त होती हैं। देशी तथा विदेशी बाजार निश्चितप्राय एवं बड़े हैं, अतः किसान को बिक्री की निश्चितता रहती है। इसलिये इस महाद्वीप में गेहूँ, मक्का, जई, कपास, मांस और दूध की बनी वस्तुओं का उत्पादन संसार में सर्वाधिक होता है। पानी की असुविधावाले पश्चिमी क्षेत्रों में सिंचाई तथा अन्य कार्यों के लिये विशाल बहुधंधी योजनाएँ कार्यान्वित की गई हैं, जिससे कैलिफ़ोर्निया जैसा मरुसदृश भूभाग संयुक्त राज्य का उद्यान हो गया है। कैलिफ़ोर्निया के इन सिंचित क्षेत्रों, मिशिन भील के पास के क्षेत्र एवं दक्षिणी तटीय भाग में संयुक्त राज्य के मुख्य फल उगाए जाते हैं।

खनिज साधन—यह महाद्वीप खनिज संपत्ति में बहुत समृद्ध है। शक्ति के प्रमुख खनिज—कोयला एवं तेल—की न केवल मात्रा विशाल है, कोटि भी उच्च है; साथ ही औद्योगिक विकास के लिये इनका वितरण भी अत्यंत सुविधापूर्ण है। यह महाद्वीप संसार का सबसे बड़ा कोयले एवं मिट्टी के तेल का उत्पादक है। प्रति वर्ष ६० करोड़ टन कोयला उत्पन्न होता है और संसार के मिट्टी के तेल का ५७% यहीं निकलता है। चीन के बाद कोयले का भांडार यहीं सर्वाधिक है। यह संसार के ८०% से भी अधिक ऐंथ्रासाइट कोयले का उत्पादन करता है। यहाँ बिटूमिनस एवं लिग्नाइट कोयले के भी विशाल भांडार पाए जाते हैं। कैनाडा के विभिन्न क्षेत्रों—नोवा स्कोशिया, न्यू ब्रंजविक एवं पश्चिमी रॉकी क्षेत्रों में, और संयुक्त राज्य के पूर्वी पर्वतीय प्रदेश में (जहाँ अधिकांश उद्योग-धंधे विकसित हैं) अधिकांश कोयला मिलता है। शेष कोयला मैदानी दक्षिणी तटीय भाग, पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश, अलास्का तथा मेक्सिको में मिलता है। संसार का ३०% तेल भांडार यहाँ है। तेल कैनाडा के ओंटेरियो प्रांत, मेक्सिको के पूर्वी तट तथा संयुक्त राज्य में दक्षिणी और मध्यवर्ती भाग एवं कैलिफ़ोर्निया तथा अलास्का में प्राप्य है। प्राकृतिक गैस में भी संयुक्त राज्य तथा कैनाडा धनी हैं। इन खनिज शक्तियों के अतिरिक्त उत्तरी अमरीका जलविद्युत् शक्ति में भी समृद्धिशाली है और संसार के कुल विकसित जलविद्युत् का ४० प्रति शत इसी महाद्वीप में है। यूरेनियम का भी यहाँ समुचित भांडार है।

इनके अतिरिक्त उत्तरी अमरीका संसार के लोहा, चाँदी, निकेल, गंधक, फॉस्फेट, ऐस्बेस्टस, ताँबा, सीसा एवं जस्ता का सबसे बड़ा उत्पादक एवं उपभोक्ता है। कैनाडा के कई क्षेत्रों के अतिरिक्त बड़ी भीलों के प्रदेश में, जहाँ भीलों द्वारा सर्वाधिक सस्ता यातायात साधन प्राप्य है, लौह-भांडार हैं जहाँ से महाद्वीप का ८०% लोहा निकलता है। कैनेडियन शील्ड में संसार का ३३% सोना, ८५% निकेल एवं ५०%कोबाल्ट के अतिरिक्त पिचब्लेंड (जिससे संसार का ४०% रेडियम मिलता है), चाँदी, प्लैटिनम, ताँबा, तथा अन्य कई धातुएँ निकलती हैं। महाद्वीप में सोना कैनाडा के ओंटेरियो एवं क्वेबेक प्रांत और संयुक्त राज्य के कैलिफ़ोर्निया, कोलोरैडो, नेवादा एवं अलास्का क्षेत्रों में मिलता है; ताँबा मैकेंजी की घाटी, क्वेबेक प्रांत, संयुक्त राज्य के पश्चिमी राज्यों एवं सुपीरियर भील के दक्षिण में मिलता है, सीसा, जस्ता एवं चाँदी संयुक्त राज्य के पश्चिमी तथा मध्य-दक्षिणी राज्यों और मेक्सिको में उपलब्ध है। संसार का ७५% गंधक केवल लूइज़ियाना एवं टेक्सास में निकाला जाता है। फास्फेट पश्चिमी क्षेत्रों एवं फ्लोरिडा तथा आसपास के क्षेत्रों में प्राप्त होता है। ऐल्युमिनियम (संयुक्त राज्य में संसार का केवल ३%), मैंगनीज़ तथा मॉलिब्डेनम को छोड़कर अन्य धातु तथा खनिज, जैसे हीरा एवं अन्य मणियाँ, प्लैटिनम, ऐंटिमनी, पारा आदि की इस महाद्वीप में केवल सीमित पूर्ति हो पाती है और कुछ को पूर्णतया आयात करना पड़ता है। प्राप्य खनिज साधनों का महाद्वीप ने सर्वाधिक विकास एवं उपयोग किया है।

उद्योग धंधे तथा औद्योगिक क्षेत्र—उत्तरी अमरीका कृषि, जंगल काटने एवं लकड़ी पैदा करने, मछली मारने, खनिज खोदने के अतिरिक्त उद्योग-धंधों के लिये भी सुप्रसिद्ध है। उपनिवेशियों ने यहाँ पूर्वी तट पर आकर छोटे छोटे व्यवसाय करना आरंभ किया और शनैः शनैः सेंट लारेंस की घाटी, बड़ी भीलों के प्रदेश, एवं मध्यवर्ती बड़े मैदानों में व्यवसायों की उन्नति हुई। संयुक्त राज्य एवं कैनाडा के औद्योगिक क्षेत्र एक दूसरे से मिले हुए हैं। इनमें बड़ी भीलों, रेलों, सड़कों एवं समूहों द्वारा सस्ते यातायात का साधन, पास ही में प्राप्य लोहा एवं कोयला, घनी आबादी, कृषि संबंधी एवं वानस्पतिक कच्चे मालों की सुविधा, बड़े स्थानीय बाजार तथा बड़े बंदरगाहों द्वारा जुड़ा हुआ अंतर्राष्ट्रीय बाजार, स्थायी सरकारी सुरक्षा, प्रलयंकर महायुद्धों से सुरक्षा, सुदक्ष श्रमिक एवं अधिकाधिक पूंजी की सुविधा और उद्योगों के पूर्वारंभण के संवेग आदि के कारण संसार के बड़े से बड़े उत्पादक तथा औद्योगिक क्षेत्र विकसित हो गए हैं। कैनाडा के (१) समुद्रप्रांतीय क्षेत्र, (२) क्वेबेक-ओंटेरियो-मॉन्ट्रियल क्षेत्र, संयुक्त राज्य के (३) ईरी-क्लीवलैंड-बफेलो क्षेत्र, (४) पिट्सबर्ग-यंग्स्टाउन क्षेत्र, (५) न्यू इंग्लैंड स्टेट्स क्षेत्र तथा न्यूयार्क-पेन्सिलवेनिया के विभिन्न औद्योगिक क्षेत्र जो विशेष उद्योगों में संलग्न हैं, (६) मध्यवर्ती ऐटलांटिक तटीय क्षेत्र, (७) दक्षिण का वर्जीनिया-ऐलाबैमा क्षेत्र, (७) मिशिगन क्षेत्र (शिकागो-गैरी) तथा (८) सिनसिनाटी-इंडियानापोलिस क्षेत्र उत्तर अमरीका के प्रमुख औद्योगिक क्षेत्र हैं। इनमें लोहे एवं इस्पात, धातु एवं मशीन, इंजीनियरिंग, मोटर तथा साइकिल, जहाज, सूती, ऊनी तथा अन्य कपड़े, खाद्य पदार्थ, कागज, फर्नीचर आदि के तथा विभिन्न अन्य सैकड़ों उद्योग विकसित हैं। ये औद्योगिक क्षेत्र विशेष उद्योगों के लिये लब्धप्रतिष्ठ हैं; उदाहरणतः डिट्रायट मोटर-कारों के लिये, पिट्सबर्ग इस्पात के लिये, न्यू इंग्लैंड राज्य विशेष प्रकार के कपड़ों के लिये, दक्षिणी ऐलाबैमा क्षेत्र लोहा, इस्पात एवं मोटे तथा मध्यम श्रेणी के कपड़ों के लिये तथा सेंट लारेंस नदी की घाटी कागज के व्यवसाय के लिये। इनके अतिरिक्त ऊँचे मैदानी क्षेत्रों में से डेनवर औद्योगिक क्षेत्र, पश्चिमी तट पर लॉस ऐंजिलस क्षेत्र, एवं सैनफ्रान्सिस्को-सिएटल—पोर्टलैंड क्षेत्र में उद्योग विकसित हो रहे हैं और ये पश्चिम की माँगों की पूर्ति कर रहे हैं। डेनवर में लोहे, इस्पात एवं अन्य धातुओं के कार्य, पश्चिमतटीय क्षेत्रों में फर्नीचर, कागज, मछली के व्यवसाय तथा लॉस ऐंजिलस में वायुयान तैयार करने, फिल्म बनाने एवं फलों संबंधी व्यवसाय पनप रहे हैं। कैनाडा के वैंकूवर क्षेत्र में भी इसी प्रकार के उद्योग विकसित हो रहे हैं। मेक्सिको में टैंपिको एवं वेराक्रूज़ नगरों के निकट सूती कपड़ों एवं डुरेंगो, टोरेन और मोंटरे में लोहे एवं इस्पात के उद्योग विकसित हैं।

यातायात के साधन—उत्तरी अमरीका में यातायात के आधुनिक साधन बहुत सुविकसित और समृद्ध हैं। महाद्वीप के यातायात एवं उसके साधन तीन प्रमुख बातों द्वारा प्रभावित हुए हैं। प्रथम, इस महाद्वीप में यूरोपीय जनसंख्या अटलांटिक महासागर के तट पर धीरे धीरे बढ़ती गई और जैसे जैसे स्थानाभाव हुआ, महाद्वीप के भीतर पश्चिम की ओर विकसित होती गई। द्वितीय, लोगों को प्राकृतिक अड़चनों का सामना करना पड़ा, परंतु पूर्वी पर्वतीय प्रदेश में कुछ नदियों की घाटियाँ ऐसी थीं जिनमें होकर महाद्वीप के भीतरी भागों में प्रवेश करना सरल था। अतः ऐटलांटिक समुद्रतट से सेंट लारेंस नदी की घाटी, हडसन-मोहाक नदी की घाटी सस्क्वेहाना एवं पोटोमैक नदियों की घाटियाँ—तथा मेक्सिको की खाड़ी की दिशा से मिसीसिपी-मिसौरी की घाटियों से होकर जनसंख्या का प्रवेश प्रारंभ हुआ। वर्तमान तट से आरंभ होनेवाली रेलें तथा पक्की सड़कें देश के भीतरी भागों में इन्हीं मार्गों से होकर जाती हैं और पुनः पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश के नीचे दर्रों को पार करती हुई ऐटलांटिक तट तथा प्रशांत महासागरीय तट को एक दूसरे से मिलाती हैं। तृतीय, जहाँ जहाँ जनसंख्या का घनत्व अधिक है, वहाँ वहाँ आवागमन के साधन अधिक विकसित हैं। कैनाडा के उत्तरी क्षेत्र, अलास्का के छोटे छोटे एकाकी नगर एवं पश्चिमी संयुक्त राज्य में बसी बस्तियाँ आधुनिक वायुयान सेवाओं से लाभ उठाती हैं। कृषि, खनिज एवं औद्योगिक उन्नतिवाले क्षेत्रों में रेलों, सड़कों तथा हवाई जहाजों के मार्गों का घना जाल बिछा हुआ है। कैनाडा का दक्षिण-पूर्वी घना बसा क्षेत्र तथा संयुक्त राज्य का उद्योगप्रधान उत्तर-पूर्वी क्षेत्र संसार के सर्वाधिक विकसित क्षेत्र हैं जहाँ यातायात के साधन सर्वाधिक विकसित हैं।

उत्तरी अमरीका में न केवल समुद्री मार्गों द्वारा, प्रत्युत सेंट लारेंस तथा पाँच बड़ी भीलों एवं मिसीसिपी-मिसौरी द्वारा यातायात होता है। बड़ी भीलें नहरों द्वारा जोड़ दी गई हैं जिनमें हजारों जहाज चला करते हैं। संसार की २६% रेलें, ३५% समुद्री जहाज, ४८% हवाई जहाज तथा ७०% मोटरें केवल संयुक्त राज्य (अमरीका) में हैं। पैनामा नहर (१६०७) ने अमरीका के संबंध सुदूर पूर्व एवं दक्षिणी अमरीका से बढ़ा दिए हैं।

कैनाडा की ट्रैंस कांटिनेंटल रेलवे, कैनेडियन पैसिफिक रेलवे, कैनेडियन नेशनल रेलवे तथा संयुक्त राज्य की उत्तरी पैसिफिक रेलवे, यूनियन पैसिफिक रेलवे, सेंट्रल पैसिफिक रेलवे तथा दक्षिणी पैसिफिक रेलवे संसार की सर्वाधिक लंबी रेलों में से हैं जो एक छोर से दूसरे छोर को मिलाती हैं। इसी प्रकार सड़कों का भी जाल सा बिछा हुआ है। उत्तरी अमरीका का कोई भी क्षेत्र, जहाँ मनुष्य के लिये कुछ भी आर्थिक साधन प्राप्य हैं, हवाई मार्गों से अछूता नहीं है। अलास्का तथा कैनाडा के उत्तरी भाग में, जो बहुत ही ठंढे हैं, वायुयान की अनिवार्य सेवाएँ हैं। आज राजनीतिक परिस्थितिवश ध्रुव प्रदेशों में भी हवाई मार्ग स्थापित हो गए हैं।

व्यापार—पूर्वोक्त साधनों के विकसित होने के कारण महाद्वीप में बड़े बड़े संग्रहण तथा वितरण केंद्र स्थापित हो गए हैं जो समुद्रतट पर स्थित बंदरगाहों द्वारा सुविधापूर्वक आयात निर्यात करते हैं। पूर्वी तट पर बोस्टन, न्यूयार्क, फ़िलाडेल्फिया एवं बाल्टिमोर, मेक्सिको की खाड़ी के तट पर न्यू ऑरलियंस एवं गैलवेस्टन, पश्चिमी तट पर लॉस ऐंजिलस, सैन फ्रांसिस्को, वैंकूवर आदि तथा बड़ी भीलों पर फोर्ट विलियम, पोर्ट आर्थर, शिकागो, क्लीवलैंड, ईरी, बफेलो तथा बड़ी भीलों एवं सेंट लारेंस की नहरें जुड़ जाने से क्वेबेक, ओंटेरियो आदि बड़े बंदरगाह बन गए हैं।

उत्तरी अमरीका अपने अपार खनिज तथा कृषि संबंधी एवं औद्योगिक साधनों के विकसित होने के कारण व्यापार में बहुत बढ़ा चढ़ा है। यह महाद्वीप उष्ण, शीतोष्ण तथा शीत, तीनों कटिबंधों में फैला हुआ है। यहाँ विभिन्न प्रकार की मिट्टी और जलवायु उपलब्ध हैं। अतः यहाँ अनेक प्रकार की उपजें होती हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ के लोग स्थानीय, देशी तथा विदेशी बाजारों के लिये व्यापारिक फसलें उगाते हैं। विभिन्न कृषि एवं वानस्पतिक क्षेत्रों में लोग वस्तुविशेष के उत्पादन में विशेष योग्यता प्राप्त कर लेते हैं—जैसे, प्रेअरीज़ मैदान में गेहूँ में, मक्का क्षेत्र में मक्का में, गव्यशाला क्षेत्र (डेयरी बेल्ट) में दूध के बने सामान में, कपास क्षेत्र में कपास में तथा कैनाडा के उत्तरी कोणधारी वनों में लकड़ी तथा उससे बने सामानों में; अपनी केवल एक प्रकार की वस्तुओं की बिक्री करने के कारण उन्हें अपनी आवश्यकता की हजारों वस्तुएँ खरीदनी पड़ती हैं। अतः व्यापार की मात्रा इस महाद्वीप में सर्वाधिक है। इस महाद्वीप के लोगों ने

न केवल वानस्पतिक एवं कृषीय साधनों का, प्रत्युत सामुद्रिक (मछली आदि), खनिज तथा औद्योगिक सभी साधनों का, अधिकाधिक विकास किया है। फलतः यहाँ का निवासी संसार का सबसे बड़ा विक्रेता, सबसे बड़ा उपभोक्ता एवं सबसे धनी खरीदार है।

संयुक्त राज्य के निवासियों का जीवनस्तर संसार में उच्चतम है; यहाँ का अंतर्देशीय व्यापार इस देश के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से दस गुना और समग्र संसार के अंतरर्राष्ट्रीय व्यापार से तीन गुना बड़ा है। १८६० ई० तक यह देश अधिकांशतः कच्चे माल विदेशों को भेजता था, परंतु अब दिनानुदिन पक्के माल का निर्यात बढ़ता जा रहा है। इस देश ने दो महायुद्धों में अपनी महाद्वीपीय शांति का लाभ उठाकर बहुत से बाजारों पर अपना अधिकार जमा लिया है। १६०० ई० में विदेशी व्यापार २,००,००,००,००० डालर का हुआ और १६५० में यह व्यापार बढ़कर १०,२७,५०,००,००० डालर का हुआ। निर्यात की वस्तुओं में महत्व के क्रमानुसार मशीनें, कपास, सूती कपड़े, गेहूँ, आटा, मोटरकार आदि, लोहा, इस्पात, इस्पात के सामान, पेट्रोलियम तथा उससे संबंधित अन्य सामान, तंबाकू, मांस आदि हैं। आयात में कॉफी, ऊन तथा ऊनी कपड़े, धातुएँ, कागज, रबर, चीनी, चाय, पेट्रोलियम, ऊर्णाजिन (फ़र), फल, खनिज, कच्चा लोहा, रत्न आदि प्रमुख हैं। कैनाडा इसका मुख्य स्रोत है।

कम आबादी रहते हुए भी कैनाडा संसार के देशों में प्रसिद्ध व्यापारिक देश है। निर्यात में वानस्पतिक वस्तुओं—कई प्रकार के कागज, लकड़ी की लुग्दी आदि—में प्रथम तथा कृषीय उपज—गेहूँ तथा आटे—में इसका द्वितीय स्थान है। ऐल्युमिनियम, निकेल, मछली तथा तत्संबंधी वस्तुओं, ऊर्णाजिन (फ़र), ताँबा एवं अन्य धातुओं तथा कुछ पक्के माल, मोटरकार, बिजली के सामान आदि का निर्यात होता है। आयात वस्तुओं में पक्के मालों, मशीनों आदि का प्रमुख स्थान है तथा पेट्रोलियम, कोयला, कच्चा लोहा, इस्पात, सूती कपड़े, पेय वस्तुएँ (कॉफी, चाय), चीनी, रबर आदि का भी आयात होता है। संयुक्त राज्य तथा ब्रिटेन देश इसके सबसे बड़े विक्रेता एवं खरीदार हैं।

मेक्सिको छोटा सा उष्ण कटिबंधीय और अपेक्षाकृत अविकसित देश है; अतः यहाँ व्यापार भी अधिक नहीं है। इसके निर्यात में कच्चे माल—चाँदी, ताँबा, मिट्टी का तेल आदि—हैं तथा आयात में खाद्यान्न एवं मशीनें, लोहे एवं इस्पात की वस्तुएँ, वस्त्र, पेय पदार्थ तथा चीनी आदि हैं। दक्षिण अमरीका के देशों से उत्तरी अमरीका का व्यापार बढ़ रहा है।

उत्तरी अमरीका में संयुक्त राज्य तथा कैनाडा अपेक्षाकृत नए बसे भूभाग हैं, परंतु मेक्सिको की सभ्यता मिस्र देश की तरह प्राचीन है। लगभग २,००० वर्ष पहले मेक्सिको घाटी में उच्च सभ्यता के लोग रहते थे जो पत्थर, हड्डी, मिट्टी आदि की निर्मित वस्तुओं का प्रयोग करते थे। उसके बाद की 'मय' सभ्यता अत्यंत उच्च मानी जाती है। मय जाति के लोगों को कृषि तथा सिंचाई के अतिरिक्त ज्योतिष, गणित, शिल्प, स्थापत्य आदि कलाओं का भी प्रचुर ज्ञान था। तदनंतर मध्यकालीन नहुआ, टॉल्टेक, ऐज़्टेक आदि लोगों की सभ्यता वहाँ प्रचलित थी। १६२५ ई० में मेक्सिको के फोलसम नगर के पास पुरातात्विक 'फोलसम कंप्लेक्स' की उपलब्धि से प्राचीनतम मानव का पता चलता है। दक्षिण-पश्चिमी संयुक्त राज्य में सात स्तरोंवाली प्यूब्लो संस्कृति के अवशेष भी उपलब्ध हैं।

खोजों से पता चलता है कि अलास्का-साइबेरिया के मध्य स्थित बेरिंग जलडमरुमध्य के द्वारा साइबेरिया से मानव का अमरीका में आगमन हुआ। बर्फीला तथा बीहड़ मार्ग होने पर भी सर्वाधिक सुगम रास्ता यही था। बेरिंग जलडमरूमध्य के दोनों ओर के निवासी शरीररचना, रंग, रूप, भाषा तथा रीति रिवाजों में भी पर्याप्त मिलते जुलते हैं। अमरीका के इंडियन जाति के लोग एशिया की मंगोल जातियों से, विशेषकर उत्तर-पूर्वी साइबेरिया के निवासियों से, सर्वथा मिलते जुलते हैं। चौड़ा चेहरा, उभरी हुई गाल की हड्डियाँ तथा भूरा रंग उनकी विशेषता है। एस्किमो लोग भी इन्हीं की एक उपजाति हैं। लंबा सिर, चौड़ा चेहरा, पतली नाक, तथा मंगोल आँखें इनकी विशेषताएँ हैं। इंडियन लोग जैसे जैसे दक्षिण बढ़ते गए, उनका रंग काला तथा लंबाई कम होती गई।

यद्यपि ८वीं एवं १२वीं सदियों के बीच यूरोप के कुछ निवासी उत्तरी अमरीका में पहुँच गए थे तथापि औपनिवेशिक काल १४६२ ई० के बाद ही प्रारंभ हुआ। मेक्सिको, दक्षिण-पश्चिमी संयुक्त राज्य तथा मध्य अमरीका में स्पेनवालों ने सेंट लारेंस की घाटी तथा मिसिसिपी के मुहाने पर फ्रेंच लोगों ने और मध्यवर्ती ऐटलांटिक तटों पर अंग्रेजों ने अधिकार जमाया। इटालियन, जर्मन, डच आदि यूरोपियनों ने भी अपनी अपनी बस्तियाँ स्थापित कीं। महाद्वीप में इनके प्रवेश के साथ साथ अधिक मारे जाने के कारण रेड इंडियनों का ह्रास होता गया। यूरोपियनों ने इसी औपनिवेशिक काल में दास के रूप में हब्शियों को लाकर बसाया। एशिया निवासी सबसे बाद में इस महाद्वीप में पहुँचे हैं। [का० ना० सिं०]

उत्तरी सागर

पूरब में यूरोप महाद्वीप और पश्चिम में ग्रेट ब्रिटेन से घिरा है। इकोसिना (१६२१) के अनुसार इसकी गहराई और क्षेत्रफल क्रमानुसार ३०८ फुट और २,२२,००० वर्ग मील हैं। इस प्रकार यह एक उथला सागर है। इसका नितल उस महाद्वीपीय निधाय (कांटिनेंटल शेल्फ) का एक भाग है जिसके ऊपर ब्रिटिश द्वीपसमूह स्थित है। इस निधाय की ढाल (प्रवणता) उत्तर से दक्षिण तक प्रायः एक समान है। डॉगर बैंक्स नामक समुद्र में निमग्न बालू का मैदान उत्तरी सागर के मध्य में स्थित है। इंग्लैंड के समुद्रतट के समीप इस सागर की गहराई ६५ फुट है जो पूर्व की ओर बढ़कर १३० फुट हो जाती है। इस सागर की सामान्य लवणता ३४ से ३५ प्रति सहस्र है।

मछलियाँ—उत्तरी सागर सूक्ष्म जीवों और पौधों में विशेष रूप से धनी है। इसलिये मछलियाँ इधर प्रचुर मात्रा में, अपने भोजन की खोज में, आकर्षित होती हैं। फलतः उत्तरी सागर विश्व का एक महत्वपूर्ण मत्स्य-उत्पादक क्षेत्र है। मत्स्य के प्राप्तिस्थानों में डॉगर बैंक्स (शीतकाल में) और महाद्वीपीय समुद्रतट के समीप स्थित उथले समुद्र (ग्रीष्मकाल में) प्रमुख हैं। पकड़ी जानेवाली मछलियों में हेरिंग का अनुपात सबसे अधिक रहता है; इसके बाद क्रमानुसार हैडक, कॉड, प्लेस, ह्वाइटिंग, मैकेरल इत्यादि आती हैं। [रा० ना० मा०]

उत्तानपाद

मनु और शतरूपा के पुत्र; उनकी पत्नी सुनृता के ध्रुव, कीर्तिमान् और वसु हुए। पुराणों में उत्तानपाद की एक और पत्नी सुरुचि बतलाई गई हैं जिनका पुत्र उत्तम था। ध्रुव के तप और 'अमृतत्व' प्राप्त करने से इस राजा के गौरव की अभिवृद्धि हुई। [चं० म०]

उत्पत्ति पुस्तक

बाइबिल के प्रथम ग्रंथ का नाम इसीलिये उत्पत्ति (जेनेसिस) रखा गया है कि इसमें संसार तथा मनुष्य की उत्पत्ति (अध्याय १–११) और बाद में यहूदी जाति की उत्पत्ति तथा प्रारंभिक इतिहास (अध्याय १२–५०) का वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ की बहुत सी समस्याओं का अब तक सर्वमान्य समाधान नहीं हुआ है, फिर भी ईसाई व्याख्याता प्रायः सहमत हैं कि उत्पत्ति पुस्तक में निम्न-लिखित धार्मिक शिक्षा दी जाती है—"केवल एक ही ईश्वर है जिसने काल के प्रारंभ में, किसी भी उपादान का सहारा न लेकर, अपनी सर्वशक्ति-मान् इच्छाशक्ति मात्र द्वारा विश्व की सृष्टि की है। बाद में ईश्वर ने प्रथम मनुष्य आदम और उसकी पत्नी हेवा की सृष्टि की, और इन्हीं दोनों से मनुष्य जाति का प्रवर्तन हुआ (दे० आदम)। शैतान की प्रेरणा से आदम और हेवा ने ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन किया, जिससे संसार में पाप, विषयवासना तथा मृत्यु का प्रवेश हुआ (दे० आदिपाप)। ईश्वर ने उस पाप का परिणाम दूर करने की प्रतिज्ञा की और अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार संसार को एक मुक्तिदाता प्रदान करने के उद्देश्य से उसने अब्राहम को यहूदी जाति का प्रवर्तक बना दिया (दे० अब्राहम)।"

यद्यपि उत्पत्ति पुस्तक की रचनाशैली पर सुमेरी-बाबुली महाकाव्य एनूमा-एलीश तथा गिल्गमेश की गहरी छाप है और उसके प्रथम रचयिता ने उसमें अपने से पहले प्रचलित सामग्री का उपयोग किया है जिसका उद्-गम स्थान मेसोपोटेमिया माना जाता है, तथापि उत्पत्ति पुस्तक की मुख्य धार्मिक शिक्षा मौलिक ही है। उस ग्रंथ की रचना पर मूसा (१५वीं शताब्दी ई० पू०) का प्रभाव सबसे महत्वपूर्ण प्रतीत होता है किंतु उसकी मिश्रित शैली से स्पष्ट है कि मूसा के बाद परवर्ती परिस्थितियों से प्रभावित होकर अनेक लेखकों ने उस प्राचीन सामग्री को नए ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया है। ग्रंथ का वर्तमान रूप संभवतः आठवीं शताब्दी ई० पू० का है। इसकी

व्याख्या करने के लिये दो तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए : (१) समस्त बाइबिल की भाँति उत्पत्ति पुस्तक का दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होकर धार्मिक ही है। रचयिताओं ने अपने समय की भौगोलिक तथा वैज्ञानिक धारणाओं का सहारा लेकर स्पष्ट करना चाहा है कि ईश्वर ही विश्व तथा उसके समस्त प्राणियों का सृष्टिकर्ता है। अतः उस ग्रंथ में विश्व के प्रारंभ का समय अथवा विज्ञान के अनुसार विश्व का विकासक्रम ढूंढ़ना व्यर्थ है। (२) उत्पत्ति पुस्तक में प्राय: प्रतीकों तथा रूपकों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ, आदम की उत्पत्ति का वर्णन करने के लिये सृष्टिकर्ता को कुम्हार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उस प्रतीकात्मक रचनाशैली का ध्यान रखे बिना उसकी धार्मिक शिक्षा समझना नितांत असंभव है। अतः मध्यपूर्व की प्राचीन भाषाओं तथा उनकी साहित्यिक शैलियों के अनुशीलन के बाद ही उत्पत्ति पुस्तक के प्रतीकों तथा रूपकों का आवरण हटाकर उसमें प्रतिपादित धार्मिक शिक्षा का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है।

सं० ग्रं०—ए कैथोलिक कमेंटरी ऑन होली स्क्रिप्चर, लंदन १९५३; एच० जे० जॉनसन : दि बाइबिल ऐंड दि अर्ली हिस्ट्री ऑव मैनकाइंड, लंदन १९४३; बी० वाटेर : ए पाथ थ्रू जेनेसिस, लंदन, १९५७।

[का० बु०]

उत्पल

काश्मीर का राजकुल जिसने लगभग ८५५ ई० से ल० ९३९ ई० तक राज किया। अंतिम करकोट राजा के हाथ से अवंतिवर्मन् ने शासन की बागडोर छीन उत्पल राजवंश का आरंभ किया। इस राजकुल के राजाओं में प्रधान अवंतिवर्मन् और शंकरवर्मन् थे। इस कुल के अंतिम राजा उन्मत्तावंती के अनौरसपुत्र सूरवर्मन द्वितीय ने केवल कुछ महीने राज किया। उत्पल राजकुल का अंत मंत्री प्रभाकरदेव द्वारा हुआ जिसके बेटे यशःकर को चुनकर ब्राह्मणों ने काश्मीर का राजा बनाया।

[ओं० ना० उ०]

उत्पलाचार्य

प्रत्यभिज्ञादर्शन के एक आचार्य। ये काश्मीर शैवमत की प्रत्यभिज्ञा शाखा के प्रवर्तक सोमानंद के पुत्र तथा शिष्य थे। इनका समय नवम शती का अंत और दशम शती का पूर्वार्ध था। इन्होंने प्रत्यभिज्ञा मत को अपने सर्वश्रेष्ठ प्रमेयबहुल ग्रंथ 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका' द्वारा तथा उसकी वृत्तियों में अन्य मतों का युक्तिपूर्वक खंडन कर उच्च दार्शनिक कोटि में प्रतिष्ठित किया। इनके पुत्र तथा शिष्य लक्ष्मणपुत्र अभिनवगुप्त के प्रत्यभिज्ञा तथा क्रमदर्शन के महामहिम गुरु थे। उत्पल की अनेक कृतियाँ हैं जिनमें इन्होंने प्रत्यभिज्ञा के दार्शनिक रूप को विद्वानों के लिये तथा जनसाधारण के लिये भी प्रस्तुत किया है। इनके मान्य ग्रंथ हैं—(क) स्तोत्रावली (भगवान् शंकर का स्तुतिपरक सरस सुबोध गीतिकाव्य); (ख) सिद्धित्रय (अजड प्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि (वृत्ति के साथ) और संबंधसिद्धि (टीका के साथ); (ग) शिवदृष्टिव्याख्या, यह इनके गुरु सोमानंद के 'शिवदृष्टि' ग्रंथ का व्याख्यान है जिसका प्रणयन, भास्करी के अनुसार, 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' से पूर्ववर्ती है; (घ) ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका, अपनी 'वृत्ति' नामक लघ्वी तथा 'विवृत्ति' नामक महती व्याख्या के साथ, उत्पलाचार्य का पांडित्यपूर्ण युक्तिसंवलित गौरवग्रंथ है जिसपर अभिनवगुप्त ने 'विमर्शिणी' और 'विवृत्तिविमर्शिणी' नामक नितांत प्रख्यात टीकाएँ लिखी हैं। इसी ग्रंथ ने इस दार्शनिक मतवाद को 'प्रत्यभिज्ञा' जैसी मार्मिक संज्ञा प्रदान की है।

[ब० उ०]

उत्पाद

बौद्ध दर्शन के अनुसार भौतिक तथा मानसिक अवस्थाओं में एक क्षण भी स्थिर रहनेवाला कोई तत्व नहीं है। सभी चीजें प्रदीपशिखा की तरह अनवरत अविच्छिन्न रूप से प्रवाहशील हैं। तो भी, चूँकि हमारा ज्ञान स्थिर कल्पनाओं से बना होता है, उस अनित्यस्वरूप की व्याख्या शब्दों से करना कठिन है। अतः बुद्ध के मौलिक अनित्यवाद ने आगे चलकर क्षणिकवाद का रूप ग्रहण कर लिया। इस 'क्षण' की कल्पना अत्यंत सूक्ष्म की गई। इसमें उत्पाद, स्थिति, भंग के क्षण माने गए। उत्पाद-स्थिति-भंग, इन तीन क्षणों का एक चित्तक्षण या रूपक्षण माना गया। आगे चलकर दार्शनिकों ने बताया कि परमतात्विक दृष्टि में उत्पाद-स्थिति-भंग के तीन क्षण हो ही नहीं सकते, सत्ता की प्रवाहशीलता तो अविच्छिन्न है।

[भि० ज० का०]

उत्प्रेरण

(कैटैलिसिस) रासायनिक क्रिया के उस त्वरण को कहते हैं जो किसी स्वयं न बदलनेवाले रासायनिक पदार्थ से उत्पन्न होता है।

सर्वप्रथम सन् १८३५ में, बर्जीलियस ने कुछ रासायनिक क्रियाओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया जिनमें कतिपय बाह्य पदार्थों की उपस्थिति में क्रिया की गति तो तीव्र हो जाती थी किंतु बाह्य पदार्थ उस क्रिया में कोई भाग नहीं लेता था। उदाहरणार्थ यदि इक्षु शर्करा (केन शुगर) को अम्लों की उपस्थिति में गरम करें तो वह बड़ी शीघ्रता से ग्लूकोस तथा फ्रुक्टोस में परिवर्तित हो जाती है। इस क्रिया में अम्ल कोई भाग नहीं लेता। वह पुन: काम में लाया जा सकता है। बर्जीलियस ने इस क्रिया को 'उत्प्रेरण' की संज्ञा दी तथा उन पदार्थों को 'उत्प्रेरक' (कैटालिस्ट अथवा 'कैटालिटिक एजेंट') के नाम से पुकारा जिनकी उपस्थिति में क्रिया वेग से होने लगती है। ओस्टवाल्ड ने उत्प्रेरक पदार्थों की परिभाषा इस प्रकार दी है : "उत्प्रेरक उस पदार्थ को कहते हैं जो किसी रासायनिक क्रिया के वेग को बदल दे, परंतु स्वयं क्रिया के अंत में अपरिवर्तित रूप में वर्तमान रहे।" उत्प्रेरक क्रिया के अंत में अपरिवर्तित रहता है, अतः उसे पुन: काम में लाया जा सकता है। अधिकांश क्रियाओं में उत्प्रेरक प्रतिक्रिया की गति को बढ़ा देता है। ऐसे उत्प्रेरकों को धनात्मक उत्प्रेरक कहते हैं; परंतु कुछ ऐसे भी उत्प्रेरक हैं जो रासायनिक क्रिया की गति को मंद कर देते हैं। ऐसे उत्प्रेरक ऋणात्मक उत्प्रेरक कहलाते हैं।

उत्प्रेरण की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

१. क्रिया के अंत में उत्प्रेरक अपरिवर्तित बच रहता है। उसके भौतिक संगठन में चाहे जो परिवर्तन हो जायँ, परंतु उसके रासायनिक संगठन में कोई अंतर नहीं होता।

२. उत्प्रेरक पदार्थ की केवल थोड़ी मात्रा ही पर्याप्त होती है। उत्प्रेरक की यह विशेषता इस तथ्य पर निर्भर है कि वह क्रिया के अंत में अपरिवर्तित रहता है। परंतु कुछ ऐसी क्रियाओं में जिनमें उत्प्रेरक एक माध्यमिक अस्थायी यौगिक बनता है, उत्प्रेरक की अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है।

३. उत्प्रेरक उत्क्रमणीय प्रतिक्रियाओं में प्रत्यक्ष और विपरीत दोनों ओर की क्रियाओं को बराबर उत्प्रेरित करता है, अतः उत्प्रेरक की उपस्थिति से प्रतिक्रिया की साम्य स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता, केवल साम्यस्थापन के समय में ही अंतर हो जाता है।

४. उत्प्रेरक नई क्रिया को प्रारंभ कर सकता है। यद्यपि ओस्टवाल्ड ने सर्वप्रथम यह मत प्रगट किया था कि उत्प्रेरक नई क्रिया प्रारंभ नहीं कर सकता, तो भी आधुनिक वैज्ञानिकों का यह मत है कि उत्प्रेरक नई क्रिया को भी प्रारंभ कर सकता है।

५. प्रत्येक रासायनिक क्रिया में कुछ विशिष्ट उत्प्रेरक ही कार्य कर सकते हैं। अभी तक वैज्ञानिकों के लिये यह संभव नहीं हो सका है कि वे सभी रासायनिक क्रियाओं के लिये किसी एक ही उत्प्रेरक को काम में लाएँ। यह आवश्यक नहीं कि किसी एक क्रिया का उत्प्रेरक किसी दूसरी क्रिया को भी उत्प्रेरित करे।

प्रायः सभी उत्प्रेरित क्रियाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है : (१) समावयवी उत्प्रेरित क्रियाएँ (समावयवी उत्प्रेरण); (२) विषमावयवी उत्प्रेरित क्रियाएँ (विषमावयवी उत्प्रेरण)।

समावयवी उत्प्रेरण—इन क्रियाओं में उत्प्रेरक, प्रतिकर्मक तथा प्रतिफल सभी एक ही अवस्था में उपस्थित होते हैं। उदाहरणार्थ, सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने की वेश्म विधि में सल्फर डाइआक्साइड, भाप तथा आक्सिजन के संयोग से सल्फ्यूरिक अम्ल बनता है तथा नाइट्रिक आक्साइड द्वारा यह क्रिया उत्प्रेरित होती है। इस क्रिया में प्रतिकर्मक, उत्प्रेरक तथा प्रतिफल इसी गैसीय अवस्था में रहते हैं।

विषमावयवी उत्प्रेरण—इन क्रियाओं में उत्प्रेरक, प्रतिकर्मक तथा प्रतिफल विभिन्न अवस्थाओं में उपस्थित रहते हैं। यथा, अमोनिया बनाने की हाबर-विधि में नाइट्रोजन तथा हाइड्रोजन की संयोगक्रिया को फ़ेरिक आक्साइड उत्प्रेरित करता है। सूक्ष्म निकल की उपस्थिति में वानस्पतिक तेलों का हाइड्रोजनीकरण इस प्रकार की क्रियाओं का एक अन्य उदाहरण है।

कुछ पदार्थ अपनी उपस्थिति से रासायनिक क्रिया के वेग पर प्रभाव नहीं डालते, परंतु कुछ दूसरे उत्प्रेरकों की क्रिया को प्रभावित करते हैं। इनमें से उन पदार्थों को जो उत्प्रेरकों की क्रियाशीलता को बढ़ा देते हैं, उत्प्रेरक-वर्धक तथा उन पदार्थों को जो उत्प्रेरकों की क्रियाशीलता कम कर देते हैं, उत्प्रेरकविरोधी या उत्प्रेरक विष कहते हैं।

आत्म उत्प्रेरक—कुछ प्रतिक्रियाएँ ऐसी भी ज्ञात हैं जिनमें प्रतिक्रया से ही उत्पन्न कोई पदार्थ प्रतिक्रिया के लिये उत्प्रेरक का कार्य करता है। उदाहरणार्थ, एथिल ऐसिटेट के जलविच्छेदन में जो ऐसीटिक अम्ल प्राप्त होता है, वही एस्टर के जलविच्छेदन की क्रिया को उत्प्रेरित करता है।

उत्प्रेरण के सिद्धांत—यद्यपि उत्प्रेरण को समझने समझाने के लिये बहुत पहले से अध्ययन होते चले आ रहे हैं, तथापि इस विषय में अभी अंतिम निष्कर्ष नहीं निकला है। वैज्ञानिक इसपर एकमत हैं कि सभी उत्प्रेरक एक ही सिद्धांत के अनुसार क्रिया नहीं करते। उत्प्रेरण की व्यवस्था के लिये दो सिद्धांत काम में लाए जाते हैं। (१) मध्यवर्ती यौगिक सिद्धांत; (२) अधिशोषण सिद्धांत।

१. मध्यवर्ती यौगिक सिद्धांत—यह उत्प्रेरण की व्याख्या के लिये एक रासायनिक सिद्धांत है। इसके अनुसार उत्प्रेरक पहले प्रतिकर्मकों में से एक के साथ क्रिया करके एक मध्यवर्ती अस्थायी यौगिक बनाता है; फिर वह मध्यवर्ती अस्थायी यौगिक दूसरे प्रतिकर्मकों से क्रिया करके प्रतिफल देता है तथा उत्प्रेरक पुनः अपनी पूर्वावस्था में आ जाता है। इसके अनुसार प्रतिकर्मकों '**क**' तथा '**ख**' की संयोजन क्रिया उत्प्रेरक '**ग**' की उपस्थिति में निम्नलिखित प्रकार से प्रकट की जाती है :

क+ग=कग (अस्थायी मध्यवर्ती यौगिक);

कग+ख=कख+ग;

क+ग=कग।

क्रिया के अंत तक यही क्रम चलता रहता है।

मध्यवर्ती यौगिक सिद्धांत के द्वारा कुछ क्रियाओं के उत्प्रेरण की व्याख्या सरल है। परंतु अधिकांश विषमावयवी क्रियाओं तथा उत्प्रेरक वर्धकों अथवा विषों की क्रियाओं को समझाना कठिन या असंभव सा है।

२. अधिशोषण सिद्धांत—यह उत्प्रेरण की व्याख्या के लिये भौतिक सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार प्रतिकर्मक उत्प्रेरक के तल पर घनीभूत हो जाते हैं। इस प्रकार उत्प्रेरक तल पर प्रतिकर्मकों की सांद्रता बढ़ जाने से मात्रा-अनुपाती-नियम के अनुसार क्रिया का वेग बढ़ जाता है।

अब उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों को मिलाकर एक नया सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार उत्प्रेरक पदार्थ के तल पर कुछ सक्रिय केंद्र होते हैं। इन केंद्रों म अणुओं या परमाणुओं को अधिशोषित करने की क्षमता होती है। अतः धातु के तल पर प्रतिकर्मकों के घनीभूत होने से सांद्रता तो बढ़ती ही है, जिसके कारण क्रियावेग में वृद्धि होती है, साथ ही इन सक्रिय केंद्रों पर प्रतिकर्मक इनके साथ अस्थायी यौगिक भी बना लेते हैं, जो मध्यवर्ती यौगिक सिद्धांत के अनुसार उत्प्रेरण का कार्य करते हैं।

एंजाइमों द्वारा उत्प्रेरण—एंजाइम जटिल कार्बनिक पदार्थ होते हैं जो पौधों या प्राणियों से प्राप्त किए जाते हैं। ये अधिकांश प्रतिक्रियाओं में अत्युत्तम उत्प्रेरक सिद्ध हुए हैं। पेड़ पौधों में होनेवाली लगभग सभी क्रियाओं में एंजाइम उत्प्रेरक का कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे शरीर में होनेवाली क्रियाओं, विशेषतया भोजन के पाचन में भी एंजाइम उत्प्रेरक का काम करते हैं।

उपयोग—औद्योगिक तथा रासायनिक क्रियाक्षेत्र में उत्प्रेरक बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। नाइट्रोजन का स्थिरीकरण उत्प्रेरित क्रियाओं का एक साधारण उदाहरण है। पेड़ पौधों के लिये स्थायी नाइट्रोजन की उपलब्धि नाइट्रेट या अमोनिया के रूप में होती है। नाइट्रोजन के ये दोनों ही रूप उत्प्रेरकों की सहायता से निर्मित होते रहते हैं।

द्वितीय महायुद्ध के समय लगभग समस्त विश्व में मोटर आदि वाहनों को चलाने में जो ईंधन काम में लाया जाता था वह सब उत्प्रेरकों की सहायता से ही तैयार किया जाता था। उत्प्रेरण द्वारा पेट्रोलियम से बहुत से ऐसे पदार्थ बनाए जाते थे जो ईंधन के रूप में काम में लाए जाते थे। इसके अतिरिक्त उत्प्रेरित क्रियाओं का अन्य महत्व भी है, उदाहरणतः ब्यूटाडाईन तथा स्टाइरीन से संश्लिष्ट रबर बनाने, गंधकाम्ल के निर्माण, तथा सूक्ष्म खंडित निकल की उपस्थिति में वानस्पतिक तेलों के हाइड्रोजनीकरण द्वारा वनस्पति घी के निर्माण में, इत्यादि।

सं॰ग्रं॰—ग्लास्टन : टेक्स्ट बुक ऑव फिजिकल केमिस्ट्री; ऐडवांटेज इन कैटेलिसिस; मेहरोत्रा, आर॰ सी॰ : भौतिक रसायन की रूपरेखा। [रा॰ दा॰ ति॰]

उत्प्लव

उत्प्लव (बॉय, buoy) उन पिंडों का नाम है जो समुद्रतल से बँधे रहते हैं और समुद्रपृष्ठ पर उतराते रहकर जहाजों को मार्ग की विपत्तियों या सुविधाओं की सूचना देते रहते हैं। उदाहरणतः, उत्प्लव संकीर्ण समुद्रों की नौपरिवहन योग्य सीमा सूचित करते हैं, या यह बताते हैं कि मार्ग उपयुक्त है, या यह कि उसके अवरोध कहाँ हैं, जैसे पानी के भीतर डूबी हुई विपत्तियाँ या बिखरे हुए चट्टान, सुरंग या टारपीडो के स्थल, तार भेजने के समुद्री तार, या लंगर छोड़कर चले गए जहाजों के छूटे हुए लंगर। कुछ उत्प्लवों से यह भी काम निकलता है कि लंगर डालने के बदले जहाज को उनसे बाँध दिया जा सकता है। इनको नौबंध उत्प्लव (मूरिंग बॉय) कहते हैं। उद्देश्य के अनुसार उत्प्लवों के आकार और रंग में अंतर होता है। ये काठ के कुंदे से लेकर इस्पात की बड़ी बड़ी संरचनाएँ हो सकती हैं, जिनमें जहाज बाँधे जाते हैं। उत्प्लव को अंग्रेजी में 'बॉय' कहते हैं और लश्करी हिंदी में इसे 'बोया' कहा जाता है। अंग्रेजी शब्द बॉय उस प्राचीन अंग्रेजी शब्द से व्युत्पन्न है जिससे आधुनिक अंग्रेजी शब्द बीकन (beacon, आकाशदीप) की भी उत्पत्ति हुई है। परंतु अब बॉय का अर्थ हो गया है उतराना, और उत्प्लव शब्द का भी अर्थ है वह जो उतराता रहे।

जब उत्प्लव नौपरिवहनोपयुक्त संकीर्ण समुद्री मार्ग को सूचित करते हैं तब ये दक्षिणबाहु उत्प्लव (स्टारबोर्ड हैंड बॉय) या वामबाहु उत्प्लव (पोर्ट-हैंड बॉय) या मध्यवाही उत्प्लव (मिड-चैनल बॉय) नाम से अभिहित होते हैं। दक्षिणबाहु उत्प्लव का अभिप्राय है मुख्य प्रवाह की दिशा में चलनेवाले या बंदरगाह, नदी, अथवा मुहाने में समुद्र की ओर से प्रवेश करनेवाले नौपरिवाहक की दाहिनी ओर पड़नेवाला उत्प्लव, तथा वामबाहु उत्प्लव का अर्थ है पूर्वोक्त परिस्थितियों में बाईं ओर पड़नेवाला उत्प्लव। जिस उत्प्लव का शीर्ष पानी के ऊपर शंकु (कोन) के आकार का दिखाई पड़ता है उसे शंक्वाकार उत्प्लव कहा जाता है और वह सर्वदा दक्षिणबाहु उत्प्लव होता है। जिस उत्प्लव का शीर्ष पानी के ऊपर चिपटा दिखाई देता है उसे मंजूषाकार (कैन) उत्प्लव कहते हैं और वह सर्वदा वामबाहु उत्प्लव ही होता है। जिन उत्प्लवों का सिर पानी के ऊपर गुंबदाकार दिखाई पड़ता है उन्हें गोलाकार (स्फ़ेरिकल) उत्प्लव कहते हैं और ये मध्यभूमि के छोर को सूचित करते हैं। वे उत्प्लव जो विस्तृत आधार पर खड़े रहते हैं और बहुत ऊँचे होते हैं स्तंभ उत्प्लव (पिलर बॉय) कहलाते हैं। अन्य विशेष उत्प्लवों, जैसे घंटोत्प्लव, प्रकाशोत्प्लव, स्वयं-ध्वनिकर-उत्प्लव, सीटी उत्प्लव आदि, की भाँति ये स्थितिविशेष के परिचायक होते हैं। ये समुद्र तट पर या बंदर पहुँचने के पहलेवाले मार्ग में रहते हैं। इसके अतिरिक्त जिन उत्प्लवों में केवल एक मस्तूल पानी के ऊपर दिखाई पड़ता है वे दंडोत्प्लव (स्पार-बॉय) कहे जाते हैं। कुछ उत्प्लवों के शीर्ष पर विशेष चिह्न भी बने रहते हैं जिनसे समुद्री मार्ग के अन्य ब्योरों या विशेषताओं का पता चलता है। इसी तरह इनपर अंकविशेष या नामविशेष भी अंकित हो सकता है। सुगम मार्ग की सूचना देनेवाले उत्प्लवों पर साधारणतः आड़ी या बेड़ी धारियाँ भी अंकित रहती हैं। हरे रंग में रँगे उत्प्लव से पता चलता है कि यहाँ कोई जहाज नष्ट हो गया है। छोटे जहाजों के पास में प्रायः संरक्षक उत्प्लव (वाच बॉय) लंगर डाले पड़े रहते हैं। इसी प्रकार 'मत्स्योत्प्लव' (डैन बॉय) सूचित करता है कि यह मछली मारने का क्षेत्र है, जहाँ जालों का खतरा है। समुद्र में शत्रु द्वारा डाले गए विस्फोटक सुरंगों के क्षेत्र की सीमा भी वह बता सकता है।

उत्प्लव साधारणतया इस्पात से बनाए जाते हैं। सर्वप्रथम लगभग १८७८ ई॰ में उत्प्लवों में तैलोत्पादित गैस के प्रकाश की व्यवस्था की गई। स्वयंचालित रुक रुककर प्रकाश देनेवाले यंत्र का उपयोग १८८३ ई॰ में किया गया। भयावह क्षेत्र, समुद्री तार तथा अन्य विपत्तियों को

सूचित करने के लिये भी उत्प्लवों का उपयोग किया जाता है। संक्रामक रोगग्रस्त यात्रियोंवाले पृथक्कृत जहाजों के रुकने का स्थान निरोधायन-उत्प्लवों (क्वारेंटाइन बॉयों) से मिलता है। यहीं आदेशपत्र की प्रतीक्षा में खड़े जहाज टिकते हैं। कभी कभी अधिकारी लोग गोलंदाजी तथा
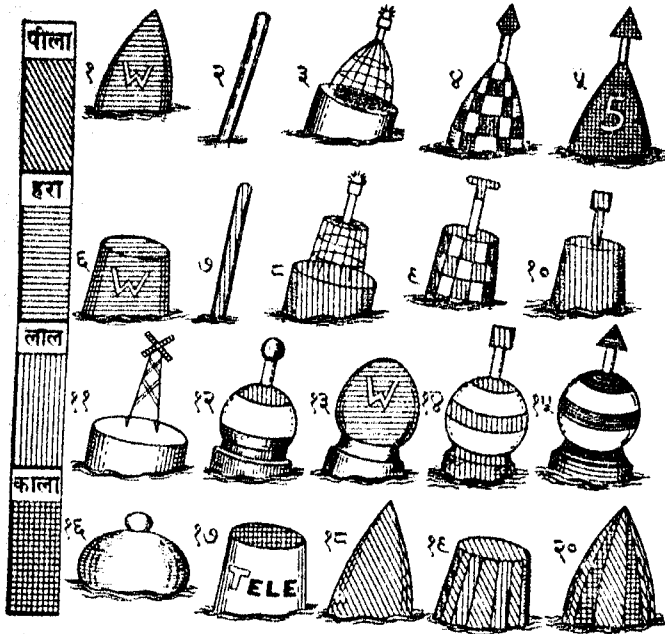
विविध प्रकार के उत्प्लव

१. (हरा) भग्नपोत सूचक उत्प्लव; २. बल्ली उत्प्लव; ३-५. दक्षिण उत्प्लव (जहाज को इस प्रकार चलाना चाहिए कि ये दाहिने हाथ की ओर पड़ें); ३. प्रकाशवाहक उत्प्लव; ४ और ५. (काला या चितकबरा) दक्षिण उत्प्लव; ६. भग्नपोत सूचक उत्प्लव; (हरा रंग, w श्वेत रंग में); ७. (लाल) भग्नपोत सूचक बल्ली उत्प्लव; ८-१० वाम उत्प्लव; ११. स्तंभ उत्प्लव, मध्यमार्गदर्शी उत्प्लव; १२. आशंकासूचक एकल उत्प्लव; १३. उभय-पार्श्व भग्नपोत उत्प्लव (हरा) (जहाज चाहे दाहिने से, चाहे बाएँ से निकल सकता है); १४-१५. मध्यक्षेत्र उत्प्लव; १६. नौबंध उत्प्लव; १७. समुद्री तार सूचक उत्प्लव (काला रंग, अक्षर श्वेत); १८. रोग सूचक (पीला) उत्प्लव (यहाँ वह जहाज बाँधा जाता है जिसपर कोई छुतहे रोगवाला व्यक्ति रहता है); १९. विपत्तिक्षेत्र (पीला तथा लाल); २०. नदीमुख तथा पंक-क्षेत्र उत्प्लव (काला और पीला)।

बमबाजी के अभ्यास के लिये भी कुछ क्षेत्र नियत कर लेते हैं, उसके लिये वे विशेष चिह्न के उत्प्लवों (स्पेशल मार्क बॉयों) द्वारा क्षेत्र को अंकित करते हैं।

वर्तमान शताब्दी में तरलीकृत ऐसेटिलीन गैस के प्रयोग से उत्प्लवों में प्रकाश लगाने में विशेष उन्नति हुई है। जहाँ धारा अत्यधिक तीव्र रहती है, जैसे हुगली नदी में, वहाँ की सूचना देने के लिये ऐसे उत्प्लव का कभी कभी उपयोग किया जाता है, जिसमें प्रकाश और घंट दोनों रहते हैं। छोटे छोटे प्रकाशपूर्ण उत्प्लवों का उपयोग समुद्र में तार बिछानेवाले जहाज तार की अस्थायी स्थिति दिखाने के लिये करते हैं।

नौबंध उत्प्लव बहुत से बंदरों में रहते हैं जिनका उद्देश्य यह रहता है कि जहाज नियत स्थानों पर ही रुकें, अन्यत्र नहीं, और उन्हें लंगर न डालना पड़े। ऐसे उत्प्लवों का उपयोग उस समय भी होता है जब जहाज माल उतारने के लिये घाट पर नहीं बाँधे जाते तथा उस समय भी जब आवश्यकता पड़ने पर उन्हें लंगर उठाना पड़ता है। नौबंध उत्प्लवों का रूप पथप्रदर्शक उत्प्लवों से प्रायः भिन्न होता है तथा उनका रंग भी भिन्न होता है। बड़े बड़े जहाजों के लिये बने नौ बंध उत्प्लवों में बहुधा पाँच तक भूमि-साँकल होते हैं, जिनमें दोनों सिरों पर लगे पेंच मुख्य साँकल को दृढ़ता से भूमि में बाँध देते हैं। बड़े बड़े उत्प्लवों में जिन जंजीरों का उपयोग किया जाता है वे ३१/४ इंच से ३३/४ इंच तक मोटी तथा ६०० से ७२० फुट तक लंबी होती हैं। [बा० कृ० गु०]

उदयन १. चंद्रवंश का राजा और सहस्रानीक का पुत्र। वत्स का नृपति, जिसकी राजधानी कौशांबी थी। कौशांबी इलाहाबाद जिले में नगर से प्रायः ३५ मील पश्चिम बसी थी, जहाँ आज भी यमुना के तीर कोसम गाँव में उसके खंडहर हैं।

उदयन संस्कृत साहित्य की परंपरा में महान् प्रणयी हो गया है और उसकी उस साहित्य में स्पेनी साहित्य के प्रिय नायक दोन जुआन से भी अधिक प्रसिद्धि है। बार बार संस्कृत के कवियों, नाट्यकारों और कथाकारों ने उसे अपनी रचनाओं का नायक बनाया है और उसकी लोकप्रियता के परिणामस्वरूप गाँवों में लोग निरंतर उसकी कथा प्राचीन काल में कहते रहे हैं। महाकवि भास ने अपने दो दो नाटकों—स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिज्ञायौगंधरायण—में उसे अपने कथानक का नायक बनाया है। वत्सराज की कथा गुणाढ्य की बृहत्कथा और सोमदेव के कथासरित्सागर में भी वर्णित है। इन कृतियों से प्रकट है कि उदयन वीणावादन में अत्यंत कुशल था और अपने उसी व्यसन के कारण उसे उज्जयिनी में अवंतिराज चंडप्रद्योत महासेन का कारागार भी भोगना पड़ा। भास के नाटक के अनुसार वीणा बजाकर हाथी पकड़ते समय छद्मगज द्वारा अवंतिराज ने उसे पकड़ लिया था। बाद में उदयन प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता के साथ हथिनी पर चढ़कर वत्स भाग गया। उस पलायन का दृश्य द्वितीय शती ईसवी पूर्व के शुंगकालीन मिट्टी के ठीकरों पर खुदा हुआ मिला है। एक ऐसा ठीकरा काशी विश्वविद्यालय के भारत-कला-भवन में भी सुरक्षित है। कला और साहित्य के इस परस्परावलंबन से राजा की ऐतिहासिकता पुष्ट होती है।

वत्सराज उदयन निःसंदेह ऐतिहासिक व्यक्ति था और उसका उल्लेख साहित्य और कला के अतिरिक्त पुराणों और बौद्ध ग्रंथों में भी हुआ है। उदयन बुद्ध का समकालीन था और उसने तथा उसके पुत्र बोधी दोनों ने तथागत के उपदेश सुने थे। बौद्ध ग्रंथों में वर्णित कौशांबी के बुद्ध के आवास पुनीत घोषिताराम से कौशांबी की खुदाई में उस स्थान को नामांकित पट्टिका अभी मिली है। उदयन ने मगध के राजा दर्शक की भगिनी पद्मावती और अंग के राजा दृढ़वर्मा की कन्या को भी, वासवदत्ता के अतिरिक्त, संभवतः ब्याहा था। बुद्धकालीन जिन चार राजवंशों—मगध, कोशल, वत्स, अवंति—में परस्पर दीर्घकालीन संघर्ष चला था उन्हीं में उदयन का वत्स भी था, जो कालांतर में अवंति की बढ़ती हुई सीमाओं में समा गया।

इधर हाल में जो प्राचीन के प्रति भारत का पुनर्जागरण हुआ है उसके परिणामस्वरूप उदयन को नायक बनाकर भारत की प्रायः सभी भाषाओं में नाटक और कहानियाँ लिखी गई हैं। इससे प्रकट है कि वत्सराज की साहित्यिक महिमा घटी नहीं और वह नित्यप्रति साहित्यकारों में आज भी लोकप्रिय होता जा रहा है। [भ० श० उ०]

उदयन २. न्याय-वैशेषिक दर्शन के मूर्धन्य आचार्य। ये मिथिला के निवासी थे जहाँ, 'करियौन' नामक ग्राम में, इनके वंशज आज भी निवास करते हैं। ये अक्षपाद गौतम से आरंभ होनेवाली प्राचीन न्याय की परंपरा के अंतिम प्रौढ़ नैयायिक माने जाते हैं। अपने प्रकांड पांडित्य, अलौकिक शेमुषी तथा प्रौढ़ तार्किकता के कारण ये 'उदयनाचार्य' के नाम से ही प्रख्यात हैं। इनका आविर्भावकाल दशम शतक का उत्तरार्ध है। इनकी 'लक्षणावली' का रचनाकाल ९०६ शक (९८४ ई०) ग्रंथ के अंत में निर्दिष्ट है। इन्होंने प्राचीन न्यायग्रंथों पर विवेचक भाष्य लिखने के अतिरिक्त अनेक मौलिक ग्रंथों की भी रचना की है जिनमें इनकी मौलिक सूझ तथा उदात्त प्रतिभा का पदे पदे परिचय मिलता है। इनकी प्रख्यात कृतियाँ ये हैं—(१) किरणावली-प्रशस्तपादभाष्य की टीका; (२) तात्पर्यपरिशुद्धि—वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित 'न्यायवार्तिक' की व्याख्या तात्पर्यटीका का प्रौढ़ व्याख्यान जिसका दूसरा नाम 'न्यायनिबंध' है; (३) लक्षणावली—जिसमें वैशेषिक दर्शन का सार संकलित है; (४)

उत्तर प्रदेश (देखें पृष्ठ ५६)
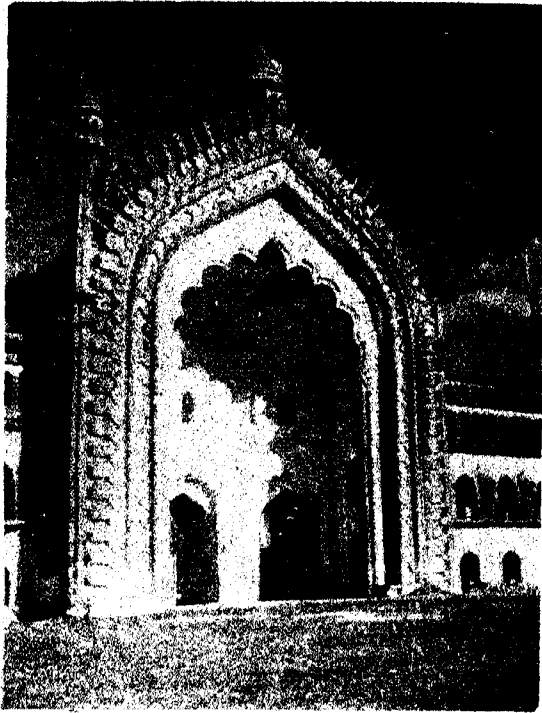
रूमी दरवाज़ा, लखनऊ

सूर्य मंदिर, जिला अलमोड़ा

विश्वनाथ मंदिर, वाराणसी
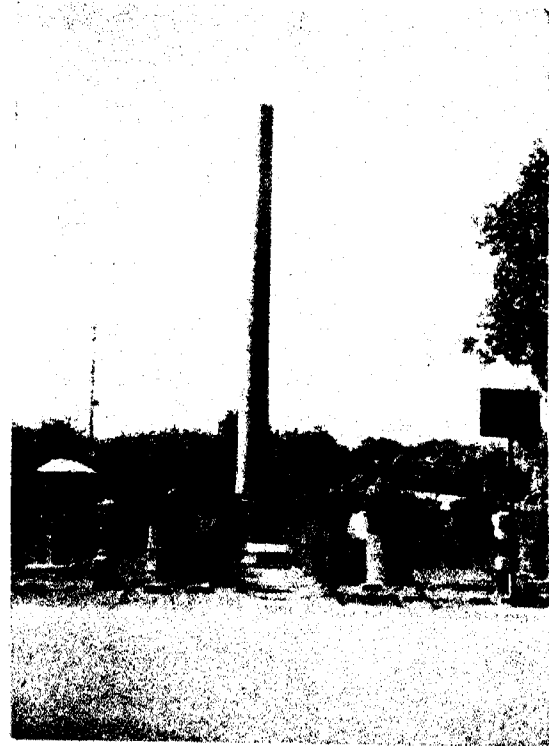
अशोक स्तंभ, किला इलाहाबाद

उदयपुर (देख पृष्ठ ७१)

दरबार हाल, पिछोला

विजय स्तंभ, चित्तौड़

फतेह महल, चित्तौड़
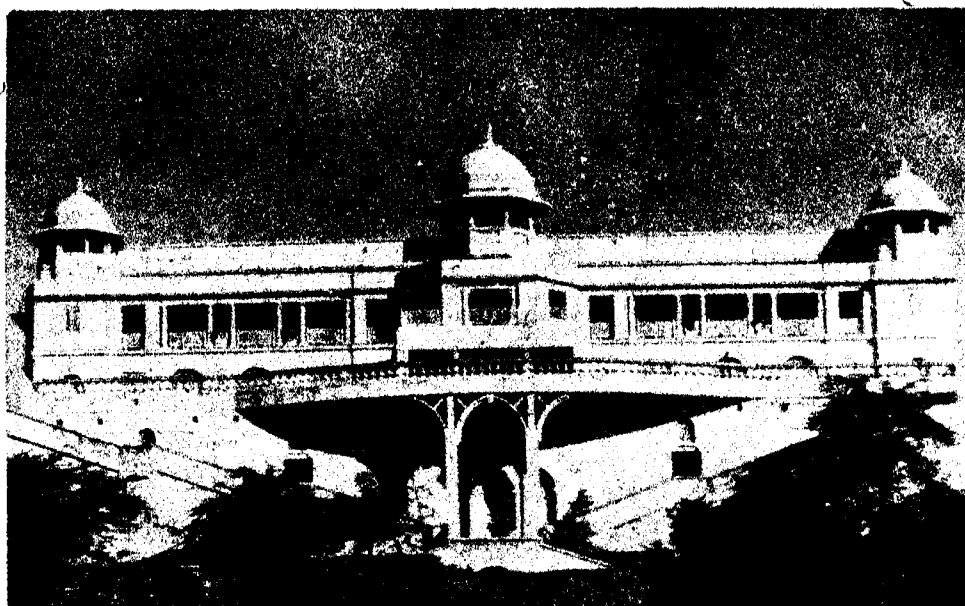
लक्ष्मीविलास महल, उदयपुर

जगनिवास, उदयपुर

कीर्ति स्तंभ, चित्तौड़
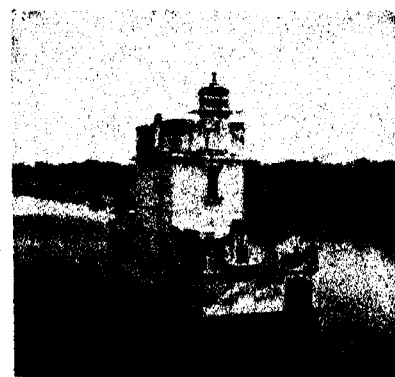
फतेहपुरी महल, चित्तौड़

बोधसिद्धि—जो न्यायसूत्र की वृत्ति है जिसका प्रसिद्ध अभिधान 'न्यायपरिशिष्ट' है; (५) आत्मतत्वविवेक—जिसमें बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद के सिद्धांतों का विस्तार से खंडन कर ईश्वर की सिद्धि नैयायिक पद्धति से की गई है। यह उदयन की कृतियों में विशेष प्रौढ़ तथा तर्कबहुल माना जाता है। रघुनाथ शिरोमणि, शंकर मिश्र, भगीरथ ठक्कुर तथा नारायणाचार्य आत्रेय जैसे विद्वानों की टीकाओं की सत्ता इस ग्रंथ की गूढ़ार्थता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। परंतु उदयन की सर्वश्रेष्ठ कृति है (६) 'न्यायकुसुमांजलि' जिसमें ईश्वर की सिद्धि नाना उदात्त तर्कों और प्रौढ़ युक्तियों के सहारे की गई है। ईश्वरसिद्धि विषयक ग्रंथों में यह संस्कृत के दार्शनिक साहित्य में अनुपम माना जाता है। ध्यान देने की बात है कि न्यायमत में जगत् के कर्तृत्व से ईश्वर की सिद्धि मानी जाती है। बौद्ध नितांत निरीश्वरवादी हैं। षड्दर्शनों में भी ईश्वरसिद्धि के अनेक प्रकार हैं। इन सब मतों का विस्तृत समीक्षण कर आचार्य उदयन ने अपने मत का प्रौढ़ प्रतिष्ठापन किया है। इनके विषय में यह किंवदंती प्रसिद्ध है कि जब इनके असमय पहुँचने पर पुरी में जगन्नाथ जी के मंदिर का फाटक बंद था, तब इन्होंने ललकारकर कहा था कि निरीश्वरवादी बौद्धों के उपस्थित होने पर आपकी स्थिति मेरे अधीन है। इस समय आप मेरी अवज्ञा भले ही करें। ऐश्वर्य मद मत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे। उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥ सुनते हैं कि फाटक तुरंत खुल गया और उदयन ने जगन्नाथ जी के सद्यः दर्शन किए। जगन्नाथ मंदिर के पीछे बनने के कारण किंवदंती की सत्यता असिद्ध है।

सं०ग्रं०—सतीशचंद्र विद्याभूषण : हिस्ट्री ऑव इंडियन लाजिक (कलकत्ता, १९२१); दिनेशचंद्र भट्टाचार्य : हिस्ट्री ऑव नव्य न्याय इन मिथिला (मिथिला संस्कृत इंस्टिट्यूट, दरभंगा, १९५८)। [ब० उ०]

उदयपुर

राजपूताना का एक देशी राज्य था; अब यह राजस्थान का एक जिला है; उदयपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर भी है।

राज्य—२३° ४९' से २५° २४' उत्तरी अक्षांशों एवं ७३° १' से ७५° ४९' पूर्वी देशांतरों के मध्य स्थित उदयपुर राज्य (क्षेत्रफल १३,१७० वर्गमील), राजस्थान की वह पुण्य भूमि है जहाँ परंपराबद्ध राजपूत गरिमा अक्षुण्ण रूप में समाविष्ट है। इसे मेवाड़ भी कहते हैं (मेवाड़ संस्कृत शब्द मेड़पाट का अपभ्रंश है, जो मेड़ों अथवा मेत्रों जातिवालों के देश के लिये प्रयुक्त होता है)।

अरावली पर्वत के दक्षिणी छोर पर यह राज्य एक पठार पर विस्तृत है, जो आद्यकल्पिक कठोर चट्टानों द्वारा निर्मित है। इसकी ढाल उत्तर-पूर्व की ओर है। उत्तर एवं पूर्व में राज्य का दो-तिहाई भाग अपेक्षाकृत समतल है जहाँ स्थान स्थान पर एकाकी पथरीली श्रेणियाँ एवं बंजर भूखंड वर्तमान हैं। दक्षिण-पश्चिमी भाग अधिक बीहड़, पठारी एवं दुर्गम है जिसे बनास नदी की शीर्ष नदियों ने अत्यंत छोटी छोटी सँकरी विषम घाटियों के रूप में काट छाँट डाला है; इन्हें चप्पन कहते हैं। इस क्षेत्र में भील लोग निवास करते हैं और स्थानांतरणशील कृषि में लगे हैं। राज्य में अनेक कृत्रिम एवं प्राकृतिक तालाब तथा झीलें हैं, जिनमें जयसमंद या ढेबर (२१ वर्ग मील), राजसमंद, उदयसागर, पचोला आदि प्रमुख हैं। कठोर क्वार्टजाइट पत्थर के कारण तालाबों से पानी रसकर बाहर नहीं निकलता। औसत वार्षिक वर्षा (१०''–२५'') की मात्रा अनिश्चित रहती है। यहाँ की मुख्य फसलें ज्वार, बाजरा, गेहूँ, जौ, चना, कपास, तंबाकू, तेलहन तथा दलहन हैं। बकरियाँ तथा ऊँट भी पाले जाते हैं। दक्षिण-पश्चिम में थोड़ा चावल भी होता है।

७२८ ई० में बप्पा रावल ने मेवाड़ राज्य को स्थापित किया था। इस राज्य के गौरवशाली राजाओं ने अनवरत स्वातंत्र्य युद्ध में रत रहकर जातीय गौरव की रक्षा की है। ये गुहलौत वंशीय शिशोदिया क्षत्रिय हैं और अपना अवतरण सूर्यवंशी रामचंद्र से मानते हैं। ये रावल, राणा या महाराणा कहलाते हैं। राज्यों में संमिलन के बाद उदयपुर राज्य राजस्थान में मिल गया है और उदयपुर मात्र एक जिला रह गया है (क्षेत्रफल : ६,२१५ वर्ग मील आबादी : ११,९१,२३२ १९५१)।

उदयपुर नगर—बंबई से ६९७ मील उत्तर उदयपुर-चित्तौर रेलवे के अंतिम छोर के पास स्थित उदयपुर नगर मेवाड़ के गर्वीले राज्य की राजधानी है। (जनसंख्या १९५१ में ८९,६२१)। नगर समुद्रतल से लगभग दो हजार फुट ऊँची पहाड़ी पर प्रतिष्ठित है एवं जंगलों द्वारा घिरा है। प्राचीन नगर प्राचीर द्वारा आबद्ध है जिसके चतुर्दिक् रक्षा के लिये खाई खुदी है।

पहाड़ी के ऊर्ध्व शिखर पर नाना प्रकार के प्रस्तरों से निर्मित महाराणा का प्रासाद, युवराजगृह, सरदारभवन एवं जगन्नाथमंदिर दर्शनीय हैं। इनका प्रतिबिंब पचोला झील में पड़ता है। झील के मध्य में यज्ञमंदिर एवं जलवास नामक दो जलप्रासाद हैं।

१५६८ ई० में अकबर द्वारा चित्तौर के विजित होने पर महाराणा उदयसिंह ने अरावली की गिर्वा नामक उपत्यका में उदयपुर नगर बसाया। आज यह राजस्थान में जयपुर, जोधपुर और बीकानेर के बाद सबसे बड़ा नगर है। यह नगर उन्नतिशील है, इसकी जनसंख्या ४७,८९३ (१९०१ की) से घटकर ३५,११६ (१९११ की) हो गई थी, पर बाद में बढ़ने लगी; १९४१ में जनसंख्या ५९,६५८ हुई और १९५१ में ८९,६२१ हो गई। नगर के ५० प्रति शत से अधिक व्यक्ति पेशेवर एवं प्रशासनिक कार्यों तथा लगभग ३८ प्रति शत व्यक्ति उद्योग एवं व्यापार में लगे हैं। उदयपुर में सोना, चाँदी, हाथीदाँत, जरी, बेलबूटे एवं तलवार, खंजर आदि बनाने के उद्योग हैं। यह क्षेत्र का प्रमुख शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक केंद्र है।

उदयपुर से दो मील दक्षिण एकलिंगगढ़ की चोटी पर एक प्रसिद्ध किला है। पास ही में सज्जननिवास बाग, सज्जनगढ़, राजप्रासाद आदि दर्शनीय हैं। [का० ना० सिं०]

उदयसिंह

ये मेवाड़ के राणा साँगा के पुत्र और राणा प्रताप के पिता थे। मेवाड़ की ख्यातों में इनकी रक्षा की अनेक अलौकिक कहानियाँ कही गई हैं। पिता के मरने के बाद इनका जन्म हुआ था और तभी गुजरात के बहादुरशाह ने चित्तौड़ नष्ट कर दिया था। इनकी माता कर्णावती द्वारा हुमायूँ को राखीबंद भाई बनाने की बात इतिहासप्रसिद्ध है। शैशव में ही उदयसिंह को कर्तव्यपरायण धाय पन्ना के साथ बलबीर से रक्षा के लिये जगह जगह शरण लेनी पड़ी थी। १५४१ ई० में वे मेवाड़ के राणा हुए और कुछ ही दिनों बाद अकबर ने मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ पर चढ़ाई की। हजारों मेवाड़ियों की मृत्यु के बाद जब लगा कि गढ़ अब न बचेगा तब जयमल और पत्ता आदि वीरों के हाथ में उसे छोड़ उदयसिंह अरावली के घने जंगलों में चले गए। वहाँ उन्होंने नदी की बाढ़ रोक उदयसागर नामक सरोवर का निर्माण किया था। वहीं उन्होंने अपनी नई राजधानी उदयपुर बसाई। चित्तौड़ के विध्वंस के चार वर्ष बाद उदयसिंह का देहांत हो गया। [ओं० ना० उ०]

उदयादित्य

मालवा का राजा था जिसने जयसिंह के बाद राजधानी धारा से मालवा पर राज किया। चालुक्यों से संघर्ष पहले से ही चल रहा था और उसके आधिपत्य से मालवा अभी हाल ही अलग हुआ था जब उदयादित्य ल० १०५९ ई० में गद्दी पर बैठा। मालवा की शक्ति को पुनः स्थापित करने का संकल्प कर उसने चालुक्यराज कर्ण पर सफल चढ़ाई की। कुछ लोग इस कर्ण को चालुक्य न मानकर कलचुरि लक्ष्मीकर्ण मानते हैं। इस संबंध में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि उदयादित्य ने कर्ण को परास्त कर दिया। उदयादित्य का यह प्रयास परमारों का अंतिम प्रयास था और ल० १०८८ ई० में उसकी मृत्यु के बाद परमार वंश की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती गई। उदयादित्य को अभिलेखों में भोज का 'बंधु' कहा गया है। कुछ आश्चर्य नहीं जो वह परमारों की दूसरी शाखा का रहा हो। उदेपुर और नागपुर के अभिलेखों में इसका उल्लेख राजा भोज के उत्तराधिकारी के रूप में हुआ है। [ओं० ना० उ०]

उदरपाद

(गैस्ट्रोपोडा) मोलस्का समुदाय में सबसे अधिक विकसित जंतु हैं। इनके शरीर सममित नहीं होते। प्रावार (मैंटल) दो टुकड़ों में विभाजित नहीं रहता, इसलिये खोल भी दो पार्श्वीय कपाटिकाओं का नहीं वरन् एक ही असममित कपाटिका का बना हुआ रहता है। यह कपाटिका साधारणतः सर्पिल आकृति में कुंडलीकृत होती है। इसके भीतर स्थित जंतु के शरीर का पृष्ठीय भाग भी, जिसमें आंतरंग (विसरा) का अधिकांश भाग रहता है और जिसे आंतरंग कुब्ब कहते हैं, सर्पिल आकृति में कुंडलीकृत रहता है। शरीर ऊपर से नीची दिशा में चपटा

रहता है। प्रावारीय गुहा में दो गलफड़ स्थित रहते हैं। बहुतों में केवल एक ही गलफड़ होता है। अधिकांश में एक शिर भी होता है जिसमें आकर्षणांग स्थित रहते हैं। शिर के पीछे अच्छी प्रकार से उन्नत एक औदरिक पैर रहता है। पैर का औदरिक तल चपटा, चौड़ा और बहुत फैला रहता है। वक्त्र गुहा में एक विशेष अवयव रहता है जिसको दंतवाही (ओडोंटोफ़ोर) कहते हैं। यह नन्हें नन्हें दाँतों के सदृश अवयव का आधार होता है। वृक्क केवल एक होता है। चेतासंहति में छः जोड़ी चेतागुच्छ पाए जाते हैं। उदरपाद एकलिंगी या उभयलिंगी हो सकते हैं। क्रमिवर्धन में रूपांतरण का दृश्य भी देखने में आता है।

उदरपाद अधिकतर पानी में रहते हैं। इनकी आदिम जातियाँ समुद्रों में रहती हैं। ये समुद्र के पृष्ठ पर रेंगती हैं, कुछ कीचड़ या बालू में घर बनाती हैं या चट्टानों में छेद करती हैं। कुछ ऐसे भी उदरपाद हैं जो समुद्र के पृष्ठ पर उलटे रहकर तैरते हैं; विशेषकर टेरोपॉड और हेटेरोपॉड, जिनके पैर मछली के पक्षों (फ़िन्स) के समान होते हैं, खुले समुद्र के पृष्ठ पर तैरते देखे जाते हैं।

उदरपाद समुद्र में १८,००० फुट की गहराई तक पाए जाते हैं। बहुतेरे उदरपाद मीठे जल में भी रहते हैं। पलमोनेट नामक उदरपाद स्थल और ऊँचे ऊँचे पहाड़ों पर भी पाए जाते हैं। निम्न कैंब्रियन युग के बहुतेरे जीवाश्मभूत उदरपादों का भी पता चला है।

घोंघा (स्नेल), मंथर (स्लग), पैरैला, एपलीशिया तथा ट्राइटन उदरपादों के मुख्य उदाहरण हैं। घोंघा और मंथर मनुष्य के भोजन के लिये उपयुक्त होते हैं। कुछ जंतु उद्यानों में पौधों को हानि पहुँचाते हैं। अनेक उदरपादों के खोलों से अलंकार, यंत्र तथा बरतन बनते हैं। कौड़ियों का पहले मुद्रा या सिक्के के रूप में प्रयोग होता था। शंख, जो मंदिरों में बजाया जाता है, एक विशेष उदरपाद की खोल है।

संरचना—मोलस्का समुदाय के जंतुओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से पता चलता है कि उदरपादों के पूर्वज के सारे शरीर की गठन सममित थी। अन्नस्रोतस सीधा, गुदद्वार पीछे की ओर, दो गलफड़ जिनमें सूत्र अक्ष के दोनों ओर रहते थे, प्रावार गुहा पीछे की ओर और दो वृक्क होते थे परंतु वर्तमान उदरपादों में, विशेषकर स्ट्रेप्टोन्यूरा गोत्र के उदरपादों में, केवल एक खोल रहती है जो सर्पिल आकृति में कुंडलीकृत होती है। आंतरंग कुब्ब के अतिरिक्त केवल एक वृक्क और एक गलफड़ होता है। प्रावारगुहा एवं गुदद्वार अग्रभाग में रहते हैं। यह साथ के चित्रों से विदित होगा।
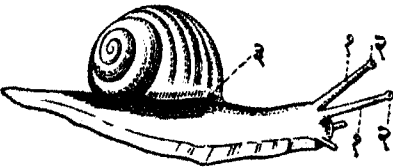
घोंघा, एक उदरपाद

१. स्पर्शशृंग; २. आँख; ३. श्वासछिद्र (पल्मोनेरी ऑरिफ़िस)
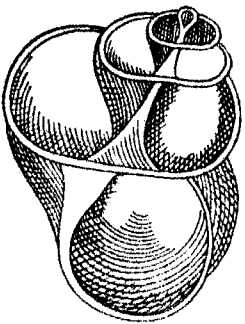
विशेषज्ञों का मत है कि उदरपादों की इस असममित रचना का कारण केवल ऐसे खोल का विकास है जो एक टुकड़े में हो और शरीर के सारे अवयवों और औदरिक मांसल पैरों को भी अच्छी तरह ढककर उनकी रक्षा कर सकें। ऐसी खोल कुंतलवलयित ही हो सकती है। इसके बनने के लिये यह आवश्यक था कि प्रावार गुहा, गलफड़ और मलोत्सर्गक छिद्र, ये सभी जंतु के शिर के पास खोल के द्वार पर आ जायँ। यह तभी हो सकता है जब प्रावार गुहा और उसके भीतर के सब अवयव अपना पुराना पीछेवाला स्थान छोड़कर आगे आ जायँ, और उदरपादों के विकास में ऐसा हुआ भी है। इससे जंतु के एक ओर की वृद्धि होती है, दूसरी ओर की रुक जाती है। बहुधा दाहिनी ओर की वृद्धि रुक जाती है और बाईं ओर की बढ़ती है। परिणाम यह होता है कि प्रावार गुहा तथा अन्य सब अवयव, जो इसमें स्थित रहते हैं, दाहिनी ओर घूमते हुए आगे बढ़ते हैं। अंत में गुदद्वार मुख के बाईं ओर आ जाता है। इस सारी घटना को ऐंठन (टॉर्शन) कहते हैं। इसमें शरीर अपने ही स्थान पर रहता है, परंतु अन्य कोमल अवयव अपने स्थान से पृष्ठ-उदर-रेखा पर लंब अक्ष के परितः घूमकर १८०° तक हट जाते हैं। इसी तरह की ऐंठन दिगंत अक्ष के परितः भी होती है जिससे आंतरंग कुब्ब पीठ पर आ जाता है। ये बातें साथ के चित्र से भली भाँति समझ में आ जायँगी।

घोंघे का कवच

काट (सेक्शन)
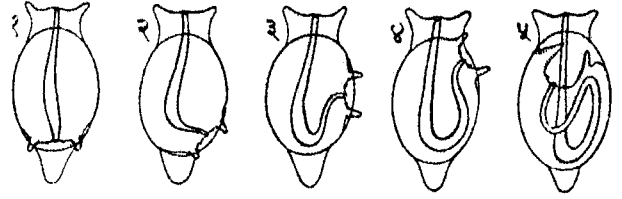
उदरपादों में प्रावार गुहा और आंत्रनाल का घूम जाना

चित्र १ में शरीर के सब अवयव प्रायः सममित हैं; २, ३ और ४ में इनके दाहिने तथा सामने की ओर स्थानांतरण की क्रमिक अवस्थाएँ दिखाई गई हैं; ५ में गुदा घूमते घूमते फिर बाईं ओर पहुँच गई है। यही अंतिम अवस्था है।

विस्थापन का फल—(१) अवयवों के विस्थापन के कारण अन्य स्रोतस फंदेदार हो जाते हैं और आंतरंग कुब्ब पीठ पर आ जाता है; (२) फुफ्फुस-आंतरंग विकृत होकर द्विपाद की आकृति का हो जाता है; (३) दाहिनी ओर का फुफ्फुस-आंतरंग-योजी आँतों के ऊपर और बाईं तरफ का योजी आँत के नीचे हो जाता है; (४) युग्म अवयवों में कमी हो जाती है—स्ट्रेप्टोन्यूरा गोत्र के उदरपादों में केवल एक वृक्क और एक गलफड़ पाया जाता है।

यूथिन्यूरा गोत्र के उदरपादों में ऐंठन की विपरीत क्रिया 'अनैठन' होती है। इससे प्रावार गुहा, गुदद्वार, वृक्क तथा गलफड़ दाहिनी ओर से पीछे की ओर खिसकने लगते हैं और फुफ्फुस-आंतरंग-योजी अपने विकृत रूप को छोड़कर सीधी हो जाती है। परंतु प्रत्येक अवयव एकल ही रहता है। खोल छोटा हो जाता या पूर्णतया लुप्त हो जाता है। पल्मोनेटा (भू-घोंघों) में इस क्रिया में थोड़ा अंतर आ जाता है—खोल बना रहता है और फुफ्फुस-आंतरंग-पाश (लूप) छोटा हो जाता है।

खोल—उदरपादों के खोल बहुधा कुंतलवलयित होते हैं, परंतु पैटेला जैसे उदरपादों के खोल शंकु (कोन) की आकृति के होते हैं। यदि कुंतलवलयित खोलों में शीर्ष से लेकर खोल के मुख तक कुंतल (छल्ले) घड़ी की सुइयों के चलने की भाँति रहते हैं तो खोल को दक्षिणावर्त (डेक्स्ट्रल) कहते हैं; इसके विपरीत यदि कुंतल (छल्लों) का घुमाव घड़ी की सुइयों के चलने की दिशा से उलटी ओर होता है तो उसको वामावर्त (सिनिस्ट्रल) कहते हैं। वामावर्त खोल बहुत कम पाए जाते हैं।

यदि कुंतल (छल्ले) केंद्रीय अक्ष के लंब समतल में रहने के बदले तिरछे बने रहते हैं तो खोल लंबा, नुकीला और गावदुम होता है, परंतु यदि उनमें तिरछापन नहीं होता तो खोल चपटे कहलाते हैं। खोल के मुख का किनारा परितुंड (पेरिस्टोम) कहलाता है। यह या तो संपूर्ण होता है या एक तरफ कटा हुआ, जहाँ से निनाल (साइफन) निकलता है। खोल का मुख साधारणतः एक ढक्कन से बंद रहता है जो पैर से चिपटा रहता है। भूमि पर रहनेवाले उदरपादों में ढक्कन नहीं होता। उनका मुख जाड़े में एक चिपचिपे लसदार पदार्थ से बंद रहता है।

बहुधा कौड़ियों (साइप्रिया मोनाटा) में प्रावार का किनारा, जिसपर बहुत सी स्पर्शिकाएँ (टेंटेकल) भी होती हैं, खोल के मुख के बाहर निकलकर उसको ढक लेता है।

ऐफ़ीज़िया नामक उदरपाद में प्रावार खोल को पूर्णतया ढक लेता है। इसकी खोल पूर्ण रूप से विकसित न होने के कारण जंतु के शरीर को नहीं ढक सकती।

ऊर्मिल प्रवरावलिक (बक्सिनम अंडेटम), एक उदरपाद

(कवच हटाने के पश्चात् गंधांग (ऑस्फ़ेडियम) को ढकनेवाले प्रावार को हटाकर उसके नीचे के भाग दिखाए गए हैं)
१. निनाल (साइफ़न); २. गंधांग (ऑस्फ़ेडियम); ३. गलफड़ (ब्रैंकिग्रा); ४. श्लेष्मिक ग्रंथियाँ।

डोरिस तथा ईओलिस नामक उदरपादों में खोल नहीं रहता। उन उदरपादों में भी खोल नहीं रहता जो खुले समुद्र में बहते और तैरते रहते हैं।

मासुरक्लोम (ईओलिस) नामक समुद्रीय मृदुमंथर

इसका पृष्ठ अनेक पतले दंड सदृश प्रवर्धों से ढका हुआ होता है।

लीमैक्स नामक उदरपादों में भी खोल नाममात्र ही रहता है। अधिकतर प्रावार ही इसको ढके रहता है।

पाद—इस वर्ग के जंतुओं के भिन्न भिन्न वंशों में पैर का विकास भिन्न भिन्न है। साधारणतः पैर मांसल और थोड़ा बहुत लंबा तथा अपेक्षाकृत चौड़ा होता है। नीचे का तल चिकना तथा चौरस होता है। इन्हीं से पेशी तंतुओं की सिकुड़न द्वारा जंतु रेंगता है। अंधांत्र (सीकम) में पैर के ऊपर तथा तल पर पक्ष्म होते हैं। बहुधा पैर में ग्रंथि होती है जिससे एक लिबलिबा पदार्थ निकलता है। इससे मार्ग चिकना हो जाता है और रेंगने में सुगमता होती है।

उदरपाद का लाक्षणिक पैर तीन भागों का होता है। अग्रपाद, जो कुछ उदरपादों में छेद करने के काम आता है, मध्यपाद और पश्चपाद। चलने में मध्यपाद महत्वपूर्ण होते हैं। मिटिलस नामक उदरपादों में पैर बहुत छोटे होते हैं।

एफ़ीज़िया नामक उदरपादों के पैर के पार्श्ववर्ती भाग मछली के पक्ष के समान तरने के काम में आते हैं। टेरोपॉड और हेटेरोपॉड नामक उदरपाद अपने पैर से खुले समुद्र के पानी में तैरते तथा बहते हैं।

शिर—उदरपादों में शिर खूब विकसित होता है। यह शरीर से ग्रीवा के समान एक अंग द्वारा जुड़ा रहता है। मुख शिर के अग्रभाग पर कुछ नीचे की ओर स्थित रहता है। बहुतों में मुख के बाहर निकलनेवाला एक अंग लंबी सूँड़ सा होता है। शिर के पृष्ठ पर एक या दो जोड़ी पतली स्पर्शिकाएँ (टेंटेकल) होती हैं। स्पर्शिकाओं की जड़ के पास आँखें होती हैं। स्पर्शिकाओं की पहली जोड़ी छोटी होती है और सूँघने का काम करती है। पल्मोनेटा (भू-घोंघों) में आँखें स्पर्शिकाओं की दूसरी जोड़ी के सिरे पर स्थित रहती हैं।
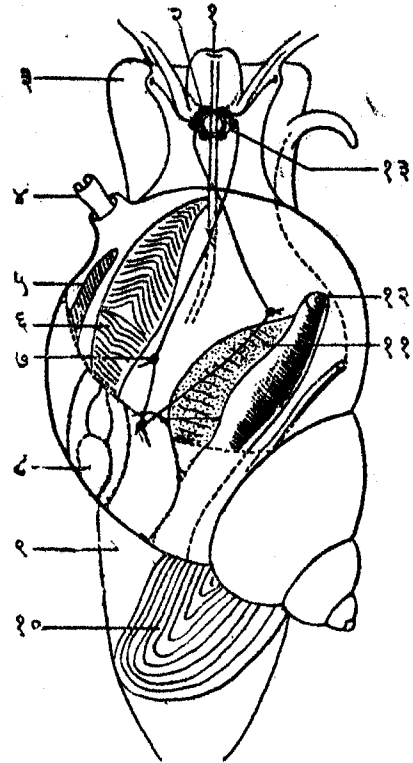
छत्तेदार गलफड़वाला (कोम गिल्ड) घोंघा

[प्रावार गुहा (मैंटल कैविटी) और ऊपर का प्रकवच दोनों को पारदर्शी मानकर, छत्तेदार गलफड़वाले घोंघे के अंग; ऊपर से देखने पर]
१. मुँह; २. मस्तिष्क गुच्छिका (ब्रेन गैंग्लिअन); ३ और ६. पैर; ४. निनाल (साइफ़न); ५. गंधांग (ऑस्फ़ेडियम); ६. एक क्लोम (गलफड़); ७. तीन गुच्छिकाओं में से एक; ८. हृदयावरण में हृदय; १०. ढापन (ओपरक्यूलम)।

प्रावार—शरीर की दीवार की उस परत को प्रावार (मैंटल) कहते हैं जिसमें बाहरी कड़ी खोल (कवच) का निर्माण करनेवाली ग्रंथियाँ
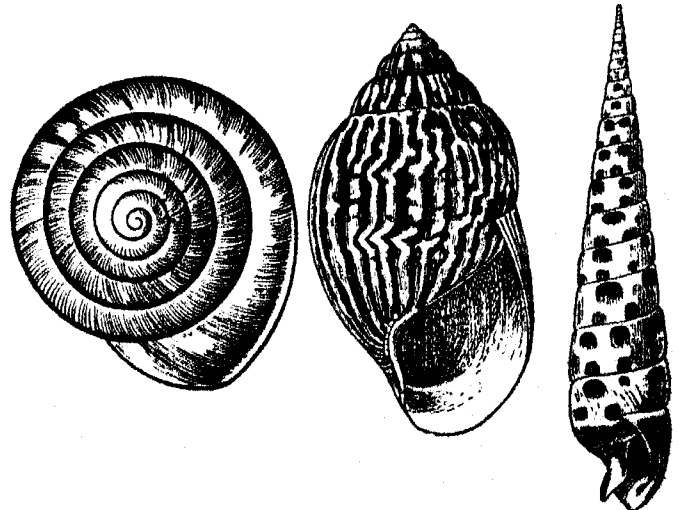
उदरपादों के कवच

तीन विभिन्न रूप।

रहती हैं। यह जंतु की दाहिनी ओर रहता है। प्रावार और वास्तविक शरीर के बीच एक गुहा रहती है जिसको प्रावारीय गुहा कहते हैं। जिन उदरपादों में खोल कुंतलवलयित होता है उनमें प्रावारीय गुहा शरीर के अग्र भाग में होती है। इस गुहा में गुदद्वार, वृक्क और गलफड़ रहते हैं। प्रावारीय गुहा का बाहरी मुख चौड़ा होता है। प्रावार के एक किनारे नल की आकृति का वह अंग रहता है जिसे साइफन कहते हैं; इसमें ताजा पानी साँस लेने के लिये आता है और निकल भी जाता है। बहुधा कौड़ियों में प्रावार का किनारा, जिसपर बहुत से स्पर्शश्रृंग भी रहते हैं, खोल के मुख के बाहर निकलकर खोल को ढक लेता है।
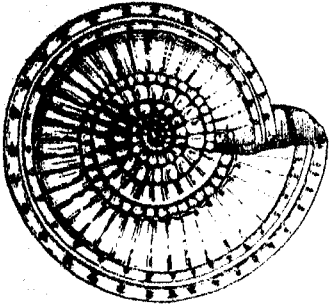
रम्य सूर्यक (सोलेरियम पर्सपेक्टिवम) नामक उदरपाद
(नीचे से)

एफ़ीजिया नामक उदरपाद में प्रावार कवच को पूर्णतया ढक लेता है। इसमें कवच पूर्णतया विकसित नहीं होता; इसलिये जंतु के शरीर को नहीं ढक सकता।

श्वास संस्थान—साधारणतया गलफड़ दो होते हैं, परंतु अधिकतर बाईं ओर वाला गलफड़ ही पूर्ण विकसित जंतु में कार्यशील रहता है। जिन उदरपादों में दो गलफड़ रहते हैं उनमें प्रत्येक गलफड़ के अक्ष में दोनों ओर गलफड़-सूत्र लगे रहते हैं और उनका एक सिरा शरीर से जुड़ा रहता है। एक गलफड़वाले उदरपादों में, जैसे ट्राइटन में, गलफड़ के अक्ष के एक ही ओर सूत्र होते हैं और गलफड़ का पूरा अक्ष शरीर से जुड़ा रहता है।
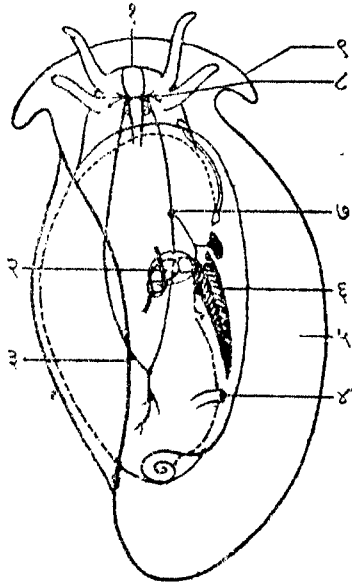
आवृत क्लोम (टेक्टिब्रैंक) घोंघा

ऊपर से देखते हुए: १. मुँह; २. हृदयावरण में हृदय; ३. पृष्ठ पर द्विरावृत्त, बायाँ परिपाद (एपिपोडियम); ४. आँतों का द्वार; ५ और ९. दाहिना परिपाद; ६. गलफड़, जिसके सन्मुख गंधांग (ऑस्फ़ेडियम) दिखाई पड़ता है; ७. अनुद्वेष्टित (अनटि्वस्टेड) तंत्रिका पाश पर की दो गुच्छिकाओं (गैंग्लिआ) में से एक; ८. गुच्छिकाओं सहित तंत्रिका वलय।

न्यूडीब्राउखों में गलफड़ नहीं होते, श्वसनकार्य द्वितीयक गलफड़ द्वारा संपन्न होता है। यह इयोलिस नामक उदरपादों में समूचे पृष्ठतल पर विस्तृत रहता है और डोरिस नामक उदरपादों के गुदद्वार के चारों ओर वलय के रूप में रहता है। पैटेला में भी असली गलफड़ नहीं होते, जो रहते हैं वे केवल अवशेष स्वरूप हैं। इसमें भी श्वसन द्वितीयक गलफड़ से होता है। पलमोनेटा में श्वसन फुप्फुसीय कोष द्वारा होता है। पानी में रहनेवाले पल्मोनेटों में फुप्फुसीय कोष श्वसनेंद्रिय का काम देता है।

पाचन संस्थान—बहुत से उदरपादों में सूँड़ के समान एक अंग होता है जो आवश्यकतानुसार बाहर निकल आता है। वक्त्रगुहा में फीते जैसा एक विशेष अवयव होता है जिसपर बहुत से छोटे छोटे दाँत आड़ी पंक्तियों में क्रम से लगे रहते हैं। इस विशेष अवयव को घर्षक (रैड्युला) कहते हैं। यह घर्षक वक्त्रगुहा के धरातल पर स्थित एक गद्दी पर लगा रहता है। मांसपेशियों की क्रिया द्वारा यह आगे पीछे या ऊपर नीचे चल सकता है। गद्दी, मांसपेशियों तथा घर्षक इन सबको संमिलित रूप से दंतवाही (ओडोंटोफ़ोर) कहते हैं। यह रेती की तरह भोजन को रेतकर उसको सूक्ष्म कणों में परिणत कर देता है। लाला ग्रंथियाँ और यकृत सब उदरपादों में पाए जाते हैं। उदर में मणिभ लैंस (क्रिस्टेलाइन लेंज़) होता है। शाकाहारियों में आँतें लंबी एवं भंजित (फ़ोल्डेड) होती हैं, क्योंकि खाने का सब पौष्टिक पदार्थ चूसकर ग्रहण करने में अधिक स्थान की आवश्यकता पड़ती है। मांसाहारियों में आँत छोटी और सीधी होती है।

हृदय—हृदय अन्य मोलस्कों की भाँति परिहार्द गुहा में हृदयावरण से ढका रहता है। परिहार्द गुहा शरीरगह्वर का ही भाग है जो वृक्कगुहा से भी संबंधित रहती है। साधारणतया उदरपादों में, जैसे ट्राइटन में, हृदय में एक अलिंद (ऑरिकिल) और एक निलय (वेंट्रिकिल) होता है लेकिन
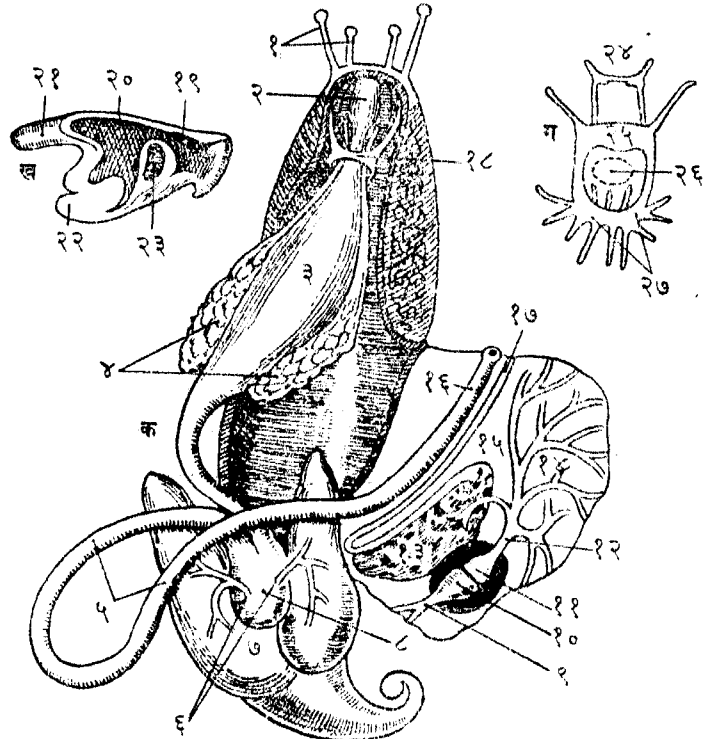
बागों में पाए जानेवाले घोंघे (स्नेल) की रचना

क—ऊपर की ओर से काट; फेफड़े की छत दाहिनी ओर फैलाई हुई है। १. स्पर्शिकाएँ (टेंटेकिल्स); २. मुखपुंज (बकल मास); ३. अन्नग्रह (क्रॉप); ४. लार ग्रंथियाँ; ५. आँतें; ६. पित्तवाहक नलियाँ; ७. यकृत; ८. आमाशय; ९. महाधमनी (एओर्टा); १०. निलय (वेंट्रिकल); ११. अलिंद (ऑरिकिल्); १२. फुप्फुस शिरा; १३. वृक्क; १४. तथा १५. फुप्फुस; १६. गुदा; १७. मूत्रवाहिनी; १८. मस्तिष्क। **ख**—मुखपुंज (दाहिने भाग का आधा निकाल दिया गया है)। १९. जबड़ा; २०. घर्षक (रैडुला); २१. ग्रासनली (गलेट); २२. घर्षक स्यून; २३. उपास्थि (कार्टिलेज)। **ग**—तंत्रिका वलय (पीठ की ओर से)। २४. मुख गुच्छिकाएँ (बकल गैंग्लिआ); २५. मस्तिष्क; २६. ग्रास नली; २७. प्रतिपृष्ठ गुच्छिकाएँ (वेंट्रल गैंग्लिआ)।

हैलिटोसिस नामक उदरपादों में दो अलिंद और एक निलय होता है। ओपिस्थोब्रैंकिया में हृदय गलफड़ के आगे रहता है और प्रोसोब्रैंकिया में बगल में या पीछे।

वृक्क—वृक्क साधारणतया दो ग्रंथिल नलियों या कोष्ठकों के रूप में पृष्ठतल पर होता है। यह परिहार्दि गुहा से भी संबद्ध रहता है और सीधे या गवीनी द्वारा बाहर खुलता है। दोनों वृक्क या तो बराबर होते हैं या गुदद्वार के दाहिनी ओरवाला वृक्क बाईं ओरवाले से बड़ा होता है। बहुतों में एक ही वृक्क होता है। कुछ उदरपादों में जनद (गोनेड) वृक्क में खुलते हैं। वृक्क के द्वारा शरीर के रक्त के सारे विषाक्त पदार्थ बाहर निकलते हैं।

तंत्रिकातंत्र—परजीवी उदरपादों को छोड़कर अन्य उदरपादों में तंत्रिकातंत्र भली भाँति विकसित होता है। इसमें तंत्रिकारज्जु (नर्व-कॉर्ड्स), योजिकाओं द्वारा जुड़ी गुच्छिकाएँ (गैंग्लिया) और ज्ञानेंद्रियाँ संमिलित हैं। ज्ञानेंद्रियों में आँखें, स्थितंग (स्टैटोसिस्ट्स, जिनसे जीव को अपने शरीरसंतुलन का पता चलता है) और घ्राणेंद्रियाँ (आसफ़ेडिया) संमिलित हैं। इनके अतिरिक्त शरीर के विभिन्न भागों में अन्य संवेदक क्षेत्र रहते हैं परंतु उनका कार्य कम स्पष्ट है।

आँखें शिर से निकले स्पर्शशृंगों पर अथवा उनकी जड़ पर रहती हैं। वे प्याली के आकार की होती हैं। रंगयुक्त रूपाधार (रेटिना) वाली परत बाहर रहती है और इसलिये सदा समुद्रतल के स्पर्श में रहती है। ऐसी आँखें डोकोग्लोसा में होती हैं। कुछ उदरपादों में ताल (लेंज़) भी होता है, कुछ में कार्निया भी। घ्राणेंद्रियाँ प्रावार गुहा में रहती हैं और इनका कार्य वस्तुतः यह पता लगाना है कि जल साँस लेने योग्य है अथवा नहीं।

जनन संस्थान—स्ट्रेप्टोन्यूरा नामक उदरपाद प्रायः एकलिंगी होता है और एथिन्यूरा उभयलिंगी। एकलिंगी जंतुओं में जननसंस्थान उभयलिंगियों से अधिक सरल होता है। इसमें जनद (गोनैड) पृष्ठतल पर आमाशय कुब्ब में स्थित होता है और प्रजनन प्रणाली शरीर के दाहिनी ओर बाहर खुलती है। नर में शिश्न नालीदार तथा अकुंचनशील (नॉन-कॉन्ट्रैक्टाइल) होता है। हेलिक्स जैसे उभयलिंगी उदरपाद में जनन संस्थान बड़ा जटिल होता है—इसमें प्रजनन ग्रंथि (ओवोटेस्टिस) श्वेत रंग की होती और आमाशय कुब्ब के शिखर पर स्थित होती है। पुंबीज और स्त्रीबीज ओवोटेस्टिस के एक ही पुटक में बनते हैं। परिपक्व पुंबीज प्रायः बारहों मास मिलते हैं परंतु स्त्रीबीज समय समय पर बनते हैं। पुंबीज एवं स्त्रीबीज दोनों ही एक साथ उभयलिंगी प्रजनन प्रणाली से होकर ऐलब्यूमिन ग्रंथि में चले जाते हैं। उभयलिंगी वाहिनी (डक्ट) के अंतिम सिरे पर शुक्रपात्र (रिसेप्टिक्युलम सेमिनिस) होता है जिसमें पुंबीज भरे रहते हैं। इसी में संसेचन (फ़र्टिलाइज़ेशन) होता है। संसेचन के बाद पुंस्त्रीबीज चौड़ी वाहिनी में जाते हैं जो सीधे बाहर जाकर खुलती है। इसके भीतर पुंस्त्रीबीज कैल्सियम कारबोनेट के एक खोल से ढक जाते हैं। पूर्वोक्त चौड़ी वाहिनी का अंतिम सिरा योनि कहलाता है। योनि मोटी और मांसल होती है। योनि में श्लैष्मिक ग्रंथि, शुक्रधानी छिद्र और शर-स्यून (डार्ट सैक) खुलता है। पुंबीज पुंबीजवाहिनी से होकर शिश्न में जाते हैं जहाँ से एक पतली लंबी नलीनुमा कशाभ (फ़्लैजेलम) निकलता है। इसमें बहुत से पुंबीजों पर एक तरह का खोल चढ़ जाता है। इस तरह से शुक्र भर (स्पर्मैटोफ़ोर) बनते हैं। योनि और शिश्न दोनों एक जननद्वार (जेनिटल ऐट्रियम) में खुलते हैं। यह शरीर के दाहिनी ओर खुलता है। उभयलिंगियों में (जैसे कुंतलावर अर्थात् हेलिक्स में) संसेचन प्रायः परसंसेचन ही होता है, यद्यपि स्वयंसंसेचन के उदाहरण भी मिलते हैं।

कृष्ण मृदुमंथर (ब्लैक स्लग) का एक जोड़ा

ये अभी वृक्ष की शाखा पर हैं और चिपचिपा पदार्थ तैयार कर रहे हैं, जिसकी सहायता से वे शीघ्र ही वायु में मैथुन के लिये लटकनेवाले हैं (आगामी चित्र देखें)।

जब दो घोंघे एक दूसरे के सामने आकर मिलते हैं तो दोनों के जननद्वार खुल जाते हैं। नर तथा नारी जननछिद्र भी खुल जाते हैं। तब नारी घोंघे के जननछिद्र से शर (डार्ट) निकलकर दूसरे घोंघे को छेदते हैं, जिससे वे उत्तेजित हो जाते हैं। दोनों घोंघों का आपस में संसेचन होता है। इस क्रिया में एक घोंघे का शिश्न दूसरे घोंघे की योनि में चला जाता है। एक घोंघे के शुक्रभर दूसरे घोंघे के पुंबीजकोष में पहुँचकर फट जाते हैं, जिससे पुंबीज बाहर निकल आते हैं और शुक्रपात्र में पहुँचकर स्त्रीबीज से मिलकर संसेचन क्रिया समाप्त करते हैं।

संसेचन मई तथा जून के महीन में होता है। संसेचित समूह जुलाई में बाहर निकलते हैं। जुलाई तथा अगस्त में संसेचन क्रिया के बाद घोंघे अपने संसेचित समूह को, जिसमें भ्रूण के लिये खाद्य पदार्थ भी होता है, मिट्टी में किसी बड़े छेद या गड्ढे में बाहर निकाल देते हैं। लगभग २५ दिनों में बच्चे अंडे के बाहर निकल आते हैं।

पैटेला में संसेचन बाहर पानी में होता है, परंतु अन्य सब उदरपादों में शरीर के भीतर होता है। संसेचित अंडसमूह लसदार पदार्थ में लिपटे रहते हैं। इनके छोटे छोटे पिंड या मालाएँ पानी में तैरती हुई या समुद्री पौधों से उलझी हुई पाई जाती हैं।

कृष्ण मृदुमंथर का संभोग]

चिपचिपे पदार्थ के तार की सहायता से वायु में लटककर और डाल तथा टहनियों की बाधा से मुक्त होकर वे स्वच्छंदता से संभोग करते हैं। प्रत्येक में नारी और पुरुष दोनों अंग होते हैं और प्रत्येक मंथर दूसरे को संसेचित करता है।

स्ट्रेप्टोन्यूरा के संसेचित समूह खाद्य पदार्थ के साथ चमड़े जैसे खोल में बंद रहते हैं। एक खोल में केवल एक ही भ्रूण पूर्ण विकसित होता है। शेष इसके खाने में काम आते हैं।

पलमोनेटा के अंडसमूह कैल्सियम कारबोनेट के खोल में बंद रहते हैं जो भूमि के किसी बड़े छेद में छोड़ दिए जाते हैं। कुछ समुद्री तथा मीठे जल के उदरपादों का विस्तार घोंघे के शरीर के भीतर उसकी स्त्रीबीज-प्रणाली में होता है। बिक्सन नामक उदरपादों में डिंभ दो तरह के पाए जाते हैं : मंडलाकार तथा पट्टिका रूप। तरुण उदरपादों में द्विपार्शवीय सममिति होती है, परंतु पूर्ण विकसित अवस्था में वे असममित हो जाते हैं।

वर्गीकरण—उदरपादों को निम्नलिखित गोत्रों में विभाजित किया गया है :

गोत्र १. **स्ट्रेप्टोन्यूरा (प्रोसोब्रैंकिया)** इस गोत्र के जंतुओं में बिमोटन होता है। नाड़ी संस्थान के फुफ्फुसावरण-आंतरांग-रज्जु अंग्रेजी अंक 8 की आकृति के होते हैं। कवच और उसका ढक्कन होता है। प्रावार गुहा आगे होती है।

अनुगोत्र १. **एसपीडो ब्रैंकिएटा (डायोटोकार्डिया)** इस अनुगोत्र के उदरपादों में दो अलिंद और दो गलफड़ होते हैं जिनमें अक्ष के दोनों ओर सूत्र होते हैं। पुंबीज एवं स्त्रीबीज वृक्क द्वारा बाहर निकलते हैं।

ट्राइब १. रीपीडोग्लोसा—इस ट्राइब के जंतुओं में घर्षक की एक पंक्ति में बहुत से दाँत होते हैं। उदाहरण—ट्रोकस, टरबो, हालिहोटिस।

ट्राइब २. डोकोग्लोसा—इस ट्राइब के जंतुओं में घर्षक की एक पंक्ति में केवल दो चार लंबे दाँत होते हैं जिनके द्वारा यह पत्थर से चिपटे हुए शैवाल (ऐलगी) को काटता है। आँखों में दृष्टिमंडल नहीं होता। आमाशय गुहा कोनदार होती है। उदाहरण—पेटेला।

अनुगोत्र २. पेक्टीनो ब्रैंकिया (मोनोटोकार्डिया) इन जंतुओं में एक अलिद और एक गलफड़ होता है जिसके अक्ष के एक तरफ सूत्र होते हैं। एक गंधांग होता है।
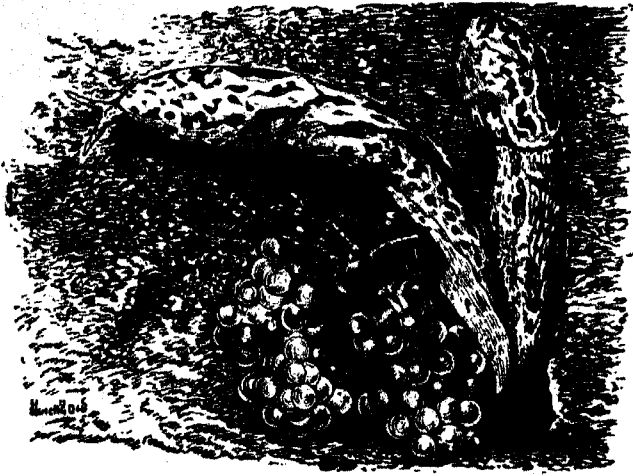
तत्काल दिए हुए अंडोंसहित कृष्ण मृदुमंथर

ट्राइब १. रेकी ग्लोसा—ये हिंस्र जंतु हैं। इनमें साइफ़न होता है। घर्षक में केवल तीन दाँत एक पंक्ति में होते हैं। उदाहरण—बक्सिनम। यह ६०० फुट तक समुद्र की गहराई में पाया जाता है। यह मांसाहारी है और बहुत तेजी से शिकार को पैर से पकड़ता है। सूँड़ बहुत बड़ी होती है। यह अपने अंडे सैकड़ों की संख्या में देता है। प्रत्येक अंडे में एक कड़ी वस्तु का खोल होता है। गंधांग के अक्ष के दोनों तरफ सूत्र होते हैं।

ट्राइब २. टीनीओग्लोसा—घर्षक में सात दाँत प्रत्येक पंक्ति में होते हैं। उदाहरण—कौड़ी (साइप्रीया मोनाटा), वरमेट्स, ट्राइटन, ऐंपलेरिया (अलवण उदरपाद)।

ट्राइब ३. टॉक्सीग्लोसा—घर्षक में केवल दो लंबे दाँत एक पंक्ति में होते हैं। उदाहरण—कोनस।

गोत्र २. युथीन्यूरा (आपिस्थोब्रैंकिया) इन उदरपादों में आमाशय योजक 8 की आकृति में ऐंठे नहीं होते। ये उभयलिंगी हैं। गलफड़ हृदय के पीछे होता है। कवच छोटा होता है, भीतर रहता है या एकदम होता ही नहीं।

अनुगोत्र १. टैक्टीब्रैंकिया—इनमें सदा कवच रहता है। गलफड़ और प्रावार गुहा भी होती है। उदाहरण—अफीसिया। यह समुद्री पौधों को खाती है। बच्चे लाल रंग के होते हैं और गहरे पानी में रहते हैं। प्रौढ़ हरे रंग के होते हैं और ज्वारभाटा के बीच में रहते हैं।

अनुगोत्र २. न्यूडीब्रैंकिया—इनमें कवच, गलफड़ और प्रावार गुहा कुछ भी नहीं होता। श्वसन द्वितीयक गलफड़ से होता है। उदाहरण—डोरिस, ईओलिस।

डोरिस को समुद्री नीबू (सी लेमन) भी कहते हैं। यह जंतु छोटा, चपटा और आलसी स्वभाव का होता है। यह पत्थर में चिपटे हुए स्पंज को खाता है। प्रावार रंगीन और कड़ा होता है। रंग उन जगहों से बहुत मिलता जुलता है जहाँ यह अपना आहार ग्रहण करता है। शिर में एक जोड़ी स्पर्शश्रृंग होते हैं। श्वसन द्वितीयक गलफड़ से होता है जो गुदद्वार के चारों तरफ रहता है।

ईओलिस की पीठ पर छोटे छोटे खोखले उभार (सिरेटिया) होते हैं जो बाहर खुलते भी हैं। इनका संबंध पाचक ग्रंथियों से भी होता है। यह हाइड्रा तथा कुसुमाभ (सी ऐनीमोनि) खाते हैं। अधिकांश आहार पच जाता है और मल गुदद्वार से बाहर निकल जाता है। नेमाटोसिस्ट (विषैले डंक) नहीं पचते; वे उभारों में भर जाते हैं। समुद्र में इयोलिस जब कभी किसी मछली या अन्य किसी शत्रु से तंग आकर उत्तेजित हो जाता है तो इन नेमाटोसिस्टों को तुरंत बाहर फेंककर दुश्मन को डंकों से व्यग्र कर देता है। इओलिस इस तरह से अपनी रक्षा कर लेता है। इसके शरीर का रंग भी बहुत भड़कीला होता है जिसे देखकर अनुभवी शत्रु भाग जाते हैं।

गोत्र ३. पलमोनेटा—ये भी उभयलिंगी उदरपाद होते हैं। इनमें खोल होता है परंतु ढक्कन नहीं होता। गलफड़ भी नहीं होता। श्वसन प्रावार गुहा से होता है जो फुप्फुस (लंग) का काम देती है। नाड़ी संस्थान असममित होता है। वृक्क एक ही होता है। उदाहरण—घोंघा (लैंड स्नेल), मंथर (स्लग)।

अनुगोत्र १. बेसोमैटोफ़ोरा—आँखें छोटी और स्पर्शश्रृंग के पास होती हैं। उदाहरण—लुमनीआ, प्लैनॉर्बिस।

अनुगोत्र २. स्टाइलोमैटोफोरा—आँखें स्पर्शशृंगों के सिरे पर होती हैं। उदाहरण—हेलिक्स। [रा० चं० स०]

उदायिभद्र मगध महाजनपद के शक्तिशाली राजा अजातशत्रु का पुत्र और उत्तराधिकारी। उसका उल्लेख उदायिन्, उदायी अथवा उदयिन और उदयभद्र जैसे कई नामों से मिलता है। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार उदायिभद्र अपने पिता अजातशत्रु की ही तरह स्वयं भी पितृघाती था और पिता को मारकर गद्दी पर बैठा था। उस अनुश्रुति का तो यहाँ तक कथन है कि अजातशत्रु से लेकर चार पीढ़ियों तक मगध साम्राज्य में उत्तराधिकारियों द्वारा अपने पूर्ववर्तियों के मारे जाने की परंपरा ही चल गई थी। परंतु जैन अनुश्रुति उदयभद्र को पितृघाती नहीं मानती। कथाकोश में उसे कुणिक (अजातशत्रु) और पद्मावती का पुत्र बताया गया है। परिशिष्टपर्वन् और त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित् जसे कुछ अन्य जैन ग्रंथों में यह कहा गया है कि अपने पिता के समय में उदायिभद्र चंपा का राज्यपाल (गवर्नर) रह चुका था और अपने पिता की मृत्यु पर उसे सहज शोक हुआ था। तदुपरांत सामंतों और मंत्रियों ने उससे मगध की राजगद्दी पर बैठने का आग्रह किया और उसे स्वीकार कर वह चंपा छोड़कर मगध की राजधानी गया।

राजा की हैसियत से उदायिभद्र का सबसे मुख्य कार्य था मगध की नई राजधानी पाटलिपुत्र का विकास करना। परिशिष्टपर्वन् की सूचना है कि उसी ने सबसे पहले मगध की राजधानी राजगृह से हटाकर गंगा और सोन नदियों के संगम में पाटलिपुत्र बसाकर वहाँ स्थापित की। इस बात का समर्थन वायुपुराण से भी होता है। उसका कथन है कि उदयभद्र ने अपने शासन के चौथे वर्ष में कुसुमपुर नामक नगर बसाया। कुसुमपुर अथवा पुष्पपुर पाटलिपुत्र के ही अन्य नाम थे। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ के दुर्ग का विकासकार्य अजातशत्रु के समय में ही प्रारंभ हो चुका था। [वि० पा०]

उदारतावाद शब्द का प्रयोग, साधारणतया व्यापक रूप से मान्य, कुछ राजनीतिक तथा आर्थिक सिद्धांतों, साथ ही, राजनीतिक कार्यों एवं कार्यक्रमों के लिये किया जाता है। अपने व्यापक अर्थ में यह उन बौद्धिक आंदोलनों का भी परिणाम है जो १६वीं शताब्दी से ही सामाजिक जीवन के संगठन में व्यक्ति के अधिकारों के पक्ष में, उसके स्वतंत्र आचरण पर प्रतिबंधों के विरुद्ध, कार्यशील रहे हैं। १६८९ में लाक ने लिखा, 'किसी को भी अन्य के स्वास्थ्य, स्वतंत्रता या संपत्ति को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए।' अमरीकी स्वतंत्रता के घोषणापत्र (१७७६) ने और भी प्रेरक शब्दों में 'जीवन, स्वतंत्रता तथा सुखप्राप्ति के प्रयत्न' के प्रति मानव के अधिकारों का एलान किया है। इस सिद्धांत को फ्रांस के 'मानव अधिकारों के घोषणापत्र' (१७९१) ने यह घोषित कर और भी संपुष्ट किया कि अपने अधिकारों के संबंध में मनुष्य स्वतंत्र तथा समान पैदा होता है, समान अधिकार रखता है। उदारतावाद ने इन विचारों को ग्रहण किया, परंतु व्यवहार में बहुधा यह अस्पष्ट तथा आत्मविरोधी हो गया,

क्योंकि उदारतावाद स्वयं अस्पष्ट पद होने से अस्पष्ट विचारों का द्योतक है। १६वीं शताब्दी में उदारतावाद का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। जो भी हो, राष्ट्रीयतावाद के सहयोग से इसने इतिहास का पुनर्निर्माण किया। यद्यपि यह अस्पष्ट था तथा इसका व्यवहारिक रूप स्थान स्थान पर बदलता रहा, इसका अर्थ, साधारणतया, प्रगतिशील ही रहा। नवें पोप पियस ने जब १८४६ ई० में अपने को 'उदार' घोषित किया तो उसका वैसा ही असर हुआ जैसा आज किसी पोप द्वारा अपने को कम्युनिस्ट घोषित करने का हो सकता है।

१६वीं शताब्दी के तीन प्रमुख आंदोलन राष्ट्रीय स्वतंत्रता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा वर्गस्वतंत्रता के लिये हुए। राष्ट्रीयतावादी, जो मंच पर पहले आए, विदेशी शासन से मुक्ति चाहते थे। उदारतावादी अपनी ही राष्ट्रीय सरकारों के हस्तक्षेप से मुक्ति चाहते थे। समाजवादी कुछ देर बाद सक्रिय हुए। वे इस बात का आश्वासन चाहते थे कि शासन का संचालन संपत्तिशाली वर्ग के हितसाधन के लिये न हो। उदारतावादी आंदोलन के यही तीन प्रमुख सूत्र थे जिन्हें बहुधा भावनाओं एवं नीतियों की आकर्षक उलझनों में तोड़ मरोड़कर बट लिया जाता था। ये सभी सूत्र, प्रमुखतः महान् फ्रांसीसी राज्यक्रांति (१७८६-६४) की भावनाओं और रूसो जैसे महापुरुषों के विचारों की गलत सही व्याख्याओं से अनुप्राणित थे।

इस प्रकार, उदारतावाद, भिन्न प्रसंगों में भिन्न भिन्न अर्थ रखता था। किंतु सर्वत्र एक धारणा समान थी, कि सामंतवादी व्यवस्था के अनिवार्य रूप समाज के अभिजात नेतृत्व संबंधी विचार उखाड़ फेंके जायँ। नव अभिजात वर्ग—मध्यवर्ग—विकासशील औद्योगिक केंद्रों के मजदूर वर्ग के सहयोग से इस क्रांति को संपन्न करे। (मध्यवर्ग धनोपार्जन के निमित्त राजनीतिक तथा आर्थिक स्वतंत्रता चाहता था। इसी बीच औद्योगिक क्रांति की प्रगति ने ऐसे धनोपार्जन के लिये अभूतपूर्व अवसर प्रस्तुत कर दिए।) बाद में इसके सहयोगी मजदूर वर्ग, जो सामाजिक स्वतंत्रता तथा उत्पादित धन पर समाज का सामूहिक स्वत्व चाहते थे, अलग हो जायँ। किंतु अभी उन्हें एक साथ रहना था। निःसंदेह उनके मूल विचार, कुछ अंश तक, एक दूसरे से प्रभावित थे, परस्पर निबद्ध।

१६वीं शताब्दी के समूचे पूर्वार्ध में यूरोप के उन्नत देशों के व्यापारी आर्थिक उदारतावाद में विश्वास रखते थे जिसके अनुसार व्यापार में अनियंत्रित प्रतिस्पर्धा ही सर्वोत्तम एवं सबसे अधिक न्याययुक्त पद्धति मानी जाती थी। इसके सिद्धांतों का प्रतिपादन पहले ऐडम स्मिथ (१७२३-६०) ने अपनी 'राष्ट्रों का धन' (दि वेल्थ ऑव नेशंस) नामक पुस्तक में, फिर फ्रांस में फिजियोक्रैटों एवं उनके अनुयायियों ने, किया। व्यक्तिगत व्यापारियों तथा व्यक्तिगत राज्यों की इस अनियंत्रित प्रतिस्पर्धा का परिणाम, कुछ समय के लिये, अत्यधिक लाभकर ही हुआ, यद्यपि यह लाभ अविकसित विदेशों के स्वार्थ तथा स्वदेशी कृषि को हानि पहुँचाकर हुआ।

१६वीं शताब्दी के मध्य में इंग्लैंड के उदारतावादी, पुराने 'ह्विग' दल के उत्तराधिकारी होते हुए भी, नागरिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता के परंपरागत उपासक आभिजात्यों से पूर्णतया भिन्न थे। इंग्लैंड में तो पहले 'उदार' शब्द से कुछ विदेशी आभास भी पाया जाता था, क्योंकि इसका स्पष्ट संबंध फ्रांस तथा स्पेन के क्रांतिकारी आंदोलनों से था। किंतु १८३० के पश्चात् लार्ड जान रसेल के समय से, इस शताब्दी के उत्तरार्ध में ग्लैड्स्टन के समय तक, यह शब्द इंग्लैंड में भी चालू हो गया तथा संमानित माना जाने लगा। जान स्टुअर्ट मिल की प्रसिद्ध पुस्तिका 'स्वतंत्रता' द्वारा इसे सैद्धांतिक मर्यादा भी मिली। इससे इस विचार ने प्रश्रय पाया कि मानव व्यक्तित्व मूल्यवान् है और कि, अच्छी अथवा बुरी, सभी प्रकार के राज्य नियंत्रण से मुक्त व्यक्तिगत शक्ति का स्वतंत्र आचरण ही प्रगति का मूल कारण है।

राजनीतिक क्षेत्र में इसकी उपलब्धि वैधानिकता तथा संसदीय लोकसत्ता की दिशा में हुई और आर्थिक क्षेत्र में स्वतंत्र व्यापार (लेसे फ़ेयर) के नकारात्मक कार्यक्रम में, जिसकी मान्यता यह थी कि कार्य प्रारंभ करने का अधिकार राज्यनियंत्रण से निर्बंध व्यक्ति को ही प्राप्त है। किंतु सामाजिक आवश्यकताओं ने परिवर्तन अनिवार्य कर दिया। जे० एस० मिल ने उदारतावादी विचारधारा को और भी व्यापक बनाया, जिसके अंतर्गत अब राज्य लोकहित में नियंत्रण लगाने के अधिकार से वंचित नहीं रहा। प्राचीन कट्टर व्यक्तिवादी विचारधारा को अधिकांश तिरस्कृत कर दिया गया। एल० टी० हाबहाउस, तथा जे० ए० हाबसन की रचनाओं में समाजवादी प्रभाव, विशेषकर फेबियनों का, स्पष्ट लक्षित होने लगा, जो स्वयं उदार विचारधारा के ऊपर टी० एच० ग्रीन जैसे पूर्ववर्ती लेखकों के प्रभाव का परिचायक था। और अब व्यक्तिवाद एवं समाजवाद के बीच एक असंतुलन स्थापित हो गया है।

उदारतावाद की दो विचारधाराओं के बीच फँस जाने के कारण इधर भविष्य का उसका मार्ग कुछ स्पष्ट नहीं है। समय समय पर इसने अपनी सजीवता का परिचय दिया है। जैसे, ब्रिटेन में १६०६-११ के बीच, जब रूढ़ उदारतावाद के विरोध के बावजूद सामाजिक बीमा से संबंधित कानून बना डाला गया, अथवा, द्वितीय महायुद्ध के बाद भी, जब विलियम बेवरिज ने एक लोकहितकारी राज्य की रूपरेखा तैयार कर डाली। किंतु जनशक्ति को प्रभावित करने में उदारतावाद निःशक्त है, इस दिशा में इसकी असफलता अनेक बार प्रमाणित हो चुकी है। जर्मनी में नात्सीवाद के सामने इसकी भयंकर असफलता सिद्ध हो चुकी है। वस्तुतः पुनः संगठन के लिय जनता में उत्साह उत्पन्न कर उसे संगठित कर सकने में इसकी भयंकर अयोग्यता प्रमाणित हुई है। सामाजिक प्रगति के साथ उदारतावाद डग नहीं भर सका है। फिर भी इसके मूल सिद्धांत अनुसंधान तथा विचार की स्वतंत्रता, भाषण एवं विचारविनिमय की स्वतंत्रता अभी भी अपेक्षित है, क्योंकि इनके बिना तर्कसंमत विचार तथा कार्य संभव नहीं हो सकते। [ही० ना० मु०]

उदासी (१) विरक्त, उदासीन, प्रपंचों से ऊपर (उत्) बैठा हुआ (आसीन), त्यागी पुरुष; (२) संन्यासी; (३) नानकशाही साधुओं का एक भेद। उदासी संप्रदाय के अनुयायियों का विश्वास है कि उसका मूल प्रवर्तन ॐकार से हुआ था और उससे ७३वीं पीढ़ी में उदासी श्रीचंद्र जी हुए जिन्होंने इसको विशेष रूप से संगठित और सुव्यवस्थित किया। ये गुरु नानकदेव के पुत्र थे और इन्होंने अपने सुदीर्घ काल के विरक्त जीवन में अधिकतर कदाचित् नग्न वेश में ही भ्रमण करते हुए इसका प्रचार किया। उदासी लोग इनकी १६वीं पीढ़ी में बनखंडी जी (सन् १७६३-१८६३) का होना बतलाते हैं जिन्होंने सन् १८२३ ई० में सिंध के अंतर्गत साधुबेला तीर्थ की स्थापना की। तब से वह इनका प्रधान केंद्र बन गया और पीछे सिंध के पाकिस्तान में पड़ जाने के कारण बनखंडी जी की ४थी पीढ़ी में वर्तमान साधु गणेशदास जी ने सन् १६४६ में उसे काशी के भदैनी मुहल्ले में स्थानांतरित कर दिया। संप्रदाय के अनुयायी विशेष कर सिंध और पंजाब में ही पाए जाते रहे हैं। उत्तर प्रदेश में इनके प्रमुख स्थान हरद्वार, काशी एवं बृंदावन में हैं। इसकी एक उपशाखा का पश्चिमी बिहार के अंतर्गत 'भक्तगिरि' नाम से पाया जाना भी कहा जाता है जिसका पूरा विवरण उपलब्ध नहीं है। उज्जैन में भी इसके अनुयायियों का एक अखाड़ा है और एक दूसरे का त्र्यंबक नासिक में भी होना कहा जाता है किंतु ऐसे केंद्रों में प्रायः कुंभ के ही समय विशेष जागृति रहा करती है।

उदासी संप्रदाय के साधु सांसारिक बातों की ओर से विशेष रूप से तटस्थ रहते आए हैं और इनकी भोली भाली एवं सादी अहिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण इन्हें सिख गुरु अमरदास तथा गोविंदसिंह ने जैन धर्म द्वारा प्रभावित और अकर्मण्य तक मान लिया था। परंतु गुरु हरगोविंद के पुत्र बाबा गुरादित्ता ने संप्रदाय के संगठन एवं विकास में सहयोग दिया और तब से इसका अधिक प्रचार भी हुआ। इसकी चार प्रधान शाखाओं में (१) फूल साहिबवाली बहादुरपुर की शाखा, (२) बाबा हसन की आनंदपुर के निकटवर्ती चरनकौल की शाखा, (३) अलमस्त साहब की पुरी नामक नैनीताल की शाखा, तथा (४) गोविंदसाहब की शिकारपुरवाली शाखा प्रसिद्ध हैं और ये एक दूसरी से स्वतंत्र भी जान पड़ती हैं। विलियम कुक ने इस संप्रदाय को नानकशाही पंत का नाम देकर उसके मुख्य गुरुद्वारे का देहरा में होना बतलाया है फिर उन्होंने यह भी कहा है कि पूर्वी भारत के अंतर्गत इसकी ३७० गद्दियों का पाया जाना कहा जाता है। संप्रदाय के लोग अधिकतर मालवा, जालंधर, फीरोजपुर, काशी एवं रोहतक में ही पाए जाते हैं और उनमें से बहुत से भ्रमणशील रूप में ही दीख पड़ते हैं।

उदासियों के अखाड़ों अथवा संप्रदाय की विविध शाखाओं को भी प्रायः 'धुनी' वा 'धुआँ' का नाम दिया जाता है। इसके अनुयायियों में यह भी प्रसिद्ध है कि इसके काबुल स्थित किसी केंद्र में अब भी एक ऐसी धुनी जल

रही है जिसे स्वयं श्रीचंद्र जी ने प्रज्वलित किया था। उदासी लोग या तो 'नागा' हुआ करते हैं जिनके नामों के आगे 'दास' वा 'शरण' की उपाधि लगी रहती है या वे 'परमहंस' होते हैं और उनके नामों के साथ 'आनंद' शब्द जुड़ा रहता है, किंतु इस नियम का पालन कदाचित् सर्वत्र नहीं दीख पड़ता। नागा लोगों के पहनावे का वस्त्र बहुत कम रहा करता है, वे अपने शरीर पर भस्म का प्रयोग भी अधिक करते हैं तथा बड़े बड़े बाल और 'सेली' रखा करते हैं। जहाँ उनकी श्वेत, लाल या काली लँगोटी की जगह परमहंसों का पहनावा गैरिक वस्त्रों का रहा करता है और वे अधिक सादे और मुड़ितमुंड भी रहते हैं, वहाँ भस्म धारण करना और कभी कभी रुद्राक्ष की माला पहनाना भी इन दोनों वर्गों के साधुओं में पाया जाता है। भस्म वा विभूति के प्रति इस संप्रदाय के अनुयायियों की बड़ी श्रद्धा रहती है और वे इसे प्रायः बड़े यत्न के साथ सुरक्षित भी रखा करते हैं। दीक्षा के समय गुरु इन्हें नहलाकर भस्म लगा दिया करता है और इन्हें अपना चरणोदक देता है जिसका ये पान कर लेते हैं। तत्पश्चात् इन्हें कोई नया नाम दिया जाता है और दीक्षामंत्र द्वारा दीक्षित कर दिया जाता है। उदासियों का प्रिय मंत्र "चरण साधु का धो धो पीयो। अरप साधु को अपना जीयो" है। ये, एक दूसरे से भेंट होने पर, साधारणतः "ॐ नमो ब्रह्मणे" कहकर अभिवादन करते हैं। ये लोग सिखों के पूज्य 'आदिग्रंथ' को विशेष महत्व देते हैं और घंटा घड़ियाल बजाकर उसकी आरती किया करते हैं। इनके यहाँ हिंदुओं के अनेक व्रत एवं त्योहारों का भी प्रचलन हो गया है, किंतु इनका एक विशिष्ट उत्सव श्री चंद्र जी की जयंती के रूप में भी मनाया जाता है।

उदासियों की दार्शनिक विचारधारा दशनामियों से बहुत मिलती जुलती है और वह, इसी कारण, ज्ञानप्रधान भी कही जा सकती है। परंतु दशनामी लोग जहाँ अपने को प्रायः "स्मार्त" मानते हैं वहाँ उदासी अपने को "श्रौत" कहा करते हैं। इनकी काशी, बृंदावन एवं हरद्वार जैसे कुछ स्थानों में पृथक् पाठशालाएँ चलती हैं जहाँ अधिकतर संस्कृत भाषा में रचित धार्मिक ग्रंथों का अध्यापन होता है। इनकी बृंदावनवाली पाठशाला का एक नाम 'बृंदावन श्रौत मुनि आश्रम' प्रसिद्ध है। यद्यपि दशनामी साधुओं की भाँति ये लोग शिव को अधिक महत्व नहीं देते, फिर भी किंतु ये प्रायः 'त्रिपुंड' धारण करते हैं और वैसे ही कमंडलु भी रखते हैं। इनके यहाँ स्त्री उदासी अथवा उदासिनियों की संख्या अत्यंत कम दीख पड़ती है। इस संप्रदाय के अनुयायियों पर समय पाकर अन्य अनेक संप्रदायों का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ चुका है और ये कतिपय सुधारों की ओर भी आकृष्ट होते जान पड़ते हैं।

'उदासी' नाम के साथ कुछ अन्य संप्रदाय भी मिलते हैं, जैसे 'उदासी कबीर' आदि, किंतु उनसे इनका कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है।

सं०ग्रं०—जी० एस० घुरये : इंडियन साधूज़, दि पापुलर बुक डिपो, बंबई, १९५३; विलियम कुक : ए ग्लॉसरी ई० भा० भा० ४; परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संतपरंपरा (लीडर प्रेस, प्रयाग, सं० २००८); सीताराम चतुर्वेदी : जयसाधुवेला (साधुवेला आश्रम, २५६, भदैनी, बनारस, वि० २००९)। [प० च०]

उदुमालपेट

मद्रास प्रांत के कोयंबटूर जिले में स्थित, उदुमालपेट नामक ताल्लुके का मुख्य केंद्र है (स्थिति : १०° ३६' उ० अक्षांश और ७७° १५' पूर्वी देशांतर)। इस ताल्लुके में उदुमालपेट ही एक नगर है; इसके अतिरिक्त ८६ गाँव हैं। यह नगर मैदानी तथा पहाड़ी दोनों क्षेत्रों की सेवा करता है, अतः यहाँ अनाज तथा लकड़ी की प्रसिद्ध मंडियाँ हैं। नगर में कपास का भी व्यापार होता है। यहाँ के निवासी अधिकतर व्यापारी वर्ग के हैं, जिनमें कमाटी, नाटुकोट्टाई, चेट्टी तथा मुसलमान मुख्य हैं। यहाँ की जनसंख्या १९५१ ई० में २३, ३०९ थी। [हि० ह० सिं०]

उद्गाता

का अर्थ है, उच्च स्वर से गानेवाला। सोमयज्ञों के अवसर पर साम या स्तुति मंत्रों के गाने का कार्य 'उद्गाता' का अपना क्षेत्र है। उसके लिये उपयुक्त मंत्रों का संग्रह 'साम संहिता' में किया गया है। ये ऋचाएँ ऋग्वेद से ही यहाँ संगृहीत की गई हैं और इन्हीं ऋचाओं के ऊपर साम का गायन किया जाता है। साम गायन की पद्धति बड़ी शास्त्रीय तथा प्राचीन होने से कठिन भी है। साम पाँच अंगों में विभक्त होता है जिनके नाम हैं—(१) प्रस्ताव, (२) उद्गीथ, (३) प्रतिहार, (४) उपद्रव तथा (५) निधन। इनमें उद्गीथ तथा निधन के गायन का कार्य उद्गाता के अधीन होता है और प्रस्ताव तथा प्रतिहार के गाने का काम क्रमशः 'प्रस्तोता' तथा 'प्रतिहर्ता' नामक ऋत्विजों के अधीन रहता है जो उद्गाता के सहायक माने जाते हैं। गान मुख्यतया चार प्रकार के होते हैं—(१) (ग्रामे) गेय गान (=प्रकृति गान या वेय गाथ); (२) अरण्य गान (३) ऊह गान तथा (४) ऊह्य गान। इन समग्र गानों से पूर्ण परिचय रखना उद्गाता के लिये नितांत आवश्यक होता है। [ब० उ०]

उद्दंडपुर

बिहार प्रांत में वर्तमान बिहार नाम का कस्बा जो बख्तियारपुर से राजगिरि जानेवाली रेलवे की छोटी लाइन पर पड़ता है। यह नालंदा से ६-७ मील की दूरी पर है। नालंदा की ही भाँति यहाँ भी बौद्धों का विशाल मठ था जहाँ के विहार में अनेक भिक्षु रहते और बौद्ध दर्शन का मनन करते थे। कुछ लोगों ने इसे भी छोटा मोटा बौद्ध-विद्यालय ही माना है। यहाँ भी प्राचीन टीलों की खुदाई से अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इस विहार का व्यय बंगाल के पाल राजाओं की दी हुई देवोत्तर संपत्ति से चलता था। कन्नौज के प्रतीहारों ने इसे एक बार पालों से छीन लिया था पर कन्नौज की गद्दी के लिये परस्पर जूझते भोज द्वितीय और महिपाल की अनवधानता से लाभ उठाकर पालनरेश नारायणपाल ने इसे फिर जीत लिया। बख्तियार खिलजी ने नालंदा के बौद्ध विहार का नाश करते समय उद्दंडपुर का भी अंत कर दिया। [ओं० ना० उ०]

उद्दक रामपुत्त

गृहत्याग करने के बाद सत्य की खोज में घूमते हुए बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम विख्यात योगी उद्दक रामपुत्त के आश्रम में पहुँचे। उद्दक रामपुत्त रूपावचर भूमि से ऊपर उठ, अपने समकालीन योगी आलार-कालाम की भाँति, अरूपावचर भूमि की समापत्ति प्राप्त कर विहार करते थे। सिद्धार्थ गौतम ने उस योगप्रक्रिया में शीघ्र ही सिद्धि का लाभ कर लिया और उसके ऊपर की बातें जाननी चाहीं। जब उद्दक और कुछ न बता सके तब सिद्धार्थ ने उनका साथ छोड़ दिया। बुद्धत्व लाभ करने के बाद भगवान् बुद्ध ने सर्वप्रथम उद्दक रामपुत्त और आलार-कालाम को उपदेश देने का संकल्प किया; किंतु तब वे जीवित न थे। [भि० ज० का०]

उद्दालक

उपनिषद् युग के श्रेष्ठ तत्ववेत्ताओं में मूर्धन्य चिंतक। ये गौतम गोत्रीय अरुणि ऋषि के पुत्र थे और इसीलिये 'आरुणि' के नाम से विशेष प्रख्यात हैं। ये महाभारत में धौम्य ऋषि के शिष्य तथा अपनी एकनिष्ठ गुरुसेवा के निमित्त आदर्श शिष्य बतलाए गए हैं (महाभारत, आदिपर्व)। आरुणि के अध्यात्म विचारों का विस्तृत विवेचन छांदोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में रोचक ढंग से किया गया है। तत्ववेत्ताओं के इतिहास में आरुणि का पद याज्ञवल्क्य के ही समकक्ष माना जाता है जो इनके शिष्य होने के अतिरिक्त उपनिषत्कालीन दार्शनिकों में निःसंशय सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। मनोवैज्ञानिक तथ्यों के विषय में आरुणि की मान्यता है कि निद्रा का मुख्य हेतु 'श्रम' है और निद्रा की दशा में जीव आत्मा के साथ ऐक्य धारण कर लेता है (छांदोग्य ६।८।१)। मृत्युकालीन चेतना के विषय में आरुणि का कथन है कि जब मनुष्य मरता है, तब उसकी वाक् मन में अंतर्लीन हो जाती है; अनंतर मन प्राण में, प्राण तेज में तथा अंत में तेज देवता में अंतर्लीन हो जाता है (छां० ६।१५)। इस सिद्धांत को याज्ञवल्क्य ने यहीं से ग्रहण कर विस्तार से प्रतिपादित किया है। तत्वज्ञान के विषय में आरुणि के सिद्धांत को हम 'प्रत्ययवादी अद्वैत' का नाम दे सकते हैं, क्योंकि इनकी दृष्टि में अद्वैत ही एकमात्र सत् तथा तथ्य है। आरुणि के सिद्धांत का शंखनाद है तत्त्वमसि वाक्य जिसे इन्होंने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अनेक मनोरंजक दृष्टांतों के द्वारा समझाया तथा प्रमाणित किया। "इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो"—आरुणि के अद्वैतवाद का यह महनीय मंत्र है (छां० ६।११,१२)। मूल तत्व 'सत्' रूप है, असद्रूप नहीं, क्योंकि असत् से किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह सत् अपने में से पहले अग्नि को, पीछे जल को तथा अंत में पृथ्वी को इसी क्रम से उत्पन्न करता है। सृष्टि का यह 'त्रिवृत्करण' तत्व आरुणि का स्वोपज्ञ सिद्धांत है। विश्व के प्रत्येक द्रव्य में ये तीनों तत्व विद्यमान रहते हैं। सब पदार्थ असत् हैं। पदार्थों की अपेक्षा तत्वों (पृथ्वी

जल, तेज) की सत्यता सर्वथा मान्य है और इन तत्वों की अपेक्षा सत्यतर है वह सत् जो इनका मूल कारण है (छां० ६।३-४)। यह सत् विश्व के समस्त प्रपंचों में अनुस्यूत तथा आधारस्थानीय सूक्ष्म तत्व है (छां० ६।१२)। इसका पूर्ण ज्ञान आचार्य के द्वारा दी गई शिक्षा के द्वारा और श्रद्धा के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'=गुरु के द्वारा उपदिष्ट पुरुष ही परम तत्व को जानता है; आरुणि का यह उपदेश गुरुतत्व की आधारशिला है। आत्मा विश्व के प्रत्येक पदार्थ में उसी प्रकार व्याप्त रहता है, जिस प्रकार उस जल के प्रत्येक कण में लवण व्याप्त रहता है जिसमें वह डाला जाता है (छां० ६।१३)। उद्दालक आरुणि का यह अध्यात्मदर्शन आत्मा की अद्वैतता तथा व्यापकता का पूर्ण परिचायक है।

सं०ग्रं०—आर० डी० रानाडे : कॉन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फ़िलॉसफ़ी, पूना, १९२६; राधाकृष्णन् : इंडियन फ़िलॉसफ़ी, भाग १, लंदन। [ब० उ०]

उद्धव

पौराणिक परंपरा के अनुसार द्वापरकालीन यदुवंशी उद्धव जो सत्यक के पुत्र और श्रीकृष्ण के अत्यंत प्रिय सखाओं में थे। बालक उद्धव श्रीकृष्ण की मूर्ति भी बनाकर उसके साथ खेलने में तन्मय हो जाते तथा कलेवा करना तक भूल जाया करते। ये परम सुंदर थे और आकृति एवं वेशभूषादि तक में श्रीकृष्ण से बहुत मिलते जुलते थे। ये प्रायः उनके साथ रहा करते, उनकी धारण की हुई माला पहन लेते तथा उनके छोड़े हुए वस्त्रादि तक ग्रहण कर लेते। इनका एक अन्य नाम देवश्रवा था और इन्होंने बृहस्पति से नीतिशास्त्र की शिक्षा पाई थी। बड़े होने पर इन्हें वृष्णिवंशियों में माननीय परामर्शदाता का स्थान मिला था और ये श्रीकृष्ण के अंतरंग परिकरों में भी गिने जाते थे।

गोकुल से मथुरा चले जाने पर श्रीकृष्ण ने इन्हें नंद, यशोदा एवं व्रजगोपियों का समाधान करने के लिये भेजा था और व्रज में आकर इन्होंने इसमें अपना महीनों का समय दिया था। गोपियों के साथ इनकी जो बातचीत हुई उसका प्रसंग लेकर एक विपुल भ्रमर-गीत-साहित्य की रचना हो गई है। जब श्रीकृष्ण द्वारका गए तो वहाँ पर भी उद्धव उनके साथ बराबर रहे और वहाँ पर जब श्रीकृष्ण ने इनसे यदुवंशियों के भावी नाश तथा स्वयं अपने अंत की ओर भी संकेत किया और प्रभास क्षेत्र के लिये चल पड़े तब ये विरहकातर हो उठे और उनके पीछे हो लिए। श्रीकृष्ण ने सरस्वती के तट पर अश्वत्थ के नीचे बैठ इन्हें एकांत में बहुत समझाया और विषम स्थिति के कारण, अधीर न होने का उपदेश दिया। उन्होंने इनसे कहा कि तुम पूर्वजन्म में वसु थे और यज्ञ के समय मेरे लिये तुमने बड़ी आराधना की थी। तुम्हारा वह कार्य पूरा हो चुका और मैं तुम्हें आज विवेकपूर्ण 'भागवत ज्ञान' का मर्म बतला रहा हूँ। श्रीकृष्ण ने इन्हें फिर ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी, अवधूतोपाख्यान जैसे कई अध्यात्म संबंधी इतिहास सुनाए, योगसाधना के रहस्य बतलाए और कहा कि अब तुम जाकर बदरिकाश्रम में रहो। उद्धव वहाँ से चलकर जब उदासमना हो यमुना के तट पर घूम रहे थे तब इन्हें विदुर मिले। यहाँ पर इन दोनों में फिर एक बार श्रीकृष्ण के संबंध में बातें चलीं और विदुर के चले जाने पर ये प्रेमविह्वल होकर रोने लगे। अंत में उद्धव बदरिकाश्रम चले गए और वहाँ पर तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए उन्होंने वृद्धावस्था में शरीर छोड़ा। उद्धव सरलहृदय, किंतु महात्मा थे। स्वयं श्रीकृष्ण ने इनके विषय में एक बार कहा था—"मेरे इस लोक से चले जाने पर उद्धव ही मेरे ज्ञान की रक्षा कर सकेंगे क्योंकि वे मुझसे गुणों में तनिक भी कम नहीं हैं।" (भाग० ३।४।३०-१)।

सं०ग्रं०—'भाग'० (३।१-४), (१०।४६-७), (११।६-२९); महाभारत, आदिपर्व (२०१।-१८) और 'ब्रह्मवैवर्त' (अ० ९१ एवं ९२)। [प० च०]

उद्धार

समुद्र पर दुर्घटना के समय लोगों की जान बचाने या माल बचाने को कहते हैं। भूमि पर अग्नि से जान अथवा माल बचाने को भी उद्धार (सैलवेज) कह सकते हैं, परंतु इस संबंध में यह शब्द बहुत प्रचलित नहीं है। समुद्र पर उद्धार के दो विभाग हैं: (१) नागरिक, (२) सैनिक।

नागरिक उद्धार—जान और माल के उद्धार के लिये ब्रिटिश सरकार ब्रिटिश जहाजों से पारितोषिक दिलाती है और इसलिये मामला बहुधा कचहरियों तक पहुँचता है। इंग्लैंड में नाविक कचहरियों (ऐडमिरैल्टी कोर्ट) में ये मामले तय किए जाते हैं। वहाँ की परिभाषा है कि समुद्र की जोखिम से जान या माल बचाना उद्धार है। भूमि पर अग्नि से जान या माल बचाने पर सरकार पारितोषिक नहीं दिलाती; हाँ, मालिक से संविदा (एकरार) हो गया हो तो बात दूसरी है। नियम है कि बचाए गए माल से पहले उद्धार का पारितोषिक देकर ही शेष धन अन्य विषयों पर व्यय किया जा सकता है। जब बचाया गया माल पारितोषिक के लिये पर्याप्त नहीं होता तो ब्रिटिश सरकार मरकैंटाइल मैरीन फंड से अंशतः या पूर्णतया पारितोषिक दिला सकती है। साथ ही यह भी नियम है कि जहाज का जो अधिकारी जान बचाने में सहायता नहीं करता वह दंडनीय है। जो सेवा कर्तव्य (ड्यूटी) के रूप में की जाती है उसके लिये पारितोषिक नहीं मिलता। जहाजों के सभी कर्मचारियों का कर्तव्य है कि यात्रियों और माल को बचाएँ।

पारितोषिक की मात्रा इसपर निर्भर रहती है कि बचाया गया माल कितनी जोखिम में था, उसका मूल्य क्या है, बचानेवाले ने कितनी जोखिम उठाई, कितना परिश्रम किया, कितनी चातुरी अथवा योग्यता की आवश्यकता थी, कितने मूल्य के यंत्रों का उपयोग किया गया, इत्यादि। असावधानी से काम करने पर पारितोषिक अंशतः या पूर्णतया रोक लिया जा सकता है। यदि एक जहाज दूसरे को बचाता है तो बचानेवाले जहाज के मालिकों को पारितोषिक का लगभग तीन चौथाई मिलता है। शेष का लगभग एक तिहाई कप्तान को मिलता है। इसके बाद बचा भाग अधिकारियों और कर्मचारियों में उनकी स्थिति के अनुसार बाँट दिया जाता है। परंतु जहाँ बचानेवाले जहाज को कोई क्षति पहुँचती है वहाँ मालिकों को अधिक मिलता है।

सैनिक उद्धार—युद्धकाल में वैरी से अपने देश के जीते गए जहाज को छीन लाने तथा इसी प्रकार से अन्य जोखिम के कामों के लिये पारितोषिक मिल सकता है, जिसके लिये ब्योरेवार नियम बने हैं। पारितोषिक जहाज के मूल्य के आठवें या छठे भाग तक मिल सकता है।

सं०ग्रं०—टी० जी० कारवर : ट्रीटिज ऑन दि लॉ रिलेटिंग टु कैरेज ऑव गुड्स बाइ सी (सातवाँ संस्करण, १९२५)।

उद्यान विज्ञान

(हार्टिकल्चर) में फल, सब्जी तथा फूल, सभी का उगाना संमिलित है। इन पादपों के उगाने की कला के अंतर्गत बहुत सी क्रियाएँ आ जाती हैं, जिनके संबंध में निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत प्रकाश डाला जायगा :

प्रजनन—उद्यानविज्ञान में सबसे महत्व का कार्य है अधिक से अधिक संख्या में मनचाही जातियों के पादप उगाना। उगाने की दो विधियाँ हैं—लैंगिक (सेक्शुअल) और अलैंगिक (असेक्शुअल)।

लैंगिक—बीज द्वारा फल तथा तरकारी का उत्पादन सबसे साधारण विधि है। यह लैंगिक उत्पादन का उदाहरण है। फलों के पेड़ों में इस विधि से उगाए पौधों में अपने पिता की तुलना में बहुधा कुछ न कुछ परिवर्तन देखने में आता है। इसलिये पादपों की नवीन समुन्नत जातियों का उत्पादन (कुछ गौण विधियों को छोड़कर) लैंगिक विधि द्वारा ही संभव है।

पादपों के अंकुरित होने पर निम्नलिखित का प्रभाव पड़ता है : बीज, पानी, उपलब्ध ऑक्सिजन, ताप और बीज की आयु तथा परिपक्वता।

अंकुरण के सहायक—अधिकांश बीज उचित रीति से बोने पर बड़ी सरलता से अंकुरित होते हैं, किंतु कुछ ऐसी जाति के बीज होते हैं जो बहुत समय में उगते हैं। प्रयोगों में देखा गया है कि एनज़ाइमों के घोलों में बीजों को कई घंटे भिगो रखने पर अधिक प्रति शत बीज अंकुरित होते हैं। कभी कभी बीज के ऊपर के कठोर अस्थिवत छिलकों को नरम करने तथा उनके त्वक्छेदन के लिये रासायनिक पदार्थों (क्षीण अम्ल या क्षार) का भी प्रयोग किया जाता है। झड़बेरी (ब्लैकबेरी) या रैस्पबेरी आदि के बीजों के लिये सिरका बहुत लाभ पहुँचाता है। सल्फ़्यूरिक अम्ल, ५० प्रति शत अथवा सांद्र, कभी कभी अमरूद के लिये प्रयोग किया जाता है। दो तीन से लेकर बीस मिनट तक बीज अम्ल में भिगो दिया जाता है। स्वीट पी के बीज को, जो शीघ्र नहीं जमता, अर्धसांद्र सल्फ़्यूरिक अम्ल में ३० मिनट तक रख सकते हैं। यह उपचार बीज के ऊपर के कठोर छिलके को नरम करने के लिये या फटने में सहायता पहुँचाने के लिये किया जाता है। परंतु प्रत्येक दशा में उपचार के बाद बीज को पानी से भली भाँति धो डालना

आवश्यक है। जिन बीजों के छिलके इतने कठोर होते हैं कि साधारण रीतियों का उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता उनके लिये यांत्रिक सहायता लेनी चाहिए। बहुधा रेतने, कुतरने या छेद करने का भी प्रयोग (जैसे बैजंती —कैना में) किया जाता है। बोए जाने पर बीज संतोषप्रद रीति से उगें, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह जानना आवश्यक है कि किस बीज को किस समय बोना चाहिए। कुछ बीजों के उगने में बहुत समय की आवश्यकता होती है या वे विशेष ऋतु में उगते हैं और इससे पहले कि वे उगना प्रारंभ करें, लोग बहुधा उन्हें निकम्मा समझ बैठते हैं। इससे बचने के लिये एक ही बार नहीं, अपितु थोड़ा थोड़ा करके किस्तों में बीज बोना चाहिए।

अलैंगिक या वानस्पतिक प्रजनन—पौधा बेचनेवालों (नर्सरीवालों) तथा फलों की खेती करनेवालों के लिये वानस्पतिक विधियों से प्रजनन बहुत उपयोगी सिद्ध होता है, मुख्य रूप से इसलिये कि इन विधियों से वृक्ष सदा वांछित कोटि के ही उपलब्ध होते हैं। इन विधियों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

कर्तन—पादप के ही किसी भाग से, जैसे जड़, गाँठ (रिज़ोम), कंद, पत्तियों या तने से, अँखुए के साथ या बिना अँखुए के ही, नए पादप उगाना कर्तन (कटिंग) लगाना कहलाता है। रोपने पर इन खंडों में से ही जड़ें निकल आती हैं और नए पादप उत्पन्न हो जाते हैं। अधिक से अधिक पादपों को उगाने की प्रायः यही सबसे सस्ती, शीघ्र और सरल विधि है। टहनी के कर्तन लगाने को माली लोग 'खूँटी गाड़ना' कहते हैं। कुछ लोग इसे 'कलम लगाना' भी कहते हैं, परंतु कलम शब्द का प्रयोग उसी संबंध में उचित है जिसमें एक पादप का अंग दूसरे की जड़ पर चढ़ाया जाता है।

दाबा (लेयरेज) में नए पादप तभी जड़ फेंकते हैं जब वे अपने मूल वृक्ष से संबद्ध रहते हैं। इस विधि द्वारा पादप प्रजनन के तीन प्रकार हैं : (१) शीर्ष दाब (टिप लेयरिंग)—इस प्रकार में किसी टहनी का शीर्ष स्वयं नीचे की ओर झुक जाता है और भूमि तक पहुँचने पर उसमें से जड़ें निकल आती हैं। इसके सबसे सुंदर उदाहरण रैस्पबेरी और लोगनबेरी हैं। (२) सरल दाब—इसके लिये टहनी को झुकाकर उसपर आवश्यकतानुसार मिट्टी डाल देते हैं। इस प्रकार से अनेक जाति के पादप बड़ी सरलता से उगाए जा सकते हैं। कभी कभी डालों को बिना भूमि तक झुकाए ही उनपर किसी जगह एक आध सेर मिट्टी छोप दी जाती है और उसे टाट आदि से लपेटकर रस्सी से बाँध दिया जाता है। इसको 'गुट्टी बाँधना' कहते हैं। मिट्टी को प्रति दिन सींचा जाता है। (३) मिश्र दाब (कंपाउंड लेयरिंग) में पादप की प्रधान डाली को झुकाकर कई स्थानों पर मिट्टी डाल देते हैं, बीच बीच में थोड़ा थोड़ा भाग खुला छोड़ देते हैं। अंगूर की तरह की लताओं के प्रजनन के लिये लोग इसी ढंग को प्रायः अपनाते हैं।

उपरोपण (ग्रैफ्टेज)—इसमें चढ़ कलम (ग्रैफ़्टिंग), भेट कलम (इनार्चिंग) और चश्मा (बडिंग) तीनों संमिलित हैं। माली लोग चढ़ कलम और भेट कलम दोनों को साटा कहते हैं। इन लोगों में चश्मा के लिये चश्मा शब्द ही प्रचलित है। चश्मा शब्द फारसी चश्म से निकला है, जिसका अर्थ आँख है। इन तीनों रीतियों में एक पौधे का कोई अंग दूसरे पौधे की जड़ पर उगता है। पहले को उपरोपिका (सायन) कहते हैं; दूसरे को मूल वृंत (रूट स्टाक)। उपरोपण में प्रयुक्त दोनों पौधों को स्वस्थ होना चाहिए। कलम की विधि केवल ऐसे पादपों के लिये उपयुक्त होती है जिनमें ऊपरी छिलकेवाली पर्त और भीतरी काठ के बीच एक स्पष्ट एधास्तर (कैंबिअम लेयर) होता है, क्योंकि यह विधि उपरोपिका और मूल वृंत के एधास्तरों के अभिन्न संयोग पर निर्भर है। कलम लगाने का कार्य वैसे तो किसी महीने में किया जा सकता है, फिर भी यदि ऋतु अनुकल हो और साथ ही अन्य आवश्यक परिस्थितियाँ भी अनुकूल हों, तो अधिक सफलता मिलने की संभावना रहती है। यह आवश्यक है कि जुड़नेवाले अंग चिपककर बैठें। उपरोपिका का एधास्तर मूल वृंत के एधास्तर को पूर्ण रूप से स्पर्श करे। वसंत ऋतु के प्रारंभ में यह स्तर अधिकतम सक्रिय हो जाता है, इस ऋतु में उसके अँखुए बढ़ने लगते हैं और किशलय (नए पत्ते) प्रस्फुटित होते हैं। जिन देशों में गर्मी के बाद पावस (मानसून) से पानी बरसता है वहाँ प्रायः गर्मी की शुष्क ऋतु के बाद बरसात आते ही क्रियाशीलता का द्वितीय काल आता है। इन दोनों ऋतुओं में क्षत सर्वाधिक शीघ्र पूरता है तथा मूल वृंत एवं उपरोपिका का संयोग सर्वाधिक निश्चित होता है। पतझड़वाले पादपों में कलम उस समय लगाई जाती है जब वे सुप्तावस्था में होते हैं।

कलम लगाने की विधियाँ

१. **शिरोबंधन** (स्प्लाइस या ह्विप ग्रैफ़्टिंग)—यह कलम लगाने की सबसे सरल विधि है। इस विधि में उपरोपिका तथा मूलवृंत के लिये एक ही व्यास के तने चुने जाते हैं (प्रायः $\frac{3}{8}$ इंच से $\frac{1}{2}$ इंच तक के)। फिर दोनों को एक ही प्रकार से तिरछा काट दिया जाता है (चित्र देखें)। कटान की
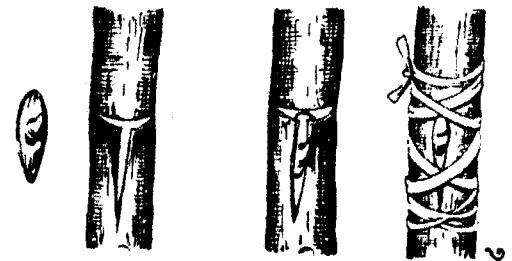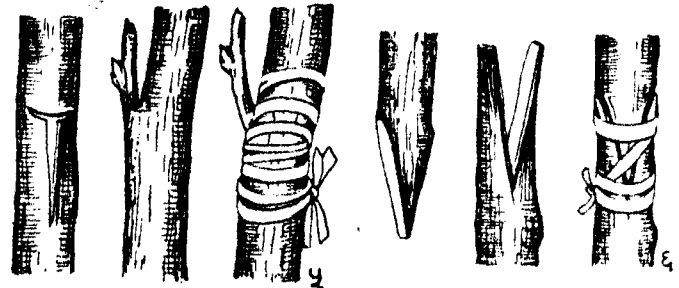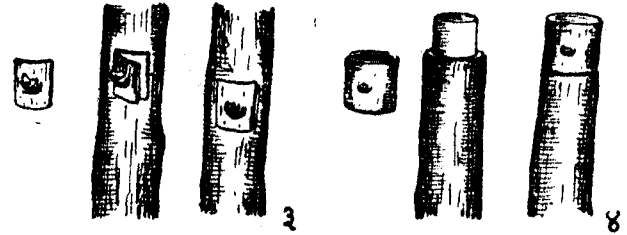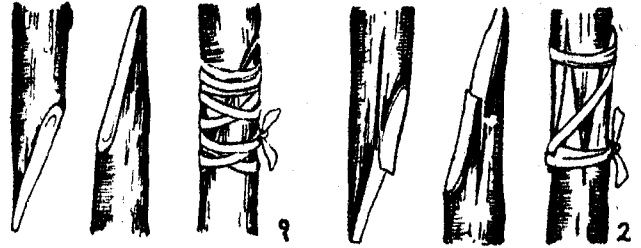
उपरोपण और अक्षिबंधन

१. शिरोबंधन, २. शिर तथा जिह्वाबंधन; ३. पैवंद; ४. अँगूठीनुमा चश्मा; ५. उपरोपिका बंधन; ६. काठी कलम; ७. साधारण चश्मा।

लंबाई लगभग $1\frac{1}{2}$ इंच रहती है। फिर दोनों को दृढ़ता से बाँधकर ऊपर से मोम चढ़ा दिया जाता है। बाँधने के लिये माली लोग केले के पेड़ के तने के छिलके से $\frac{1}{2}$ इंच चौड़ी पट्टी चीरकर काम में लाते हैं, परंतु कच्चे (बिना बटे) सूत से भी काम चल सकता है।

२. शिर तथा जिह्वाबंधन (ह्विप और टंग ग्रैफ्टिंग) ऊपर की विधि से ही प्रारंभ होता है किंतु तिरछा काटने के बाद उपरोपिका और मूल वृंत दोनों को किनारे से आध इंच हटकर डेढ़ इंच तक चीर दिया जाता है। तब दोनों को एक दूसरे में इस प्रकार घुसेड़ दिया जाता है कि एक की जिह्वा दूसरे की चीर में घुस जाय (चित्र देखें)। ये दोनों विधियाँ जड़ों की कलम बाँधने में प्रयुक्त होती हैं; इस रीति में बीज से उगाए पौधे की जड़ को या जड़ के एक भाग को मूल वृंत की तरह प्रयुक्त किया जाता है।

३. काठी कलम (सैडल ग्रैफ्टिंग)—कलम लगाने की एक विधि काठी कलम है जिसका प्रयोग कभी कभी किया जाता है, विशेषकर ऐसे वृक्षों के लिये जिनके तंतु (टिशू) स्थूल और मृदुल होते हैं, उदाहरणार्थ पपीते का वृक्ष। इसमें मूल वृंत का सिरा दोनों ओर से छील दिया जाता है, जिससे वह पच्चड़ (वेज) के सदृश हो जाता है, और उसी के अनुसार उपरोपिका में गड्ढा काट देते हैं जिसमें वह भाग मूल वृंत के सिर पर कसकर बैठ सके।

४. बगली कलम (साइड ग्रैफ्टिंग)—ऐसी कलम मूल वृंत के सिरे को बिना काटे ही बाँधी जाती है। मूल वृंत उपरोपिका की अपेक्षा बहुत बड़ा हो सकता है। इसमें उपरोपिका के निचले भाग को पच्चड़ के आकार में छीलते हैं; एक ओर की छिलाई दूसरी ओर की अपेक्षा कुछ अधिक दूर तक की जाती है। फिर मूल वृंत की बगल में २० अंश का कोण बनाते हुए एक चीरा लगाया जाता है जो इतना गहरा होता है कि उपरोपिका का पच्चड़ उसमें घुस सके।

चश्मा—चश्मा बाँधने का साधारण रूप ढाल या टी बडिंग है। टी बडिंग नाम इसलिये पड़ा है कि छिलका अंग्रेजी अक्षर टी के आकार में चीरा जाता है। यह रीति चकोतरा या उसी तरह के अन्य फलों के चश्मे बाँधने के प्रयोग में आती है। फूलों में गुलाब के साथ ऐसी ही क्रिया की जाती है। उपरोपिका की लकड़ी परिपक्व तथा वर्तुलाकार होनी चाहिए, पर पुरानी नहीं। मूल वृंत की छाल में एक ऊर्ध्वाधर चीर लगा दी जाती है, जो १ इंच से १॥ इंच तक लंबी होती है। केवल छाल ही कटे, लकड़ी नहीं। फिर इस चीर के सिरे पर आधे इंच की एक क्षैतिज (बेंड़ी) चीर लगाई जाती है। तदनंतर चाकू के फल द्वारा उपरोपिका की छाल में से १ इंच या १॥ इंच लंबा ढाल के आकार का टुकड़ा निकाल लेते हैं जिसके बीच में कलिका (बड) रहती है। यह टुकड़ा कलिका से थोड़ा ही अधिक चौड़ा रखा जाता है। अब मूल वृंत के छिलके के नीचे, टी आकार की चीर में, कलिका को बैठाकर दृढ़ता से बाँध दिया जाता है जिससे संधि में हवा या पानी न घुस सके। यदि दो सप्ताह तक अँखुआ हरा रह जाता है तो यह मान लिया जा सकता है कि अब कलिका और मूल वृंत के जुड़ जाने की संभावना है।

अँगूठीनुमा चश्मा (रिंग बडिंग)—बेर (जूजूब) के साथ इस विधि का प्रयोग विशेष रूप से होता है। उपरोपिका की लकड़ी पर से पुष्ट कलिका सहित ½ इंच या ¾ इंच चौड़ा छल्ला लकड़ी से कुछ ढीला करके एक ओर सरकाकर उतार लिया जाता है। फिर मुख्य पादप का सिरा काटकर थोड़ी दूर का छिलका उखाड़ देते हैं। अब कलिकावाले छल्ले को धीरे से मूल वृंत की लकड़ी पर इस प्रकार सरका देते हैं कि उसका सिरा मूल वृंत के छिलके से चारों ओर सटकर बैठ जाय।

पैबंद (पैच बडिंग)—पैवंद ढालनुमा चश्मे की ही भाँति लगाई जाती है, अंतर केवल इतना होता है कि इसमें छिलके का वह भाग, जिसमें कलिका रहती है, चौकोर काटा जाता है और मूल वृंत के छिलके से ठीक इसी के आकार का एक टुकड़ा निकाल दिया जाता है। फिर रिक्त स्थान पर कलिकावाला टुकड़ा बड़ी सावधानी से बाँध दिया जाता है।

फोर्कर्ट की विधि—यह विधि पैबंद लगाने की ही तरह है। केवल इस विधि में पैबंद लगभग एक इंच लंबी और उसकी तिहाई चौड़ी होती है, और मूल वृंत का छिलका कुछ दूर तक इसपर चढ़ा दिया जाता है।

विभाजन—इस विधि के अंतर्गत वे रीतियाँ हैं जिनमें पैतृक पादक के एक अंग को काटकर अलग लगाया जाता है, जो आगे चलकर एक पूर्ण पादप के रूप में पनप जाता है। इसका प्रयोग कंदवाले पादपों के लिये होता है, जैसे बैजंती (कैना) की जड़वाली गाँठें (रिजोम), केले की जड़ से निकले पौधे, लिली के कंद (बल्ब), इत्यादि।

भेंट कलम (इनआर्चिंग)—इस विधि को माली लोग साटा कहते हैं। प्राय: सभी कलमी आम इसी प्रकार लगाए जाते हैं। अमरूद, नारंगी तथा इसी तरह के अन्य फलों की कलमें भी ऐसे ही लगाई जाती हैं। इनमें एक अच्छे वृक्ष से उपरोपिका ली जाती है और उसे बीजू (बीज से उत्पन्न) पौधे पर लगा दिया जाता है। किंतु इस विधि में डालों के संयुक्त होने की अवस्था तक उपरोपिका को पितृवृक्ष के सहारे रहना पड़ता है। इस विधि में बीजू पादप को चुने हुए अच्छे वृक्ष के पास इस प्रकार रख देते हैं कि बीजू पादप की टहनी अच्छे वृक्ष में से किसी उतनी ही मोटी टहनी से सरलता से बाँधी जा सके। इसके लिये पहले मूल वृक्ष की टहनी में से एक तरफ से १॥ या २ इंच लंबा परत छीलकर निकाल दिया जाता है। साथ में लकड़ी भी कट जाय, परंतु व्यास की एक तिहाई से अधिक गहराई तक न काटी जाय। यह काम खूब तेज छुरी से करना चाहिए। उपरोपिका की टहनी को भी उसी प्रकार छीलना चाहिए। उद्देश्य यह है कि दोनों टहनियों को सटाने पर दोनों छीले भाग पूरी लंबाई तक ठीक एक के ऊपर एक पड़ें, छिलका छिलके पर, काठ काठ पर। तब दोनों को बड़ी सावधानी से कसकर बाँध दिया जाता है और उनको बिना हिलाए डुलाए दो तीन महीने तक छोड़ दिया जाता है। इतने समय तक बीजू पेड़ की (जो बहुधा गमले में रहता है) वैसी ही सेवा की जाती है जैसी इसके स्वतंत्र रहने पर की जाती। यह खर्चीली विधि है और इसका प्रयोग तभी करना चाहिए जब अन्य विधियों से काम न चले।

उपयुक्त भूमि का चुनाव—घरेलू उद्यान के लिये तो मकान के पास की भूमि ही उद्यानभूमि हो सकती है। साधारणत: फूलों के उद्यान और हरियाली (लॉन) को सामने रखा जाता है, जहाँ वे सबको दिखाई पड़ें, और फल तथा तरकारी के उद्यानों को बगल में या पीछे की ओर रखा जाता है।

व्यापारिक उत्पादन के लिये भूमि का चुनाव कई बातों पर निर्भर है। १. मिट्टी—अधिकांश फसलों के लिये दोरसी मिट्टी ही उपयुक्त मानी जाती है। जिस मिट्टी में चिकनी मिट्टी (क्ले) और बालू तथा सड़ा घास पात रहे उसे दोरसी मिट्टी (लोम) कहते हैं। फलों के लिये पानी की निकासी और दोरसी मिट्टी की पर्याप्त गहराई दोनों बहुत आवश्यक हैं। ऐसी मिट्टी कम से कम छः फुट की गहराई तक रहे। २. सिंचाई—फल, तरकारी आदि की अधिकांश फसलों को खूब पानी चाहिए। यदि वर्षा प्राय: हर महीने में होती हो तो बात दूसरी है, अन्यथा सिंचाई की आवश्यकता पड़ेगी। इसलिये उपयुक्त भूमि का सस्ते तथा प्रचुर पानी के पास होना नितांत आवश्यक है। ३. बाजार—उपज को खपाने के लिये उपयुक्त बाजार का पास होना भी अत्यावश्यक है, अन्यथा फसल का चुनाव बड़ी सावधानी से करना पड़ेगा, जिसमें दूर तक भेजने पर भी वे खराब न हों और घाटा न पड़े। ४. परिवहन के लिये कम से कम दो विभिन्न साधनों की सुविधा होनी चाहिए।

रोपण योजना—खेत में तरकारियाँ साधारणत: सीधी पंक्तियों में रोपी जाती हैं। फूल अनियमित या नियमित (अर्थात् ज्यामितीय आकार की) क्यारियों में, या दीवारों की जड़ के पास रोपे जाते हैं। प्रत्येक प्रकार के पादप के लिये अन्य पादपों से समुचित दूरी आवश्यक है, क्योंकि बहुत पास पास लगाने पर वे स्वस्थ नहीं रह पाते। फलों के पादपरोपण में वस्तुत: प्रति एकड़ वृक्षों की एक निश्चित संख्या होती है जिससे महत्तम लाभ प्राप्त होता है। इसके लिये **फलों की खेती** शीर्षक लेख देखें।

पौधों के बीच दूरी—वार्षिक फूलों के लिये उनकी परस्पर दूरी ६ से १२ इंच तक होती है; झाड़ों के लिये दूरी उनकी बाढ़ पर निर्भर है। तरकारियों में मूली, गाजर जैसी फसल के लिये एक पादप से दूसरे पादप की दूरी ६ इंच की तथा पंक्तियों की परस्पर दूरी ९ से १२ इंच तक की होनी चाहिए। मिर्चा जैसे छोटे पादप के लिये १ से २ फुट की दूरी दोनों दिशाओं में चाहिए। कुछ बड़े पौधों के लिये, जैसे टमाटर, बैगन आदि, ३ फुट की दूरी चाहिए और लौकी, कद्दू तथा ककड़ी जैसी लताओं के लिये दोनों दिशाओं में ५ से १० फुट का अंतर होना चाहिए।

छँटाई (प्रूनिंग)—इसके अंतर्गत लता तथा टहनियों को आश्रय देने की रीति और उनकी काट छाँट दोनों ही बातें आती हैं। पहली बात के सहारे पादपों को इच्छानुसार रूप दिया जा सकता है। आलंकारिक पादपों

के लिये छँटाई करनेवाले की इच्छा के अनुसार शंक्वाकार (गावदुम), छत्राकार (छतरीनुमा) आदि रूप दिया जा सकता है और कभी कभी तो उन्हें हाथी, घोड़े आदि का रूप भी दे दिया जाता है, परंतु फलों के वृक्षों को साधारणतः कलश या पुष्पपात्र का रूप दिया जाता है और केंद्रीय भाग को घना नहीं होने दिया जाता। छँटाई का उद्देश्य यह होता है कि पादप के प्रायः अनावश्यक भाग निकाल दिए जायँ जिससे बचा हुआ भाग अधिक उत्पादन कर सके या अधिक सुंदर, पुष्ट और स्वस्थ हो जाय। कुछ फूलों में, जैसे गुलाब में, जड़ और टहनियों की छँटाई इसलिये की जाती है कि अधिक फूल लगें। कुछ में पुरानी लकड़ी इसलिये छाँट दी जाती है कि ऐसी नई टहनियाँ निकलें जिनपर फूल लगते हैं। छँटाई में दुर्बल, रोगग्रस्त और घनी टहनियों को छाँटकर निकाल दिया जाता है।

कर्षण—कर्षण (कल्टिवेशन) शब्द का प्रयोग यहाँ पर दो भिन्न कर्मों के लिये किया गया है: एक तो उस छिछली और बार बार की जानेवाली गोड़ाई या खुरपियाने के लिये जो घास पात मारने के उद्देश्य से की जाती है, और दूसरे उस गहरी जोताई के लिये जो प्रति वर्ष इसलिये की जाती है कि भूमि के नीचे घास पात तथा जड़ें आदि दब जायँ। तरकारी और फूल की खेती में साधारणतः जोताई की बड़ी आवश्यकता रहती है। भारत की अधिकांश जगहों में फलों के उद्यान में भूमि पर घास उगना वांछनीय नहीं है और इसलिये थोड़ी बहुत गोड़ाई आवश्यक हो जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि गोड़ाई या खुरपियाने का प्रधान उद्देश्य अवांछित घास पात का निर्मूलन ही होता है। अब चूँकि कर्षण का प्रथम उद्देश्य अनावश्यक घास पात का निर्मूलन है, इसलिये यह तभी करना चाहिए जब वे छोटे हों और उन्होंने अपनी जड़ें गहरी न जमा ली हों। यह कर्षण छिछला होना चाहिए ताकि तरकारी, फूल या फलों की जड़ों को हानि न पहुँचे। शुष्क ऋतु में प्रत्येक सिंचाई के बाद एक बार हलका कर्षण और निराना (वीडिंग) अच्छा है। इसके साथ ही फलों की उद्यान भूमि को, कम से कम गर्मी में और फिर एक बार बरसात में, पलटनेवाले हल से अवश्य जोत देना चाहिए। जोताई किस समय की जाय, यह भी कुछ महत्वपूर्ण है। यदि अधिक गीली भूमि पर जोताई की जाय तो अवश्य ही इससे भूमि को हानि पहुँच सकती है। हलकी (बालुकामय) मिट्टी की अपेक्षा भारी (चिकनी) मिट्टी में ऐसी हानि अधिक होती है। साधारणतः जोताई वही अच्छी होती है जो पर्याप्त सूखी भूमि पर की जाय, परंतु भूमि इतनी सूखी भी न रहे कि बड़े बड़े चिप्पड़ उखड़ने लगें। फलों के उद्यान और तरकारी के खेतों में बिना जोते ही विशेष रासायनिक पदार्थों के छिड़काव से घास पात मार डालना भी उपयोगी सिद्ध हुआ है।

अंतर्कृषि—यदि पादपों की परस्पर दूरी ठीक है तो फलों के नए उद्यान में बहुत सी भूमि ऐसी पड़ी रहेगी जो वर्षों तक फलवाले वृक्षों के काम में न आएगी। इस भूमि में शीघ्र उत्पन्न होनेवाले फल, जैसे पपीता, या कोई तरकारी पैदा की जा सकती है।

सिंचाई—भिन्न भिन्न प्रकार के पादपों को इतनी विभिन्न मात्राओं में पानी की आवश्यकता होती है कि उनके लिये कोई व्यापक नियम नहीं बनाया जा सकता। कितना पानी दिया जाय और कब दिया जाय, यह इसपर निर्भर है कि कौन सा पौधा है और ऋतु क्या है। गमले में लगे पौधों को सूखी ऋतु में प्रति दिन पानी देना आवश्यक है। सभी पादपों के लिये भूमि को निरंतर नम रहना चाहिए जिससे उनकी बाढ़ न रुके। फलों को भी समुचित विकास के लिये निरंतर पानी की आवश्यकता रहती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि भूमि में नमी की मात्रा इतनी कम कभी न हो कि पौधे मुरझा जायँ और फिर पनप न सकें। अच्छी सिंचाई वही है जिसमें पानी कम से कम मात्रा में खराब जाय। यह खराबी कई कारणों से हो सकती है: ऊपरी सतह पर से पानी के बह जाने से, अनावश्यक गहराई तक घुस जाने से, ऊपरी सतह से भाप बनकर उड़ जाने से तथा घासपात द्वारा आवश्यक पानी खिंच जाने से। पंक्तियों में लगी हुई तरकारियों को बगल की नालियों द्वारा सींचना सरल है। छोटे वृक्ष थाला बनाकर सींचे जा सकते हैं। थाले इस प्रकार आयोजित हों कि पादपों के मूल तक की भूमि सिंच जाय। जैसे जैसे वृक्ष बढ़ते जायँ थालों के वृत्त को बढ़ाते जाना चाहिए। बड़े से बड़े वृक्षों की सिंचाई के लिये नालियों की पद्धति ही कुछ परिवर्तित रूप में उपयोगी होती है।

बुद्धिमत्तापूर्ण सिंचाई के लिये वृक्षों तथा भूमि की स्थिति पर ध्यान रखना परम आवश्यक है। विशेष यंत्रों से, जैसे प्रसारमापी (टेंसिओमीटर) तथा जिप्सम परिचालक इष्टिकाओं (जिप्सम कंडक्टैंस ब्लॉक) को भूमि के भीतर रखकर, भूमि की आर्द्रता नापी जा सकती है। भूमि की नमी जानने के लिये पेंचदार बर्मा (ऑगर) का भी उपयोग हो सकता है। यदि खेत में घास पात उग रहे हों तो उनकी दशा से भी भूमि की नमी का अनुमान किया जा सकता है।

खाद—पादपों को उचित आहार मिलना सबसे महत्व की बात है। फल और तरकारी अन्य फसलों की अपेक्षा भूमि से अधिक मात्रा में आहार ग्रहण करते हैं। फलवाले वृक्ष तथा तरकारी के पादपों को अन्य पादपों के सदृश ही अपनी वृद्धि के लिये कई प्रकार के आहार अवयवों की आवश्यकता होती है जो साधारणतः पर्याप्त मात्रा में उपस्थित रहते हैं। परंतु कोई अवयव पादप को कितना मिल सकेगा यह कई बातों पर निर्भर है, जैसे यह अवयव मिट्टी में किस खनिज के रूप में विद्यमान है, मिट्टी का कितना अंश कलिल (कलायड) के रूप में है, मिट्टी में आर्द्रता कितनी है और उसकी अम्लता (पी एच) कितनी है। अधिकांश फसलों के लिये भूमि में नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटैसिअम डालना उपयोगी पाया गया है, क्योंकि ये तत्व विभिन्न फसलों द्वारा न्यूनाधिक मात्रा में निकल जाते हैं। इसलिये यह देखना आवश्यक है कि भूमि के इन तत्वों का संतुलन पौधों की आवश्यकता के अनुसार ही रहे। किसी एक तत्व के बहुत अधिक मात्रा में डालने से दूसरे तत्वों में कमी या असंतुलन उत्पन्न हो सकता है, जिससे उपज में कमी आ सकती है।

नाइट्रोजन—भारतीय भूमि के लिये खाद के सबसे महत्वपूर्ण अंग नाइट्रोजन तथा वानस्पतिक पदार्थ हैं। यह स्मरण रहे कि भूमि भूमि में अंतर होता है; इसलिये इस संबंध में कोई एक व्यापक नुसखा नहीं बताया जा सकता जिसका प्रयोग सर्वत्र किया जा सके। नाइट्रोजन देनेवाली कुछ वस्तुएँ ये हैं:—(क) जीवजनित (ऑर्गैनिक) स्रोत: गोबर, लीद, मूत्र, कूड़ा कर्कट आदि की खाद; खली तथा हरी फसलें जो खाद के रूप में काम में आ सकती हैं, जैसे सनई, तिनपतिया (क्लोवर) मूँग, ढेंचा आदि। (ख) अजीवजनित स्रोत: यूरिआ, जिसमें ४० प्रति शत नाइट्रोजन होता है, अमोनियम सल्फेट (२० प्रति शत नाइट्रोजन), अमोनियम नाइट्रेट (३५ प्रति शत नाइट्रोजन), कैल्सिअम नाइट्रेट (१५ प्रति शत नाइट्रोजन) तथा सोडियम नाइट्रेट (१६ प्रति शत नाइट्रोजन)। साधारणतः भूमि में प्रति एकड़ ५० से १२ पाउंड तक नाइट्रोजन संतोषजनक होने की आशा की जा सकती है।

फास्फोरस—यह संभव है कि फास्फोरस भूमि में पर्याप्त मात्रा में रहे, परंतु पादपों को केवल धीरे धीरे प्राप्त हो। देखा गया है कि कभी कभी जहाँ अन्य फसलें बहुत ही निकम्मी होती थीं, वहाँ फलों का उद्यान भूमि में बिना ऊपर से फास्फोरसमय पदार्थ डाले, बहुत अच्छी तरह फूलता फलता है, संभवतः इसलिये कि फल के वृक्षों को फास्फोरस की आवश्यकता धीरे धीरे ही पड़ती है। खादों में तथा सभी प्रकार के जीवजनित पदार्थों में कुछ न कुछ फास्फोरस रहता है। परंतु फास्फोरसप्रद विशेष वस्तुएँ ये हैं—अस्थियों का चूर्ण (जिसमें २० से २५ प्रति शत फास्फोरस पेंटाक्साइड, रहता है), बेसिक स्लैग (१५ से २० प्रति शत फास्फोरस पेंटाक्साइड) और सुपर फास्फेट जिसका प्रयोग बहुतायत से होता है। इसमें १६ से ४० प्रति शत फास्फोरस पेंटाक्साइड रहता है। उन मिट्टियों में, जो फास्फोरस को स्थिर (फ़िक्स) कर लेती हैं, पहली बार इतना फास्फोरसमय पदार्थ डालना चाहिए कि स्थिर करने पर भी पौधों के लिये कुछ फास्फोरस बच रहे, परंतु जो मिट्टियाँ फास्फोरस को स्थिर नहीं करतीं उनमें अधिक मात्रा में फास्फोरसमय पदार्थ नहीं डालना चाहिए, अन्यथा संतुलन बिगड़ जायगा और अन्य अवयव कम पड़ जायँगे।

पोटैसिअम—जिस भूमि में सुलभ पोटैसिअम की मात्रा बहुत ही कम होती है उसमें पोटैसिअम देने पर दर्शनीय अंतर पड़ता है, जो उपज की वृद्धि से स्पष्ट हो जाता है। पोटैसिअम सल्फेट तथा पोटैसिअम क्लोराइड ही साधारणतः खाद के लिये प्रयुक्त होते हैं। इनमें से प्रत्येक में लगभग ५० प्रति शत पोटैसिअम आक्साइड होता है। पोटैसिअम नाइट्रेट में ४४ प्रति शत पोटैसिअम आक्साइड होता है; साथ में १३ प्रति शत नाइट्रोजन

भी रहता है। जीवजनित खादों में भी ५० प्रति शत या अधिक पोटैसिग्रम ऑक्साइड हो सकता है। [वि० डी०]

उद्योग में आकस्मिक दुर्घटनाएँ

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप आधुनिक काल में विशालकाय मशीनों और यंत्रों का अधिकाधिक उपयोग होने लगा है। मशीनों की गति का मनुष्य सामना नहीं कर सकता। तेज दौड़ते हुए पहिए, भीमकाय भट्ठियाँ और उनमें पिघलाए जानेवाले गर्म द्रव, भारी क्रेनें, और ऐसी ही अन्य कई चीजों से सुविकसित औद्योगिक केंद्र संचालित होते हैं। कहीं भी थोड़ी सी भूल चूक से, अथवा मशीनों के एकाएक खराब हो जाने से, पुर्जों के टूट जाने, अथवा विस्फोटक पदार्थों में आग लग जाने आदि से कई ऐसी आकस्मिक दुर्घटनाएँ घट जाती हैं जिनका पहले से कोई अनुमान भी नहीं किया जा सकता। ऐसी उद्योग संबंधी अप्रत्याशित और आकस्मिक घटनाएँ, जिनसे कार्यकर्ताओं को शारीरिक हानि पहुँचे और वे स्थायी या अस्थायी काल के लिये अयोग्य हो जायँ, अथवा मर जायँ, औद्योगिक दुर्घटनाएँ कहलाती हैं। घरेलू नौकरों की दुर्घटनाएँ और खेत पर काम करते समय लगनेवाली चोटों या होनेवाली शारीरिक हानियों को औद्योगिक दुर्घटना में संमिलित नहीं किया जाता। जब कोई घटना लाभ के लिये किया जानेवाला काम करते समय घटती है तभी वह औद्योगिक दुर्घटना की श्रेणी में आती है।

शारीरिक हानि को उसकी गंभीरता के आधार पर पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है: (१) मृत्यु, (२) स्थायी पूर्ण अयोग्यताएँ, यथा दोनों आँखों से अंधा हो जाना, दोनों हाथों अथवा पैरों का टूट जाना, आदि; (३) स्थायी आंशिक अयोग्यताएँ, यथा एक आँख या एक हाथ या एक पैर का खराब हो जाना; (४) अस्थायी पूर्ण अयोग्यताएँ; (५) अस्थायी अयोग्यताएँ, जो प्राथमिक उपचार अथवा कुछ दिनों के डाक्टरी इलाज से ठीक होने योग्य हों।

बड़े बड़े उद्योगों में सांख्यिकी (स्टैटिस्टिक्स) द्वारा यह अनुमान लगाया जाता है कि किसी भी दुर्घटना द्वारा उस उद्योग को समय की दृष्टि से कितनी हानि हुई है। इस प्रकार समय और मूल्य का संबंध जोड़कर उद्योग को होनेवाली संपूर्ण आर्थिक हानि आँक ली जाती है। मत्यु के कारण भी उद्योग को समय की दृष्टि से पर्याप्त हानि होती है, क्योंकि उस व्यक्ति की सेवाएँ बाद में कभी भी प्राप्त नहीं हो सकतीं। उसके स्थान पर किसी नए व्यक्ति को रखना पड़ता है जिसे उस स्थान पर ठीक से कार्य करने में कुछ समय लग ही जाता है। इसी प्रकार स्थायी रूप से अयोग्य हुए व्यक्तियों के कारण भी समय नष्ट होता है। दुर्घटनाग्रस्त व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी अपना काम छोड़कर उनकी सेवा सुश्रूषा के लिये अथवा मशीनों के सुधार के लिये समय देते हैं, जो किसी भी प्रकार उत्पादनवृद्धि में सहायक नहीं होता। कभी कभी उनकी मानसिक स्थिति भी स्थिर नहीं रह पाती और इसलिये भी उनकी कार्यक्षमता का ह्रास होने लगता है। इन सबका परिणाम उत्पाद्य वस्तुओं की मात्रा में कमी ही होता है और इसलिये समय की हानि को मूल्य के साथ जोड़ना उचित हो जाता है।

दुर्घटना से होनेवाली आर्थिक हानि में इलाज के लिये होनेवाला व्यय और बीमा का व्यय भी जोड़ लिया जाता है। १९५३ में अमरीका में लगभग ३ अरब डालर का व्यय इन औद्योगिक दुर्घटनाओं के कारण हुआ, जो प्रत्येक श्रमिक पर समान रूप से वितरित करने पर औसतन ४५ डालर होता है।

दुर्घटनाओं का तुलनात्मक परीक्षण करने के लिये यह आवश्यक है कि कुछ आधारभूत कसौटियाँ स्थिर की जायँ। "अमरीकन स्टैंडर्ड्स ऐसोसिएशन" ने अपने प्रतिमान जेड १६·१ द्वारा दो प्रकार की शारीरिक-हानि-दर-मापन का माध्यम सुझाया है। ये हैं: (१) किसी निश्चित अवधि में दुर्घटनाओं की आवृत्ति, और (२) दुर्घटना की गंभीरता। प्रथम प्रकार की गणना के लिये १०,००,००० काम करने के घंटों की अवधि में घटनेवाली दुर्घटनाओं को लिया जाता है। दूसरी प्रकार की गणना द्वारा इतने ही घंटों में हुई कुल हानि का अनुमान लगाया जाता है। यह हानि समयहानि के माध्यम से आँकी जाती है जिसका वर्णन हम ऊपर कर आए हैं।

उद्योगों में दुर्घटनाओं को कम करने के लिये प्रत्येक दुर्घटना का विश्लेषण किया जाता है। दुर्घटना के कारणों की जानकारी होने पर भविष्य में उन कारणों को न पनपने देने की चेष्टाएँ की जाती हैं। इस दिशा में सतर्कता और सावधानी बरती जाती है। इन कारणों और कारकों में निम्नलिखित मुख्य हैं:

१. दुर्घटना किस चीज से हुई, अर्थात् दुर्घटना का माध्यम (एजेंसी); २. मशीन या औजार का भागविशेष, जो दुर्घटना के लिये उत्तरदायी हो; ३. दुर्घटनास्थल, वातावरण एवं मशीन की स्थिति; ४. कार्यकर्ता ने सावधानी एवं सतर्कता के नियमों का पालन किया या नहीं; ५. दुर्घटना के लिये स्वयं दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति का दायित्व; ६. दुर्घटना का प्रकार (किस प्रकार हानि पहुँची)।

इनके अतिरिक्त दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति पुरुष है अथवा स्त्री, उसके कार्य की स्थिति, उसका मानसिक संतुलन आदि कारण भी विश्लेषित किए जाते हैं।

दुर्घटनाओं से होनेवाली मानवहानि, मृत्यु अथवा स्थायी अस्थायी अयोग्यताओं पर जितनी सहानुभूति के साथ २०वीं शती के प्रारंभ से विचार किया जाने लगा है, उतना पहले कभी नहीं किया गया। सुरक्षा के लिये यत्न, उचित प्रशिक्षण और श्रमिकों की सुखसुविधा के लिये सहकार, ये सब नए किंतु आवश्यक चरण हैं। इनके मूल में कतिपय कारण हैं। औद्योगिक प्रगति की बढ़ती हुई परंपरा से प्रभावित होकर सामान्य जन अपने परंपरागत उद्योगों को छोड़कर इन बड़े उद्योगों की ओर आकृष्ट हुए। जनसंख्या का अधिकांश यहीं केंद्रित होने लगा। इधर उद्योगों पर समाज का अवलंबन बढ़ता ही चला गया और इससे उनका विकास और विस्तार करना आवश्यक हो गया। श्रमिकों की माँग भी बढ़ने लगी। किंतु जिन उद्योगों में मानवहानि का भय हो, उसमें कोई श्रमिक तब तक जाना पसंद नहीं करेगा जब तक उसे सामाजिक सुरक्षा का समुचित आश्वासन न मिले। मशीनों के साथ वह दिन और रात जूझता है, केवल इसलिये कि उसके बाल बच्चों का पोषण हो सके। यदि कार्य करने से ही उसकी मृत्यु हो जाय अथवा वह अयोग्य हो जाय, तो उसके परिवार के पोषण का कौन उत्तरदायी होगा? यही प्रश्न उसे अपने जीवन को संकट में डालने से रोकता है। जब तक उद्योगपति उसे यह आश्वासन न दे दें कि उसको ऐसी किसी भी दुर्घटना की स्थिति में सामाजिक सुरक्षा के कतिपय अधिकार प्राप्त होंगे, तब तक वह ऐसे कार्यों में हाथ लगाकर जोखिम मोल नहीं लेगा। इस प्रकार उद्योगों का यंत्रीकरण, उनकी विषमता और जटिलता, उद्योगों में जनसंख्या के अधिकांश का केंद्रीकरण, समाज का उद्योगों पर पराश्रय, श्रमिकों की माँग तथा जीवन पर संकट लानेवाले उद्योगों में काम न करने की इच्छा आदि ही ऐसे मुख्य कारण हैं, जिन्होंने उद्योगपतियों और राज्य सरकारों को यह बात सोचने के लिये बाध्य किया कि सामाजिक सुरक्षा (सोशल सिक्योरिटी) के लिये कतिपय नियम बनाए जायँ और साथ ही दुर्घटनाओं की स्थितियों और उनकी आवृत्तियों को कम करने की भरसक चेष्टाएँ की जायँ, ताकि श्रमिक उद्योगों में निःसंकोच आना पसंद करें। कार्यस्थल के परिसर और कार्य करने की कुशल व सतर्क रीतियों से दुर्घटनाओं की संभावनाएँ कम हो सकती हैं और इसीलिये यह चेष्टा की जाती है कि अच्छे वातावरण में श्रमिक कार्य कर सकें। उन्हें कार्यक्षम बनाने तथा सावधानी से काम करने के लिये उचित प्रशिक्षण की योजना भी उद्योगों का एक विशेष कार्य हो गई है।

पहले उद्योगपतियों को यह विश्वास सा था कि सावधानी से और स्वयं को संकट से बचाते हुए कार्य करने से उत्पादन की मात्रा पर कुप्रभाव पड़ता है, किंतु अब यह विचार बदल गया है। अनुभव के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि ठीक प्रकार से कार्य करना कुशलता और जीवनरक्षा दोनों ही दृष्टियों से लाभप्रद है।

सरकारी और निजी, दोनों ही क्षेत्रों में इस ओर जागरूकता बढ़ती जा रही है और कई समितियाँ एवं राजकीय विभाग इसी ओर अपना कार्यक्षेत्र विस्तारित भी कर रहे हैं। कतिपय मजदूर संघ (ट्रेड यूनियनें) भी इस दिशा में अपने प्रयासों द्वारा दुर्घटनाओं को कम करने तथा दुर्घटनाग्रस्त लोगों की सेवा सुश्रूषा अथवा मृतक के परिवार के भरण पोषण आदि के प्रबंध का कार्य करते रहते हैं।

ग्रेट ब्रिटेन की "रायल सोसायटी फ़ॉर दि प्रिवेंशन ऑव ऐक्सिडेंट्स" का निर्माण इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया गया। सुरक्षा के छः सिद्धांतों का उल्लेख यह सोसायटी इस प्रकार करती है :

१. व्यवस्थापकों की ओर से सुरक्षा के लिये सबल प्रयास होना चाहिए; २. प्रत्येक व्यक्ति को इस ओर सचेत करने का यत्न आंदोलन द्वारा किया जाना चाहिए; ३. दुर्घटनाओं के आँकड़े और विवरण पंजीकृत करने चाहिए; ४. निरीक्षण, जाँच और कार्यसुरक्षा के विश्लेषण का अध्ययन करना आंदोलन का आवश्यक अंग होना चाहिए; ५. संगठन का अधिकांश कार्य कार्य-सुरक्षा-समिति को सौंप देना चाहिए; ६. इस संगठन का अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य प्रचार द्वारा कार्यकर्ताओं और व्यवस्थापकों को इस दृष्टि से शिक्षित करना होना चाहिए।

इस सोसायटी ने अपने अनुसंधान द्वारा विभिन्न प्रकार की दुर्घटनाओं को वर्गीकृत किया। उन वर्गों में होनेवाली दुर्घटनाओं की आवृत्ति का प्रति शत निम्नलिखित है :

कारण	प्रति शत दुर्घटना
१. माल ढोने से	२७·८
२. शक्तिचालित मशीनों से	१६·४
३. लोगों के गिर जाने से	१३·३
४. हाथ के औजारों के उपयोग से	८·८
५. किसी वस्तु के गिर जाने से	८·७
६. किसी वस्तु से टकरा जाने से	७·३
७. गर्म धात्विक द्रव या गर्म वस्तु के स्पर्श से	४·२
८. यातायात (रेलवे के अतिरिक्त)	३·३
९. रेल यातायात	१·६
१०. विविध	८·६

भारत में औद्योगीकरण के प्रारंभ के वर्षों में दुर्घटनाएँ अधिक हुआ करती थीं, क्योंकि उस समय श्रमिक अधिक कुशल नहीं था। सन् १८८४ में दुर्घटना के कारण अयोग्य हुए व्यक्तियों को हानिमूल्य देने का प्रश्न उठाया गया, पर कार्यकर्ताओं के हानिमूल्य का अधिनियम (वर्कमेंस कंपेंसेशन ऐक्ट) १९३३ में जाकर ही पारित हो सका। १९३४ के फैक्टरी ऐक्ट द्वारा इस दिशा में और अधिक व्यवस्थाएँ हुईं। फिर भी औद्योगिक दुर्घटनाओं की सांख्यिकी अधिक विश्वसनीय नहीं है। स्वयं श्रमिकों के अबोध और अशिक्षित होने के कारण तथा मजदूर संघों के सुसंगठित न होने के कारण, हानिमूल्य की प्राप्ति के लिये अधिक चेष्टाएँ भी नहीं की जातीं और की जाने पर भी सफलता सभी में समान रूप से नहीं मिल पाती। उद्योगपति भी इस स्थिति का लाभ उठाते हैं। अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को टाल देने की प्रवृत्ति व्यवस्थापकों में प्रायः पाई जाती है। इसीलिये श्रमिकों का शोषण करने में भी वे अधिक संकोच नहीं करते।

दुर्घटनाजन्य मृत्यु की दर १९३९ की तुलना में १९५७ में कुछ कम हुई। १९५७ में प्रति एक हजार व्यक्तियों में से ०·०९ श्रमिक मरे, जब कि १९३९ में ०·१३ व्यक्ति मरे थे। किंतु अन्य दुर्घटनाओं में, जो स्थायी और अस्थायी अयोग्यता के कारण होती हैं, प्रति वर्ष वृद्धि ही हुई है। नीचे की तालिका इसे स्पष्ट करती है :

वर्ष	मृत्यु के अतिरिक्त दुर्घटनाओं की कुल संख्या	प्रति एक हजार व्यक्ति पर औसत
१९३९	३५,७८५	२०·४३
१९४५	६६,७८१	२६·४०
१९५४	९३,७६५	३६·२१
१९५६	१,२८,१७७	४४·४७

विभिन्न कारण जिनके कारण दुर्घटनाएँ हुईं, उनके प्रति शत निम्नलिखित हैं :

दुर्घटना के कारण	१९५० में प्रति शत	१९५६ में प्रति शत
१. मशीनों द्वारा	२३·७०	२४·४०
२. वस्तुओं के गिर जाने से	१६·४९	१३·२४
३. माल ढोने से	१०·३५	११·३७
४. यातायात	१·१८	१·४४
५. गर्म धात्विक द्रव या गर्म पदार्थ से	५·६५	४·७०
६. हाथ के औजारों के उपयोग से	९·८२	७·५७
७. लोगों के गिर जाने से	६·२१	५·७३
८. किसी चीज से टकरा जाने से	७·६५	१२·४७
९. विविध	१२·६५	१९·०८

द्वितीय पंचवर्षीय योजना और आगामी पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगीकरण तथा यंत्रीकरण पर जो बल दिया जा रहा है (या दिया जानेवाला है), उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उद्योग संबंधी समस्याएँ और दुर्घटनाओं की संभावनाएँ बहुत बढ़ जायँगी। इन्हें रोकने के लिये उचित प्रशिक्षण तथा उद्योगपतियों के हार्दिक सहकार की परम आवश्यकता है। सामाजिक सुरक्षा के प्रति जागरूकता और सहानुभूतिपूर्ण विचार तथा उत्तरदायित्व का भाव होना औद्योगिक विकास के लिये अपरिहार्य है। कार्यकर्ताओं के लिये राज्य बीमा अधिनियम (एंप्लायीज़ स्टेट इंश्योरेंस ऐक्ट, १९४८) द्वारा कतिपय सुविधाएँ राज्य ने प्रदान की हैं। परंतु इस दिशा में अधिक गंभीरता से विचार करने और ठोस कदम उठाने की आवश्यकता है। [यो० अ०]

उद्योग में इलेक्ट्रानिकी

इलेक्ट्रानिकी (इलेक्ट्रानिक्स) विज्ञान का वह विभाग है जिसमें इलेक्ट्रान नलियों का अथवा उसी प्रकार के उपकरणों का उपयोग होता है। (देखें **इलेक्ट्रान नली**)। इलेक्ट्रान नलियोंवाले यंत्रों का उपयोग बढ़िया मेल का माल उत्पन्न करने के लिये या साधारण मशीनों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से काम करने के लिये होता है। कुछ अन्य उपयोग ऐसे हैं जिनके लिये कोई संतोषजनक वैकल्पिक रीति नहीं है, जैसे इस्पात की चलती हुई तप्त छड़ों का ताप नापना, लगातार शीघ्रता से चलती हुई वस्तुओं का गिनना अथवा उनकी उत्तमता की परीक्षा करना। इलेक्ट्रानीय युक्तियों में से महत्वपूर्ण उपयोग ये हैं—प्रत्यावर्ती विद्युद्धारा (आलटर्नेटिंग करेंट) को दिष्ट (डाइरेक्ट) धारा में बदलना; शीघ्र और नियंत्रित सीमा तक धातुओं और अधातुओं को तप्त करना; वेग, ताप, दाब, स्राव, तनाव, रंग आदि का विविध औद्योगिक क्रियाओं में नियंत्रण और मोटाई, रंग, समय, आर्द्रता, ताप, वेग, विकिरण आदि का नापना।

आजकल के कई अतिप्रचलित यंत्र भी बिना इलेक्ट्रानिकी के बन नहीं पाते, जैसे रेडियो, दूरवीक्षण (टेलिविज़न), ध्वनिचित्र (बोलता सिनेमा), प्रतिदीप्ति प्रकाश (फ्लुओरेसेंट लाइट), जन-व्याख्यान-प्रबंध (पब्लिक ऐड्रेस सिस्टम), टेलीफोन आदि। ये सब युक्तियाँ इलेक्ट्रानिकी की ही देन हैं। क्रमशः पिछले २५ वर्षों में औद्योगिक उपकरणों में इलेक्ट्रान-नली-युक्त यंत्रों का उपयोग मोटरों के उत्तम कार्यकरण में, धातुओं को जोड़ने में, बहुमूल्य धातुओं के पिघलाने में तथा "विद्युतीय चक्षु" (इलेक्ट्रिक आई) द्वारा नियंत्रण करने में किया जा रहा है। दस वर्षों के यांत्रिक युद्ध (मिकैनिकल वारफेयर) ने इलेक्ट्रानिकी की युक्तियों का जलयानों, वायुयानों तथा टैंकों में अधिकाधिक प्रयोग कराया है। इनके अतिरिक्त युद्ध में प्रयुक्त प्रचुर सामग्री उन कलों के द्वारा तैयार की गई जिनमें इलेक्ट्रानिकी का प्रयोग किया गया था। युद्ध के पश्चात् युद्ध में प्रयुक्त सामग्री की आवश्यकता कम हो गई, परंतु ये औद्योगिक उपकरण रह गए।

इलेक्ट्रानिकी के कुछ औद्योगिक उपयोगों के विषय में संक्षेप में नीचे लिखा जा रहा है :

उद्योग में उपयुक्त कुछ ऋजुकारी—ऋजुकारक, उद्योग में जिनसे प्रत्यावर्ती विद्युद्धारा दिष्ट धारा में बदली जाती है, बहुधा उपयोग में लाए जाते हैं। वे प्रायः निम्नलिखित में से एक प्रकार के होते हैं : *उच्चविभव केनाट्रान युक्त ऋजुकारी; उष्मित ऋणाग्र गैस नली ऋजुकारी; आरगन*

युक्त द्विध्रुवी ऋजुकारी; टुंगर ऋजुकारी; पारद-वाष्प-युक्त ऋजुकारी; फैनोट्रान, थाइरेट्रान ऋजुकारी; पारा ताल ऋजुकारी (मरक्यूरी पूल रेक्टिफायर्स), काच नली पारद चाप ऋजुकारी, स्थिर टैंक पारद चाप ऋजुकारी, इगनिट्रान ऋजुकारी, इत्यादि।

अधिक शक्ति के ऋजुकारी में बहुकला ऋजुकारी परिपथों (पॉलीफेज सर्किट्स) का उपयोग एककला ऋजुकारी परिपथों के उपयोग की अपेक्षा अनेक कारणों से अधिक लाभदायक होता है। प्रथम कारण यह है कि आजकल अधिकतर विद्युतीय शक्ति का उत्पादन तथा वितरण त्रि-कला-शक्ति के रूप में होता है। द्वितीय कारण यह है कि बहुकला ऋजुकारी के द्वारा उत्पन्न वोल्टता एककला ऋजुकारी द्वारा उत्पन्न वोल्टता की अपेक्षा अधिक सम (असमतारहित) होती है।

उपर्युक्त उच्चशक्ति ऋजुकारी में या तो अनेक धनाग्रों (ऐनोड) के लिये एक ही ऋणाग्र रहता है या अनेक धनाग्र ऋजुकारी, जिनके ऋणाग्र जुड़े रहते हैं, प्रयोग में लाए जाते हैं। दोनों ही प्रकार के (उष्म तथा शीतल) ऋणाग्र प्रयोग में लाए जाते हैं।

प्रतिरोध द्वारा जोड़ने में इलेक्ट्रानिकी नियंत्रण—धातु के दो टुकड़ों को, उनमें अत्यधिक विद्युद्धारा (१,००० से १०,००० अंपीयर तक) प्रवाहित करके जोड़ा अथवा संगलित किया जा सकता है। इसके लिये धातु के इन टुकड़ों को वेल्डिंग मशीन के दो विद्युदग्रों के रूप में होना चाहिए। वेल्ड करने के लिये धारा सेकंड के केवल एक छोटे भाग तक ही प्रवाहित होनी चाहिए। स्पर्शक (स्विच) ऐसा हो जो विद्युतीय परिपथ को एकदम जोड़ तथा खोल सके। ऐसा घंटे में सौ बार करना पड़ता है। यद्यपि चुंबकीय स्पर्शक इस कार्य में लाए जाते हैं, तो भी अब इगनेट्रान स्पर्शक तथा अन्य इलेक्ट्रान नली द्वारा संचालित उपकरण का प्रयोग उत्तम वेल्ड के लिये विशेष रूप से किया जा रहा है। इनमें वेल्ड कम समय में होता है और स्पर्शक कोलाहल कम होता है। इसमें व्यय भी कम पड़ता है। वेल्ड इगनेट्रान के अतिरिक्त वेल्ड टाइमर तथा समक्रमिक (सिनक्रोनस कंट्रोल) का भी प्रयोग हो रहा है।

वेल्ड मशीन में प्रत्यावर्ती-धारा-स्रोत से शक्ति इगनेट्रान द्वारा प्राप्त होती है। इन इगनेट्रानों का नियंत्रण अन्य नली-नियंत्रित परिपथों के द्वारा होता है। वेल्ड उष्मा का नियंत्रण एक डायल घुमाकर करने के लिये थाइरेट्रान का प्रयोग किया जाता है। अत्युत्तम वेल्ड के लिये समक्रमिक नियंत्रणों का प्रयोग किया जाता है।

मोटर तथा जनित्र की चाल का इलेक्ट्रानिक नियंत्रण—मोटर की चाल का नियंत्रण कागज के मिलों में विशेष रूप से किया जाता है, क्योंकि चाल पर ही कागज की मोटाई निर्भर रहती है। इन यंत्रों में एक्साइटर के क्षेत्र की प्रवाहित धारा में परिवर्तन किया जाता है, जो जनित्र के लिये नियंत्रक क्षेत्र का उत्पादन करता है। यह जनित्र एक प्राइम मूवर द्वारा चालित होता है। जनित्र का आर्मेचर अपना उत्पादन उस मोटर को देता है जिसकी चाल का नियंत्रण करना होता है। एक दिष्ट-धारा-जनित्र इस मोटर द्वारा चलाया जाता है; वह अपनी चाल के समानुपात में वोल्टता उत्पन्न करता है। यदि यह वोल्टता पूर्वनिश्चित वोल्टता से भिन्न होती है तो एक नियामक (रेगुलेटर) को सक्रिय कर देती है। यह नियामक एक्साइटर के क्षेत्र में ऐसा परिवर्तन ला देता है कि मोटर की चाल पूर्वनिश्चित मान पर आ जाय। इस नियामक में अनेक नलियों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार इलेक्ट्रानिकी की सहायता से मोटर की चाल का नियंत्रण अति सूक्ष्म मान तक किया जा सकता है।

उच्च आवृत्ति से गरम करने के औद्योगिक उपयोग—अत्यधिक शक्तिशाली उच्च आवृत्ति उत्पादक का उपयोग पारविद्युत् (डाइइलेक्ट्रिक) तथा प्रेरण (इंडक्शन) द्वारा गरम करने में बहुत किया जा रहा है। जब किसी पारविद्युत् को संधारित्र के दो पट्टों के बीच में रखा जाता है और संधारित्र को एक शक्तिशाली उच्च आवृत्ति उत्पादक से संबद्ध कर दिया जाता है, तो एक हानिधारा (लॉस करेंट) के कारण पारविद्युत् का ताप बढ़ जाता है और वह पिघलने लगता है। इस प्रकार का नियम प्रेरण द्वारा गरम करने के लिये भी है। ये युक्तियाँ साधारण गरम करने की अपेक्षा अधिक लाभदायक हैं।

इनके अतिरिक्त उद्योग में इलेक्ट्रानिकी के अनेक उपयोग हैं, जैसे विभिन्न प्रकार के स्विच तथा योजित्र (रिले) में नलियों का उपयोग, जनव्याख्यान-व्यवस्था, प्रकाश तथा उष्मा का नियंत्रण, इत्यादि। सर्वोमिकेनिज्म में भी इलेक्ट्रानिकी का उपयोग होता है। [ग० प्र० श्री०]

उद्योग में ऐल्कोहल

उद्योग में मेथिल तथा एथिल ऐल्कोहल का प्रमुख स्थान है। कुछ समय पहले तक व्यापारिक मात्रा में मेथिल ऐल्कोहल केवल लकड़ी के शुष्क आसवन द्वारा ही प्राप्त किया जाता था। इस विधि में लकड़ी को लोहे के बड़े बड़े बकयंत्रों (रिटॉर्टों) में, जिनमें शीतक लगे रहते हैं, हवा की अनुपस्थिति में ५००° सेंटीग्रेड पर गर्म करने से निम्नलिखित पदार्थ बनते हैं :

(क) काष्ठ गैस—यह गैसों का मिश्रण तथा एक उपयोगी ईंधन है। इसमें मिथेन, कारबन मोनोक्साइड और हाइड्रोजन की मात्रा अधिक तथा एथेन, एथिलीन और ऐसिटिलीन की मात्रा कम होती है।

(ख) एक द्रव-स्रव (डिस्टिलेट) जो स्थिर होने पर दो परतों में अलग हो जाता है। ऊपरवाले द्रव परत को पाइरोलिगनस अम्ल कहते हैं; इसमें ऐसिटिक अम्ल १०% तक, मेथिल ऐल्कोहल २ से ४% तक तथा अन्य पदार्थ, जैसे ऐसिटोन आदि अतिन्यून मात्रा में होते हैं। नीचे की काली परत को काष्ठ तारकोल कहते हैं; इसमें फिनोल श्रेणी के तथा कुछ दूसरे यौगिक रहते हैं।

(ग) लकड़ी का कोयला जो बकयंत्रों में बच रहता है।

पाइरोलिगनस अम्ल में से ऐसिटिक अम्ल कैल्सियम ऐसिटेट के रूप में अलग कर लिया जाता है; अब जो द्रव बच रहता है उसमें से चूने की बरी द्वारा सारा जल सुखाकर उसका प्रभाजित आसवन कर ऐल्कोहल और ऐसीटोन अलग कर लेते हैं। इस काष्ठ स्पिरिट में शुद्ध मेथिल ऐल्कोहल ७० से ८०% तक होता है। इस विधि में व्यय अधिक तथा ऐल्कोहल की प्राप्ति बहुत कम होती है। अतः उद्योग के लिये ऐल्कोहल संश्लेषण विधि द्वारा तैयार करते हैं। पचास या इससे अधिक वायुमंडल दाब पर जल-गैस को किसी उपयुक्त उत्प्रेरक (जिंक आक्साइड+क्रोमियम आक्साइड; या जिंक आक्साइड+ताम्र आक्साइड) के साथ ४००° सें० पर गर्म करने से मेथिल ऐल्कोहल बनता है।

मेथिल ऐल्कोहल तीव्र विषैला पदार्थ है। अतः इसका मुख्यतम उपयोग एथिल ऐल्कोहल को अपेय बनाने के लिये होता है। लाह और रेज़िन के लिये, जिनका उपयोग वार्निश तथा पॉलिश के उद्योग में होता है, यह एक उपयुक्त विलेयक है। इसका आक्सीकरण करने से फार्मेल्डिहाइड बनता है जिसका उपयोग बेकलाइट बनाने में होता है। डाइमेथिल ऐमाइन, कृत्रिम रंग, ओषधि तथा सुगंधित पदार्थों के निर्माण में भी इसका अधिक उपयोग होता है।

एथिल ऐल्कोहल—इसको तैयार करने की दो विभिन्न विधियाँ हैं :

(१) संश्लेषण विधि—एथिलीन गैस को सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल में शोषित कराने से एथिल हाइड्रोजन सल्फेट बनता है जो जल के साथ उबालने पर उद्विघटित (हाइड्रोलाइज) होकर एथिल ऐल्कोहल देता है। इस विधि का प्रचलन अभी अधिक नहीं है।

(२) किण्वीकरण विधि—इसके द्वारा किसी भी शक्करमय पदार्थ (गन्ने की शक्कर, ग्लूकोस, शीरा, महुए का फूल आदि) या स्टार्चमय पदार्थ (आलू, चावल, जौ, मकई आदि) से ऐल्कोहल व्यापारिक मात्रा में बनाते हैं। साधारणतः ऐल्कोहल शीरे से, जो शक्कर और चुकंदर के मिलों में व्यर्थ बचा पदार्थ है, बनाया जाता है। शीरे में लगभग ३० से ३५ प्रति शत तक गन्ने की शक्कर तथा लगभग इतना ही ग्लूकोस और फ्रक्टोस घुला रहता है। शीरे में उतना ही जल मिलाया जाता है जितने से उसका आपेक्षिक घनत्व १.०३ से लेकर १.०४ तक हो जाता है। जीवाणुओं तथा अन्य अनावश्यक किण्वों की वृद्धि रोकने के लिये इस घोल में सल्फ्यूरिक अम्ल की कुछ बूँदें डाल देते हैं। अब इसमें थोड़ा सा यीस्ट डालकर इसे ३०°-४०° सेंटीग्रेड ताप पर रख देते हैं। लगभग ४०-५० घंटों में किण्वीकरण समाप्त हो जाता है। इस प्रकार से शीरे की लगभग ९५% शक्कर विच्छिन्न होकर ऐल्कोहल और कारबन-डाइ-आक्साइड में परिवर्तित हो जाती है।

स्टार्चमय पदार्थों को पहले छोटे छोटे टुकड़े कर या पानी के साथ पीसकर तप्त भाप में उबालते हैं। स्टार्चमय पदार्थ लेई की तरह हो जाता

है; इसे हलवा (अंग्रेजी में मैश) कहते हैं। मैश में थोड़ा माल्ट निष्कर्ष मिलाकर ५५°-६०° सेंटीग्रेड ताप पर रख देते हैं। माल्ट निष्कर्ष में विद्यमान डायस्टेस-एंजाइम द्वारा स्टार्च का उद्विघटन होकर माल्टोस बनता है। इस क्रिया में लगभग आध घंटा लगता है और जो द्रव इस प्रकार मिलता है उसे क्वाथ (अंग्रेजी में वर्ट) कहते हैं। क्वाथ को उबालकर इसमें विद्यमान डायस्टेस को नष्ट कर देते हैं; इसे २०° सें० ताप तक ठंढा कर इसमें यीस्ट डालते हैं और फिर इसे २०°-३७° सें० के बीच रख छोड़ते हैं। यीस्ट में विद्यमान माल्टेस-एंजाइम माल्टोस को उद्विघटित कर ग्लूकोस में परिवर्तित करता है। इस ग्लूकोस को फिर जाइमेस-एंजाइम द्वारा विघटित कर ऐल्कोहल प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से ऐल्कोहल बनाने में ३-४ दिन लगते हैं।

किण्वीकरण के बाद जो द्रव मिलता है उसे धोवन (वाश) कहते हैं; इसमें ऐल्कोहल लगभग १०-१५% तक होता है; इसका प्रभाजित आसवन करने पर जो द्रव मिलता है उसमें लगभग ६५·६% ऐल्कोहल होता है; इसको रेक्टिफ़ायड स्पिरिट कहते हैं। प्रभाजित आसवन के लिये कई प्रकार के भभके उपयोग में आते हैं। भारत तथा इंग्लैंड में कॉफ़े भभके का अधिक प्रचलन है; इसके द्वारा एक ही बार के आसवन से रेक्टिफायड स्पिरिट प्राप्त हो जाता है। एक गैलन शीरे से लगभग ०·४ गैलन रेक्टिफायड स्पिरिट प्राप्त होता है। इस रेक्टिफायड स्पिरिट में ऐल्कोहल के अतिरिक्त थोड़ी मात्रा में ऐसिटैल्डिहाइड, ग्लिसरीन, सकसिनिक अम्ल और फ्यूज़ेल तेल अशुद्धि के रूप में रहते हैं। इन अशुद्धियों को अलग करने के लिये इसको पहले लकड़ी के कोयले के छन्ने द्वारा छानते हैं और फिर प्रभाजित आसवन द्वारा प्रथम, द्वितीय और अंतिम स्रव-अंश प्राप्त करते हैं जिनमें क्रमशः ऐसिटैल्डिहाइड, रेक्टिफ़ायड स्पिरिट तथा फ्यूज़ल तेल रहता है।

रेक्टिफायड स्पिरिट से जलरहित विशुद्ध ऐल्कोहल बनाने की साधारण विधि यह है कि इसमें थोड़ा बरी का चूना डाल देते हैं; एक दो दिन के बाद ऐल्कोहल को निथारकर आसवन पात्र में रखकर सोडियम या कैलसियम के ताज़े कटे छोटे छोटे थोड़े से टुकड़े डालकर इसे तुरंत आसवित करते हैं। ग्राहक पात्र में हवा से जलवाष्प न जा सके इसके लिये उसमें कैलसियम क्लोराइड से भरी हुई एक नली लगा दी जाती है। व्यापारिक विधि में रेक्टिफायड स्पिरिट में बेंजीन मिलाकर बेंजीन, ऐल्कोहल और जल तीनों के समक्वाथी त्रय-मिश्रण को गर्म करते हैं। ऐल्कोहल में जितना जल रहता है वह सब इस त्रय-मिश्रण के रूप में ६४·६° सें० पर बाहर निकल जाता है। मिश्रण में अब केवल बेंजीन और ऐल्कोहल रह जाता है। इस द्वय-मिश्रण के ६८·३° सें० पर आसवित होकर निकल जाने पर विशुद्ध ऐल्कोहल ७८·३ सें० पर आसवित होता है।

साधारणतः पेय ऐल्कोहल पर भारी कर लगाया जाता है। उद्योग-विस्तार के लिये औद्योगिक ऐल्कोहल का सस्ता मिलना आवश्यक है। इसलिये उसपर कर या तो नहीं लगता है या बहुत कम। लोग उसे पी न सकें, इस उद्देश्य से प्रत्येक देश में करमुक्त ऐल्कोहल में कुछ ऐसे विषैले और अस्वास्थ्यकर पदार्थों को मिलाते हैं जिससे वह अपेय हो जाय किंतु अन्य कार्यों के लिये अनुपयुक्त न होने पाए। अधिकांश देशों में रेक्टिफायड स्पिरिट में ५ से १० प्रति शत तक मेथिल ऐल्कोहल और ०·५% पिरीडीन मिला देते हैं और उसे मेथिलेटेड स्पिरिट कहते हैं। मेथिल ऐल्कोहल के कारण ही मेथिलेटेड स्पिरिट नाम पड़ा है। किंतु आजकल बहुत से विकृत ऐल्कोहलों में मेथिल ऐल्कोहल बिलकुल नहीं रहता। भारत में विकृत स्पिरिट में साधारणतः ०·५% पिरीडीन और ०·५% पतला रबर स्राव रहता है।

सभी प्रकार की मदिरा में एथिल ऐल्कोहल होता है। कुछ प्रचलित आसुत (डिस्टिल्ड) मदिराओं के नाम ह्विस्की, ब्रांडी, रम, जिन और वॉडका हैं। इनको क्रमानुसार जौ, अंगूर, शीरा, मकई और नीवारिका से बनाते हैं और इनमें ऐल्कोहल क्रमानुसार ४०,४०,४०,३५-४० और ४५ प्रति शत होता है। बियर, वाइन, शैंपेन, पोर्ट, शेरी और साइडर कुछ मुख्य निरासुत मदिराएँ हैं; बियर जौ से तथा और दूसरी सब अंगूर से बनाई जाती हैं; इनमें ऐल्कोहल की मात्रा ३ से २० प्रति शत तक होती है।

मदिरा तथा अन्य ऐल्कोहलीय द्रवों म ऐल्कोहल की मात्रा ज्ञात करने की विधि को ऐल्कोहलमिति कहते हैं। इसके लिये एक तालिका तैयार कर ली जाती है जिसमें विभिन्न आपेक्षिक घनत्वों के ऐल्कोहलीय द्रवों में विभिन्न तापों पर ऐल्कोहल की प्रति शत मात्रा दी रहती है। अज्ञात ऐल्कोहलीय द्रव का आपेक्षिक घनत्व हाइड्रोमीटर से तथा ताप तापमापी से ज्ञात कर तालिका की सहायता से उस द्रव में उपस्थित ऐल्कोहल की प्रति शत मात्रा ज्ञात कर ली जाती है। कर लगाने की सुविधा के लिये एक निश्चित प्रति शत के ऐल्कोहलीय द्रव को प्रामाणिक मान लिया गया है; इसको प्रूफ़ स्पिरिट कहते हैं; इसमें मात्रा के अनुसार ४६·३% तथा आयतन के अनुसार ५७·१% ऐल्कोहल रहता है। अन्य ऐल्कोहलीय द्रवों की सांद्रता प्रूफ स्पिरिट के आधार पर व्यक्त की जाती है।

ऐल्कोहलीय किण्वीकरण में ऐल्कोहल के अतिरिक्त निम्नलिखित मूल्यवान् पदार्थ भी उपजात (बाइ प्रॉडक्ट) के रूप में प्राप्त होते हैं:

१. कारबन-डाइ-आक्साइड—किण्वीकरण के समय यह गैस अधिक मात्रा में निकलती है। साधारणतः इसे ठंढा कर ठोस में परिवर्तित करके शुष्क हिम के नाम से बाजार में बेचते हैं। इसका उपयोग बहुत ठंढक पैदा करने के लिये होता है।

२. एर्गाल या टार्टार—शक्करयुक्त पदार्थों का किण्वीकरण जिस पात्र में होता है उसकी भीतरी दीवारों पर एक मटमैले रंग की कड़ी पपड़ी जम जाती है। इसको एर्गाल या टार्टार कहते हैं। इसमें मुख्य रूप से पोटैसियम हाइड्रोजन टारटरेट रहता है जिससे टारटरिक अम्ल अधिक मात्रा में बनाई जाती है।

३. वाश के आसवन के प्रथम अंश ऐसिटैल्डिहाइड तथा दूसरे उड़नशील एस्टर होते हैं।

४. फ्यूज़ेल तेल—यह अधिक अणुभार वाले ऐल्कोहलों का मिश्रण होता है। इसमें से आइसो अमाइल ऐल्कोहल को प्रभाजित आसवन द्वारा पृथक् कर लेते हैं, क्योंकि यह एक उत्तम विलेयक है।

५. निर्जीव धोवन—आसवन द्वारा ऐल्कोहल को धोवन (वाश) में से अलग करने के बाद जो शेष द्रव तलछट के रूप में बच रहता है उसे निर्जीव धोवन कहते हैं। स्टार्चमय पदार्थों की चर्बी तथा प्रोटीन का अधिकांश भाग अविघटित रूप में निर्जीव धोवन में रहता है, इसलिये यह जानवरों के पौष्टिक चारे के लिये उपयोग में आता है।

उद्योग में एथिल ऐल्कोहल की उपयोगिता इसकी अत्युत्तम विलेयक शक्ति के कारण है। इसका उपयोग वार्निश, पालिश, दवाओं के घोल तथा निष्कर्ष, ईथर, क्लोरोफार्म, आयडोफार्म, कृत्रिम रंग, पारदर्शक साबुन, इत्र तथा फल की सुगंधों का निष्कर्ष तथा अन्य रासायनिक यौगिक बनाने में होता है। पीने के लिये विभिन्न मदिराओं के रूप में, घावों को धोने में जीवाणुनाशक के रूप में तथा प्रयोगशाला में घोलक के रूप में इसका उपयोग होता है। पीने की ओषधियों में यह डाला जाता है और मरे हुए जीवों को संरक्षित रखने में भी इसका उपयोग होता है। रेम्रान ऐसिटेट उद्योग के लिये ऐसीटिक अम्ल की पूर्ति मैंगनीज़ पराक्साइड तथा सल्फ्यूरिक अम्ल की उपस्थिति में ऐल्कोहल का आक्सीकरण करके होती है, क्योंकि यह क्रिया शीघ्र होती है और इससे ऐसीटिक अम्ल तथा ऐसिटाल्डिहाइड प्राप्त होते हैं। स्पिरिट लैंप तथा स्टोव में और मोटर इंजनों में पेट्रोल के साथ इसको ईंधन के रूप में जलाते हैं। इसके अधिक उड़नशील न होने के कारण मोटर को चलाने में कठिनाई न हो इस उद्देश्य से इसमें २५% ईथर या पेट्रोल मिलाते हैं। [बैं० ना० प्र०]

उद्योग में प्रतियोगिता

आर्थिक जीवन स्वतंत्रता में ही पनप सकता है। शासन का हस्तक्षेप, चाहे वह कितना ही सद्भावनात्मक क्यों न हो, आर्थिक विकास के लिये वांछनीय नहीं है। आर्थिक स्वतंत्रता के अंतर्गत आपसी प्रतियोगिता द्वारा उद्योगों का नियंत्रण स्वचालित रूप से हो जाता है तथा योग्यतम उत्पादक ही औद्योगिक क्षेत्र में रह पाते हैं।

प्रतियोगिता का नियम—त्रिकोणीय प्रतियोगिता—क्रेताओं के बीच आपसी प्रतियोगिता, विक्रेताओं के बीच आपसी प्रतियोगिता तथा क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच प्रतियोगिता—औद्योगिक नियंत्रण में सहायक

होती है। क्रेताओं के बीच आपसी प्रतियोगिता में वृद्धि होने पर मूल्य में वृद्धि होती है। मूल्य में वृद्धि होने पर लाभ में वृद्धि होती है। बढ़े हुए लाभ वर्तमान उत्पादकों को उत्पादन बढ़ाने तथा नए उत्पादकों को उत्पादन प्रारंभ करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। परिणामतः उद्योगपतियों में आपसी प्रतियोगिता बढ़ जाती है और मूल्य घट जाता है। मूल्य घटने पर अयोग्य उत्पादक औद्योगिक क्षेत्र छोड़ देते हैं और उत्पादन कम होने लगता है। उत्पादन कम होने पर मूल्य फिर बढ़ने लगता है। इस प्रकार प्रतियोगिता का चक्र चलता रहता है तथा योग्यतम उत्पादकों को ही औद्योगिक क्षेत्र में टिकने देता है। प्रतियोगिता न केवल अयोग्य उत्पादकों को बाहर कर देती है वरन् अन्य कुशल उत्पादकों को भी अपनी कार्यक्षमता एक आदर्श स्तर पर बनाए रखने को बाध्य करती है।

प्रतियोगिता का औचित्य—प्रतियोगिता का शाब्दिक अर्थ दो या अधिक व्यक्तियों वा समूहों द्वारा एक ही वस्तु या ध्येय को प्राप्त करने का यत्न है। औद्योगिक क्षेत्र में यह वांछित वस्तु क्रेताओं द्वारा किया जानेवाला क्रय है, जिसे प्राप्त करने का प्रत्येक उद्योगपति प्रयत्न करता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वह अपने प्रतियोगी की अपेक्षा उत्पादन व्यय कम करने का तथा अधिक उत्तम वस्तुओं के निर्माण का प्रयत्न करता है। वह अपने प्रतियोगी की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ तथा सेवाएँ प्रदान करने का भी यत्न करता है। संक्षेप में कहें तो वह अपनी कार्यक्षमता बढ़ाता है। यही औद्योगिक प्रतियोगिता का औचित्य है।

अनुचित प्रतियोगिता—कभी कभी उद्योगपति अपनी कार्यक्षमता को नहीं बढ़ाता, बल्कि विज्ञापन द्वारा अन्य उद्योगपतियों के ग्राहकों को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार अन्य उत्पादकों को औद्योगिक क्षेत्र से बाहर निकालने के उद्देश्य से वह अपनी वस्तुओं को उत्पादनव्यय से भी नीची कीमत पर बेचता है। ऐसा करने में उसका उद्देश्य यह होता है कि वह अन्य उत्पादकों का उत्पादन बंद हो जाने पर अपनी वस्तुओं को मनमानी कीमत पर बेच सके। इस प्रकार की प्रतियोगिता का औचित्य बहुत ही संदेहास्पद है।

प्रतियोगिता में बाधाएँ—सामाजिक परंपराएँ तथा शासन का नियंत्रण स्वतंत्र औद्योगिक प्रतियोगिता में बाधा उत्पन्न करते हैं। भारतवर्ष में कुछ धंधों का जातिविशेष द्वारा ही अपनाया जा सकना औद्योगिक प्रतियोगिता को सीमित कर देता है। कभी कभी राष्ट्र के हित को ध्यान में रखते हुए शासन भी उद्योगों का प्रारंभ करने या वस्तुओं का उपभोग करने पर नियंत्रण लगा देता है। उद्योगों का प्रमाणीकरण तथा उपभोग की वस्तुओं के मूल्य तथा परिमाण का नियंत्रण ऐसे कुछ उपाय हैं जो त्रिकोणीय औद्योगिक प्रतियोगिता के किसी न किसी पक्ष को नियंत्रित करते हैं।

प्रतियोगिता तथा आर्थिक नियोजन—आर्थिक नियोजन का उद्देश्य देश की शीघ्र आर्थिक प्रगति करना तथा साधनों के अपव्यय को रोकना है। प्रतियोगिता के अंतर्गत विकास की गति बहुत मंद होती है तथा साधनों का अपव्यय और श्रमजीवियों का शोषण होता है। अतः आर्थिक नियोजन के साथ औद्योगिक प्रतियोगिता को बहुत कुछ सीमित करना आवश्यक हो जाता है।

प्रतियोगिता में अनेक दोष होते हुए भी अनुभव यही प्रदर्शित करता है कि स्वतंत्र औद्योगिक प्रतियोगिता के अंतर्गत ही औद्योगिक कार्यक्षमता को उच्चतम स्तर पर बनाए रखा जा सकता है। [प्र० कु० से०]

उद्योतकर न्यायशास्त्र के आचार्य (६३५ ई०)। गौतम के न्यायशास्त्र पर वात्स्यायन का भाष्य था। बौद्ध दार्शनिक दिङनाग ने अपने प्रमाणसमुच्चय में इस भाष्य की बड़ी आलोचना की। उद्योतकर ने वात्स्यायन भाष्य पर वार्तिक लिखकर न्यायशास्त्र की दृष्टि से बौद्धों का खंडन किया। इनके वार्तिक पर वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका लिखकर बौद्धों के तर्कपंक से उद्योतकर की वाणी का उद्धार किया। [रा० पां०]

उद्रोध का अर्थ है 'रोक'। नदी के आर पार ऐसा बाँध या रोक जिसके कारण नदी में एक ओर जल का तल ऊँचा हो जाय और जिसके ऊपर से अतिरिक्त जल बह सके, उद्रोध (अंग्रेजी में वीयर, तामिल में अनई कट्टू) कहलाता है (देखें अनई कट्टू)। मछुए लोग नदी में मछली पकड़ने के लिये लकड़ियों की जो दीवार खड़ी कर लेते हैं वह भी कहीं कहीं वीयर ही कहलाती है। परंतु सामान्यतः इस शब्द का इंजीनियरी में ही प्रयोग होता है। जहाँ उद्देश्य यह रहता है कि जल को पूर्णतया या प्रायः पूर्णतया रोककर जलाशय बना लिया जाय वहाँ डैम या बराज शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसे हिंदी में बाँध या बँधारा कहते हैं। उदाहरणतः रेंड (रेणु) बाँध (रेहंड डैम) में बरसाती पानी रोक रखा जायगा। उद्रोधों की बनावट कई प्रकार की होती है और उनका निर्माण इंजीनियरी के सिद्धांतों पर निर्भर है। पृथुशीर्ष (ब्रॉड क्रेस्टेड), अर्थात् सपाट मुडेर के उद्रोध बहुधा ऐसे होते हैं कि उनके ऊपर से गिरता हुआ पानी कुछ दूरी तक एक सी ऊँचाई में बहकर नीचे गिरता है। इनके विभिन्न रूप और आकार होते हैं। एक और प्रकार का उद्रोध 'मापीय' (सपोलिटी) नाम से विख्यात है। इसके द्वारा पानी के बहाव की मात्रा नापी जाती है। जहाँ इसकी चौड़ाई संकुचित होती है वहाँ इसकी तलहटी अधिक ढालू (एक भाग पड़ी और चार भाग खड़ी के अनुपात में) कर दी जाती है। इस प्रकार चौड़ाई की कमी की पूर्ति अधिक गहराई से हो जाती है, और कहीं भी पानी आवश्यकता से अधिक ऊपर उठने नहीं पाता।

एक और प्रकार का उद्रोध आप्लावित उद्रोध (ड्राउंड वीयर), अर्थात् डूबा हुआ उद्रोध कहलाता है। इसके द्वारा पानी में एक उछाल (हाइड्रॉलिक जंप) पैदा हो जाती है और जिस ओर पानी बहकर जाता है उस ओर पानी की सतह पहलेवाली सतह से कुछ ऊँची हो जाती है, जिसके कारण पानी के बहाव में भी कुछ परिवर्तन हो जाता है। निमग्न उद्रोध (सबमर्ज्ड वीयर) भी इसी प्रकार के होते हैं। इनके द्वारा उस ओर जिधर पानी बहकर जाता है जल दूसरी ओरवाली सतह से काफी ऊँचा उठ जाता है। पानी की मात्रा की माप के लिये तीक्ष्णशीर्ष उद्रोध (शार्पक्रेस्टेड वीयर) अर्थात् धारदार उद्रोध काम में आते हैं। इनकी ऊपरी सतह की काट (सेक्शन) समतल या गोलार्ध या अन्य वक्र के आकार की होने की जगह पैनी धार के तुल्य होती है। यह धार बहुधा किसी धातु की होती है। जलाशयों में से, अथवा अन्य जलसंबंधी व्यवस्थाओं में से, अतिरिक्त जल के निकास के लिये परिवाह उद्रोध (वेस्ट वीयर) भी बनाए जाते हैं।

साधारण चौड़ी सपाट मुडेर का उद्रोध गंगा नदी पर नरौरा में बना हुआ है जहाँ से 'लोअर गंगा नहर' निकली है। यह उद्रोध ३,८०० फुट लंबा है और १८७८ ई० में बना था। उद्रोध उत्तर रेलवे के राजघाट नरोरा रेलवे स्टेशन से गंगा के बहाव की दिशा में ४ मील पर है। नदी की तलहटी के औसत स्तर से पानी को दस फुट की ऊँचाई पर रोकने के लिये यह उद्रोध बनाया गया है और इससे निम्न (लोअर) गंगा नहर में ५,६७० घन फुट जल प्रति सेकंड जाता है। अनुमान किया जाता था कि बाढ़ के समय जलस्तर तीन फुट और ऊँचा हो जायगा, जिससे २ लाख घन फुट प्रति सेकंड की निकासी होगी। परंतु १९२४ की बाढ़ में स्तर साधारण से सवा छः फुट ऊँचा हो गया और उद्रोध पर से ३,९०,००० घन फुट प्रति सेकंड जल पार हुआ। केवल उद्रोध के बनाने में १९,०३,८९५ रु० खर्च हुआ था, परंतु उद्रोध में बने जलद्वार के बनाने में ८,१५,५३१ रु० तथा बगली भीत बनाने में ९४,७३७ रु० अतिरिक्त व्यय हुआ। एक और उद्रोध का उदाहरण दिल्ली के समीप यमुना नदी पर ओखला में है, जहाँ से आगरा नहर का उद्गम हुआ है। ऐसे ही बहुत से उद्रोध भिन्न भिन्न नदियों पर बने हुए हैं और उनसे सिंचाई के लिये पानी का निकास हुआ है।

जहाँ नदी में उद्रोध बनाए जाते हैं वहाँ साथ ही ऐसा आयोजन भी किया जाता है कि यदि पानी को नदी में ही निकालने की आवश्यकता हो तो उद्रोध के निचले भाग में बने अधोद्वारों (अंडर-स्लूसेज) द्वारा निकाला जा सके। कभी कभी बाढ़ के समय उद्रोध के ऊपर से होकर पानी निकलता है और साथ ही नीचे के भागों द्वारा भी उसकी निकासी की व्यवस्था की जाती है। कहीं कहीं उद्रोध की पक्की दीवार के ऊपर पानी की कमी के समय तख्ते के पाट खड़े किए जाते हैं जिनके कारण पानी की सतह और भी ऊँची हो जाती है और इस प्रकार नहरों में पानी साधारण से अधिक मात्रा में पहुँचाया जा सकता है।

पानी के बहाव को उद्रोध द्वारा रोकना पानी के मार्ग में बाधा डालना है। पानी बाधाओं से बच निकलने का मार्ग ढूँढ़ता है और ऐसे मार्गों की

रोक थाम करना भी उद्रोध की अभिकल्पना (डिज़ाइन) के साथ विचार में रखा जाता है। फिर, यदि बाढ़ के समय पानी बहुत अधिक आ जाय तो उद्रोध तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश की स्थिरता पर क्या प्रभाव पड़ेगा इसपर भी ध्यान रखना आवश्यक है। [बा० ना०]

उन्नाब का मराठी तथा उर्दू में भी यही नाम है। हिंदी में इसे बनबेर भी कहते हैं। संस्कृत में इसे सौबीर तथा लैटिन में जिजिफस सैटिवा कहते हैं।

यह पौधा बेर की जाति का है और पश्चिम हिमालय प्रदेश, पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत, अफगानिस्तान, बलोचिस्तान, ईरान इत्यादि में पाया जाता है। इसकी झाड़ी काँटेदार, पत्ते बेर के पत्तों से कुछ बड़े तथा नुकीले, फल छोटी बेर के बराबर और पकने पर लाल रंग के होते हैं। उत्तरी अफगानिस्तान का उन्नाब सर्वोत्कृष्ट होता है।

इस ओषधि का उपयोग विशेषकर हकीम करते हैं। इनके मतानुसार इसके पत्ते विरेचक होते हैं तथा खाज, गले के भीतर के रोग और पुराने घावों में उपयोगी हैं। परंतु ओषधि के काम में इसका फल ही मुख्यतः प्रयुक्त होता है जो स्वाद में खटमीठा होता है। यह कफ तथा मूत्रनिस्सारक, रक्तशोधक तथा रक्तवर्धक कहा गया है। खाँसी कफ और वायु से उत्पन्न ज्वर, गले के रोग, यकृत और तिल्ली की वृद्धि में विशेष लाभदायक माना गया है। [भ० दा० व०]

उन्नाव भारतवर्ष में उत्तर प्रदेश राज्य की लखनऊ कमिश्नरी में स्थित एक जिला तथा एक नगर है। नगर कानपुर से १० मील उत्तर-पूर्व है। यहाँ की जनसंख्या सन् १९५१ ई० में २५,२४० थी।

उन्नाव जिला क्षेत्रफल में १,७६२ वर्ग मील है। यह गंगा के उत्तर दोमट मिट्टी का मैदान है। यह कई उपजाऊ खंडों में विभाजित है तथा इसके बीच बीच में उद्यान हैं। संपूर्ण क्षेत्र में छोटी छोटी नहरों का जाल बिछा हुआ है। ये नहरें सिंचाई के काम आती हैं। उपजाऊ खंडों के बीच बीच में बंजर तथा ऊसर भूमि भी है। जिले में गंगा ही ऐसी नदी है जिसमें यातायात संभव है। सई नदी इसकी उत्तर-पूर्वी सीमा पर है। जिले की जनसंख्या सन् १९५१ में १०,६७,०५५ थी। [श्या० सुं० श०]

उन्मत्तावंती (९३७-३९ ई०) यह कश्मीर के प्रसिद्ध उत्पल राजवंश का अंतिम औरस राजा था, अपने समूचे राजकुल में क्रूरतम। उसकी क्रूरता की कहानी इतिहासप्रसिद्ध है और उसका वर्णन कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में विशद रूप से किया है। क्रूरता के कार्य उसे असाधारण आह्लाद प्रदान करते थे। गर्भवती स्त्रियों के बच्चों को मार डालने में उसे असाधारण आनंद मिलता था। उसके पहले कश्मीर की दशा आंतरिक युद्धों और पदाधिकारियों की बेईमानियों से क्षतविक्षत हो रही थी। उन्मत्तावंती के पिता पार्थ ने विरक्त होकर जयंद्रविहार में रहना आरंभ किया था। अस्वाभाविक पुत्र उन्मत्तावंती ने विरक्त पिता की भी हत्या कर डाली और अपने सारे भाइयों को मरवा डाला। परंतु बहुत काल तक वह भी राज न कर सका और केवल दो वर्ष के क्रूर शासन के बाद राज्य का अधिकार उसके अनौरस पुत्र सूरवर्मन् के हाथ में चला गया। [ओं० ना० उ०]

उपकला (एपिथीलियम) एक अत्यंत महीन और चिकनी झिल्ली है जो शरीर के भीतरी समस्त अंगों के बाह्य पृष्ठों को आच्छादित किए हुए है। इसी का दूसरा रूप शरीर के कुछ खोखले विवरों के भीतरी पृष्ठ को ढके रहता है, जिसे अंतर्कला कहा जाता है।

उपकला शरीर का एक विशिष्ट ऊतक है जो अंगों का आच्छादन करके उनकी रक्षा करता है। इसके अक्षुण्ण रहने से जीवाणु भीतर प्रवेश नहीं कर पाते। यह कला समस्त पाचनप्रणाली, मुख से लेकर मलद्वार तक को, आच्छादित किए हुए है। यही कला इसके भीतरी पृष्ठ को आच्छादित करती हुई ग्रंथिक उपकला का रूप ले लेती है और प्रणाली की भित्तियों में घुसकर पाचक रसोत्पादक ग्रंथियाँ बन जाती है। शरीर में जितनी भी प्रणालियाँ या नलिकाएँ हैं, जैसे श्वासनाल तथा प्रणालिकाएँ, रक्तवाहिनियाँ, रसवाहिनियाँ आदि सब उपकला से आच्छादित हैं। इसकी कोशिकाएँ एक दूसरे के अत्यंत निकट रहती हैं। इसके विशेष प्रकार ये हैं: (१) शल्की उपकला, जिसकी कोशिका षट्कोणी या अष्टकोणी होती है। सारा चर्म इस प्रकार की उपकला से ढका हुआ है। (२) स्तंभाकार उपकला, जिसके कोषाणु स्तंभ के समान होते हैं। आमाशय तथा आंत्र का भीतरी पृष्ठ इसी उपकला से ढका हुआ है। (३) ग्रंथिक उपकला, जो आंत्र की भित्तियों में रक्तग्रंथियों में रूपांतरित हो जाती है। यह स्तंभाकार कला का ही एक रूप है। (४) रोमिकामय उपकला, जिसकी कोशिकाएँ स्तंभाकार उपकला के ही समान होती हैं, किंतु उनके चपटे सिरे से, जो प्रणाली की ओर रहता है, सूक्ष्म बाल सरीखे तंतु निकले रहते हैं। ये क्रिया करते समय उसी प्रकार लहराते हैं, जैसे खेत में लगे गेहूँ या जौ की बालें वायुप्रवाह से लहराती हैं। इस क्रिया का प्रयोजन प्रणाली में प्रविष्ट पदार्थों को बाहर निकालना होता है। यह उपकला समस्त वसा प्रणाली को भीतर से आच्छादित किए हुए है। (५) संवेदनिक उपकला, जिसका काम संवेदना को ले जाना है। यह भी स्तंभाकार उपकला का एक रूप है। भीतरी कर्ण, जिह्वा के स्वादकोष, तथा कहीं कहीं चर्म में, इस उपकला के कोशिका समूह मिलते हैं। [मु० स्व० व०]

उपचर्या रोगी की सेवाशुश्रूषा को कहते हैं। अंग्रेजी का नर्स शब्द नर्चर शब्द से निकला है जिसका अर्थ है पोषण। नर्स वह स्त्री होती है जो शिशु का पोषण करती है—माँ भी एक प्रकार से नर्स है, वह पुरुष भी नर्स है जो शिशुओं की अथवा रोगी की देखभाल करता है।

उपचर्या शब्द से क्रियाशीलता झलकती है। यह उपकार का काम है और ऐसे व्यक्ति के लिये किया जाता है जो स्वयं उसे अपने लिये नहीं कर सकता। यों तो उपचर्या एक व्यवसाय है, परंतु इसमें ऐसी चरित्रवान् स्त्रियों की आवश्यकता रहती है जो ईश्वरीय नियमों में दृढ़ निष्ठा रखती हों और जो सत्य सिद्धांतों पर अटल रहें तथा परिणाम की चिंता किए बिना, कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, वही करें जो उचित हो।

उपचर्या का इतिहास—उपचर्या का इतिहास वेदों के प्राचीन काल से आरंभ होता है, जब रुग्ण व्यक्ति की देखभाल तथा शुश्रूषा का कार्य समाज में बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था। चरक ने लगभग १,००० ई० पू० में लिखा था कि उपचारिका को शुद्ध आचरण की, पवित्र, चतुर और कुशल, दयावान, रोगी के लिये सब प्रकार की सेवा करने में दक्ष, पाकशास्त्र में गुणी, रोगी के प्रक्षालन तथा स्नान कराने, मालिश करने, उठाने तथा टहलाने में निपुण, बिछावन बिछाने और स्वच्छ करने में प्रवीण, तत्पर, धैर्यवान, रोग से पीड़ित की परिचर्या में कुशल और आज्ञाकारी होना चाहिए। यशस्वी यूनानी चिकित्सक हिप्पॉक्रेटीज़ (४६०-३७० ई० पू०), जिसे ओषधशास्त्र का पिता माना जाता है, रोगी की ठीक प्रकार से देखभाल की महत्ता जानता था, और वह यह भी भली भाँति जानता था कि अच्छी उपचर्या कैसे की जानी चाहिए। आरंभ कालीन ईसाई चर्चसंघ के समय स्त्रियाँ अपने घर द्वार छोड़कर रोगियों तथा संकटग्रस्त लोगों की सेवाशुश्रूषा करने अथवा उन्हें देखने भालने जाया करती थीं।

अर्वाचीन उपचर्या की नींव फ्लोरेंस नाइटिंगेल ने डाली। ये धनी घर की लड़की थीं, परंतु आलसी जीवन से असंतुष्ट होकर उन्होंने उपचर्या का अध्ययन किया और लंदन में रोगियों के लिये एक उपचर्या भवन खोला। १८५४ ई० में क्रीमिया में युद्ध छिड़ने पर और युद्धसचिव के कहने पर वे ३४ वर्ष की आयु में ही ३८ नर्सों के दल के साथ सेवाशुश्रूषा के लिये युद्धस्थल में गई थीं। स्वास्थ्य विज्ञान के सिद्धांतों को उन्होंने अस्पताल के प्रबंध में भी लागू किया और उसके लिये जो भी कठिनाइयाँ या अड़चनें उनके मार्ग में आईं उनका उन्होंने वीरता और समझदारी से निरंतर सामना किया, यहाँ तक कि मिलिटरी कमसरियट अधिकारियों के विरोध का भी उन्हें सामना करना पड़ा। वे यह समझने लगे थे कि मिस नाइटिंगेल भयानक आगंतुक हैं, जो सैनिक-व्यवस्था के अनुशासन को भंग करने के लिये आई हैं। परंतु उनके प्रबंध के फलस्वरूप बैरक के अस्पतालों में मृत्युसंख्या, जो पहले ४२ प्रति शत थी, घटकर जून, १८५५ में २ प्रति शत रह गई। फ्लोरेंस नाइटिंगेल क्रीमिया में १८५६ तक अर्थात् ब्रिटिशों द्वारा तुर्की खाली

उपचर्या (देखें पृष्ठ ८८)

उपचारिकाएं उपकरणों से परिचित हो रही हैं
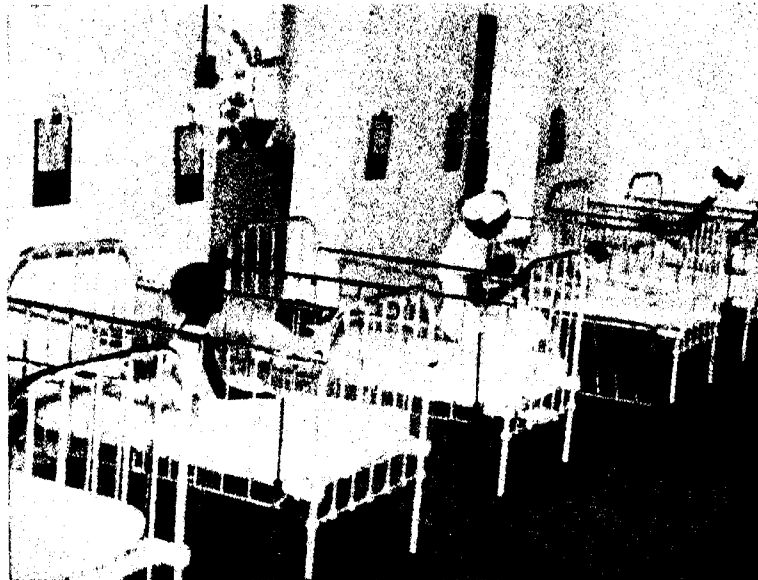
अस्पताल में रोगी बालकों की सेवा
(नर्सिंग जर्नल ऑव इंडिया के सौजन्य से प्राप्त)

उपचर्या (देखें पृष्ठ ८८)

उपचारिका के तत्वावधान में रुधिराधान (blood transfusion)

ग्राम में हैजे के रोगी बच्चे की उपचर्या
(नर्सिंग जर्नल ऑव इंडिया के सौजन्य से प्राप्त)

किए जाने तक रहीं। उन्होंने वहाँ जो काम किया वह उस युग की आश्चर्यजनक कहानी बन गया। लांगफेलो ने तो उस कथा को कविता में भी गाया। ब्रिटिश सरकार ने एक युद्धपोत को आदेश दिया कि वह उस वीर स्त्री को घर वापस लाए। लंदन ने इस महिला के राजसी स्वागत की तैयारियाँ कीं। किंतु शीलवश वह एक तेज फ्रांसीसी जहाज से घर लौटीं। वहाँ से इंग्लैंड गईं और अपने घर चुपचाप पहुँच गईं। उनके आने का समाचार उनके पहुँच जाने के बाद लोगों में फैला। सन् १८६० में उनके प्रयास से लंदन में नर्सों के लिये एक पाठशाला खुली, जो इस प्रकार की पहली पाठशाला थी।

भारत में उपचर्या के प्रथम शिक्षणालय मद्रास में सन् १८५४ में और बंबई में १८६० में खुले। १८८५ में लेडी डफरिन फंड की स्थापना हुई थी, जिसकी सहायता से कई अस्पतालों के साथ उपचर्या के शिक्षणालय खोले गए और उनमें भारत की स्त्री नर्सों के प्रशिक्षण का श्रीगणेश हुआ। अब तो देश के प्रायः सभी बड़े अस्पतालों में नर्सों के प्रशिक्षण की व्यवस्था है, जिनके द्वारा सामान्य उपचर्या के डिप्लोमा दिए जाते हैं। कुछ केंद्रों में धात्री कर्म (मिडवाइफ़री) के प्रशिक्षण और डिप्लोमा की भी व्यवस्था है। उपचर्या महाविद्यालयों में स्नातकों को बी० एस-सी० की उपाधि दी जाती है तथा मेट्रनों (=माता) और सिस्टर (=बहन) अनुशिक्षकों को वार्डनों के संबंध में संक्षिप्त शिक्षा (रिफ्रेशर कोर्स) की व्यवस्था की जाती है।

नर्सों के दायित्व—फ्लोरेंस नाइटिंगेल के समय से लेकर अब तक चिकित्सा विज्ञान में बहुत उन्नति हुई है, जिससे उपचर्या विज्ञान में भी आमूल परिवर्तन हो गए हैं। अब यह धार्मिक व्यवस्थापकों के प्रोत्साहन से संचालित एवं अनभिज्ञ व्यक्तियों द्वारा दया-दाक्षिण्य-प्रेरित सेवा मात्र नहीं रह गया है; अब तो यह आजीविका का एक साधन है, जिसके लिये विस्तृत वैज्ञानिक पाठ्यक्रम का अध्ययन और शिक्षण आवश्यक होता है। ऐसे अधिकांश पेशों से, जिनमें निजी कौशल तथा वैज्ञानिक प्रशिक्षण से सफलता मिल जाती है, इसमें विशेषता यह है कि सफल उपचारिका के लिये कौशल तथा समीचीन ज्ञान के अतिरिक्त प्रेम तथा करुणा का भाव, दुःख दर्द को शांत तथा दूर करने का उत्साह और माँ का सा हृदय भी चाहिए।

अपने रोगी के प्रति उपचारिका के दायित्व की आधुनिक भावना में केवल शारीरिक सुख देने, चिकित्सा करने तथा औषधोपचार के अतिरिक्त इसकी भी अपेक्षा रहती है कि उसे रोग का तथा वह रोग किसी रोगी को किस प्रकार प्रभावित करता है, इसका भी स्पष्ट ज्ञान हो। समय समय पर जो नवीन लक्षण उभरें उनके प्रति उसे अत्यंत सजग रहना चाहिए। किस प्रकार के उपचार से रोगी को लाभ होगा, इसका उसे ज्ञान होना चाहिए तथा प्रत्येक रोगी के लिये अलग अलग किस प्रकार की देखभाल अपेक्षित है तथा उसकी उपचर्या किस प्रकार की जाय, इन सबका उसे स्पष्ट पता होना चाहिए। नर्स को अपना दायित्व पूरी तरह निभाने के लिये अपने रोगियों की मनःस्थिति से भी परिचित होना आवश्यक है। रोगी की देखभाल करने में केवल रोग पर दृष्टि रखना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् रोगी को ऐसा व्यक्ति समझना चाहिए जो उपचारिका से यह अपेक्षा करता है कि वह उसे सुरक्षा दे, उसे समझे तथा उसपर ममता रखे।

अतः रोगों की रोकथाम में और उनसे पीड़ित लोगों की देखभाल में नर्स का योग बहुत ही महत्वपूर्ण रहता है। वह चिकित्सा के लिये सहायिका तथा सहयोगिनी है। उसके बिना चिकित्सक को रोगी की सहायता करने में भारी अड़चनें पड़ सकती हैं। कभी कभी तो वह डाक्टर से भी अधिक महत्व की हो जाती है।

आज व्यक्तिविशेष अथवा राष्ट्र के स्वास्थ्य को यथार्थतः उन्नत बनानेवाले चिकित्सा संबंधी सामाजिक तथा निरोधक कार्यक्रम में चिकित्सक के साथ साथ समुचित योग देकर नर्सें निस्संदेह क्रियात्मक योगदान करती हैं।

उपचर्या व्यवसाय में मुख्यतः स्त्रियाँ ही काम करती हैं। वे आज संतोषपूर्वक यह कह सकती हैं कि उनका काम संमानित काम है, क्योंकि उनका जीवन दूसरों का जीवन उपयोगी तथा सुखी बनाने में लगा रहता है। उनको इस व्यवसाय में स्वाभाविक रूप से आनंद और आत्मतोष मिलता है क्योंकि वे एक परदुःखापहारी तथा संमानपूर्ण काम में संलग्न रहती हैं।

नर्स की वर्दी—नर्सों को विशेष वस्त्र (वर्दी, समवेश) दिया जाता है। ऐसा स्वच्छता के लिये, उन्हें सुविधापूर्वक पहचानने के लिये तथा उनके वेशसौष्ठव के लिये किया जाता है। उनकी वर्दी औपचारिक पहनावा है; इसमें सफेद फ्राक, सफेद टोपी, एप्रन तथा पेटी और सफेद जूते तथा मोजे होते हैं। आभूषण के रूप में केवल घड़ी उनके पास रहती है। उपचर्या के बदलते रूप के अनुसार नई नर्सें सफेद फ्राक के स्थान पर सफेद साड़ी पहनना पसंद करती हैं। यह वेश सादा तो है ही, पहननेवालियों के लिये और जिनकी शुश्रूषा में वे लगी रहती हैं उनके लिये भी प्रभावोत्पादक होता है।

विशेष दक्षता—आधुनिक उपचर्या कार्य कई वर्गों में बाँटा जा सकता है। साधारणतः प्रत्येक नर्स एक वर्ग की विशेषज्ञ होती है। नर्सों के काम के बड़े बड़े वर्ग ये हैं: सामाजिक तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य उपचर्या, अस्पताल में उपचर्या, उद्योगक्षेत्रीय उपचर्या, धात्री उपचर्या तथा निजी चिकित्सा-क्षेत्र में उपचर्या। उपचर्या के कितने ही उपविभाग भी हैं, उदाहरणार्थ अस्पताल में चिकित्साप्रकार के अनुसार उपचर्या के विभाग और हो जाते हैं—बालक की उपचर्या, हृद्‌रोग उपचर्या, अस्थिकर्म उपचर्या, क्षय उपचर्या, गर्भ विषयक उपचर्या, सामान्य औषधोपचारिक तथा शल्य चिकित्सकी उपचर्या, मस्तिष्क रोगों की उपचर्या, छूत के रोगों की उपचर्या इत्यादि।

स्वस्थ राष्ट्र के निर्माण में नर्स को बहुत महत्वपूर्ण कार्य करना पड़ता है। रोग की अनुपस्थिति को ही स्वास्थ्य नहीं कहते, स्वास्थ्य तो निश्चित रूप से रहने का अर्थात् उस स्थिति का नाम है जिसमें पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक हृष्टता हो। रोगी को अस्पताल में स्वास्थ्यलाभ करने के उपरांत पुनः पहले जैसे अस्वच्छ वातावरण में ही लौटा देना स्वस्थ राष्ट्र के निर्माण की दिशा में कोई प्रगति नहीं मानी जा सकती। चतुर्दिक् स्वस्थता की भावना नर्सों को लोगों तक पहुँचानी पड़ेगी और उन्हें यह समझाना पड़ेगा कि यदि स्वच्छता रखी जाय तो दुःख का अधिकांश भाग अपने आप दूर हो जायगा। नर्सें ही लोगों को स्वस्थ जीवन व्यतीत करने का मार्ग अच्छी तरह बता सकती हैं। उन्हें रोगी और उसके परिवार को उन बातों की शिक्षा और बुद्धि देनी चाहिए जिससे वे नर्स के बिदा हो जाने के बाद भी अपना घर द्वार अच्छा रख सकें।

बालक उपचर्या की नर्स को नए आगंतुक का प्रायः संपूर्ण दायित्व उठाना पड़ता है और इसीलिये उसे बालक के जन्म लेने पर अपना काम नहीं आरंभ करना होता, वरन् उसका काम उसके जन्म से नौ महीने पहले से ही आरंभ हो जाता है। जन्म से पूर्व, जन्म के समय, शैशव, बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था में, वह जैसे भी और जहाँ भी हो, घर में, स्कूल में, अस्पताल में, गली में, मैदान में, सभी जगह उसे बालक की सँभाल करनी पड़ती है। उसे माता पिता की सहायता करनी होती है और यह देखना होता है कि बालक सभी कठिनाइयों को पार कर जाय। उसे शिक्षक, परामर्शदाता तथा मित्र की हैसियत बरतनी होती है। बालक उपचर्या की प्रत्येक नर्स को बच्चों की देखभाल के विशेष ज्ञान और अधिक कौशल की आवश्यकता होती है ताकि वह उनकी वैज्ञानिक उपचर्या कर सके।

बच्चे के लिये वह समय सबसे अधिक संकट का होता है जब उसे अस्पताल में लाया जाता है। वह अपनी माँ को छोड़कर एक नए संसार में पहुँचता है, जहाँ वह यह नहीं जानता कि उसके साथ क्या किया जानेवाला है। उसका क्षुब्ध मानसिक संतुलन तथा विकल मनोवेग उसे बीमारी से कहीं अधिक संत्रस्त करते हैं। ऐसी दशा में औषधोपचार से भी बढ़कर अस्पताल में उसकी निजी देखभाल का महत्व है। बालक उपचर्या की नर्स का ही यह मुख्य कार्य होता है कि वह बच्चे का विश्वास प्राप्त कर ले और उसे सब बातें पहले से ही साफ साफ बता दे जिससे वह चिकित्सक द्वारा चिकित्सा तथा होनेवाले कार्यों के लिये तैयार हो जाय। बच्चे को पहले से बिना बताए ही यदि आकस्मिक रूप में कुछ किया जाता है तो वह निश्चय ही उसका विरोध करता है।

हृद्‌रोग उपचर्या की नर्स के विशेष उत्तरदायित्व होते हैं और वैसा ही उसका प्रशिक्षण होता है। हृदय के बहुत से रोगी आरंभिक पीड़ा शांत हो जाने के उपरांत अपने रोग के संबंध में आवश्यक सावधानी नहीं बरतते। जो नर्स रोगी का उल्लेखनीय विश्वास तथा अपने ऊपर पूर्ण निर्भरता प्राप्त कर ले, जो रोगी की शारीरिक मुद्राओं का अभिप्राय समझे

जो अपनी रहन सहन को इस प्रकार ढाल सके कि रोगी को परेशानी न हो, वही नर्स हृदुपचर्या के लिये योग्य और सफल सिद्ध हो सकती है।

मानसिक रोगियों की सँभाल के लिये नर्स में बहुत अधिक कौशल की अपेक्षा होती है। रोगियों के बीच नर्स को बहुत सावधानी से अपना काम करना पड़ता है। उसका व्यवहार और उसकी आत्मीयतापूर्ण देखभाल निश्चय ही रोगी के लिये किसी भी ओषधि से अधिक उपयोगी होती है। नर्स को रोगी के संबंध में प्रत्येक प्रकार का ज्ञान होना चाहिए और उन बातों का तो उसे अवश्य ही भली प्रकार पता होना चाहिए, जिससे रोगी का मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। रोगियों के साथ उसे धैर्य, सहानुभूति और कौशल से इस प्रकार व्यवहार करना पड़ता है, मानो वे उसके मित्र और प्रियजन हों, क्योंकि मानसिक रोगी साधारण सी बात से ही उद्विग्न हो उठते हैं और थोड़ी सी भी उद्विग्नता चिकित्सा और उपचार से हुए समस्त लाभ को एक क्षण में नष्ट कर सकती है।

ये नर्सों की विशेष दक्षता के कुछ उदाहरण हैं। प्रत्येक विशेष क्षेत्र में नर्स के कुछ विशेष कर्तव्य रहते हैं। उसकी उपचर्या का लाभ तभी हो सकता है जब उसे स्थिति का संपूर्ण ज्ञान हो। किंतु स्थिति चाहे जैसी हो, जब नर्स को उसका दायित्व सौंप दिया जाता है तो उसे माता और मित्र के समान तथा डाक्टर के निर्देशों के अनुसार रोगी की शुश्रूषा करनेवाले सच्चे सेवक की भाँति काम करना पड़ता है। [कृ० स० मा०]

उपनयन हिंदुओं के स्मार्त संस्कारों में से एक संस्कार उपनयन है। 'उपनयन' का अर्थ है विद्याभ्यास और नैतिक विनय के लिये पिता अथवा उसके अभाव में किसी अभिभावक द्वारा बालक को 'आचार्य के समीप ले जाना'। यह मुख्यतः शैक्षणिक संस्कार है। इसके माध्यम से बालक जातीय ज्ञान और आचार विचार में दीक्षित होकर सामाजिक कर्तव्यों का पालन करने के योग्य बनता है। यह एक प्रकार से बालक का दूसरा जन्म है। माता पिता से बालक का भौतिक जन्म होता है। आचार्य से उसका बौद्धिक तथा नैतिक। उपनयन से संस्कृत बालक की संज्ञा 'द्विज' (दो जन्मवाला) होती है। उपनयन के लिये बालक की अवस्था वर्णक्रम से ब्राह्मण के लिये पाँच वर्ष, क्षत्रिय के लिये छः, वैश्य के लिये आठ वर्ष श्रेष्ठ मानी जाती है। इसी प्रकार अंतिम अवस्था क्रमशः सोलह, बाईस और चौबीस वर्ष है। अंतिम अवस्था तक उपनयन न होने से बालक 'व्रात्य' (समाज से पतित और बहिष्कृत) हो जाता है और व्रात्यष्टोम द्वारा शुद्ध होकर ही पुनः समाज में प्रवेश के लिये अधिकारी हो सकता है। उपनयन में आचार्य का चुनाव बहुत ही महत्वपूर्ण माना गया है; वह उच्च कोटि का विद्वान् और चरित्रवान् होना चाहिए। जिसका उपनयन अविद्वान् करता है वह अंधकार से और अधिक अंधकार में प्रवेश करता है (तमसो वा एष तमः प्रविशति यमविद्वानुपनयते। श्रुति)। शौनक के अनुसार बालक का उपनयन बहुश्रुत, कुलीन, शीलवान् और तपस्वी द्विजश्रेष्ठ ही कर सकता है। आचार्य पद के लिये वृत्तिहीन का वरण नहीं करना चाहिए; मज्जा से अपवित्र हाथ रक्त से शुद्ध नहीं होता (न याजयेत् वृत्तिहीनं वृणुयाच्च न तं गुरुम्। नहि मज्जाकरौ दिग्धौ रुधिरेण विशुध्यतः ॥ हारीत)।

उपनयन संस्कार के लिये उपयुक्त ऋतु और समय का चुनाव आवश्यक है। ब्राह्मण बालक के लिये वसंत ऋतु, क्षत्रिय के लिये ग्रीष्म, वैश्य के लिये शरत् और रथकार (=शिल्पी) के लिये वर्षा उपयुक्त मानी गई है, (बौधायन गृह्यसूत्र, २-५-६)। ये ऋतुएँ वर्णगत स्वभाव के प्रतीक हैं। संस्कार के बहुत से आनुषंगिक और आवश्यक अंग हैं। उपनयन के एक दिन पहले से बालक संस्कार के लिये तैयार किया जाता है। घर में श्री, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा और सरस्वती की पूजा होती है। दूसरे दिन प्रातःकाल माता के साथ और साथियों के सहित अंतिम भोजन करता है। इसके पश्चात् स्नान से पवित्र होकर बालक उपनयन के लिये प्रस्तुत होता है। तब उसको कठोर ब्रह्मचारी जीवन के उपकरण दिए जाते हैं। सबसे पहले शरीर के गुप्त अंग ढकने के लिये कौपीन, फिर कौपीन बाँधने के लिये नैतिक प्रतीक मेखला, यज्ञ का प्रतीक ब्रह्मसूत्र (जनेऊ), विस्तर के लिये अजिन (मृगचर्म), भयनिवारण और संयम का प्रतीक दंड प्रदान किया जाता है। इसके पश्चात् कतिपय प्रतीकात्मक कृत्य होते हैं। इनमें सर्वप्रथम हृदयस्पर्श है। ब्रह्मचारी का हृदयस्पर्श करते हुए आचार्य कहता है, "मैं अपनी इच्छाशक्ति में तुम्हारा हृदय धारण करता हूँ" (पारस्कर गृह्यसूत्र, २-२-१८)। इसके पश्चात् अश्मारोहण होता है जो आचार में दृढ़ता का द्योतक है। दृढ़ता का आश्वासन पाकर आचार्य ब्रह्मचारी को अपने संरक्षण में लेता और उससे पूछता है, "तुम्हारा क्या नाम है?" ब्रह्मचारी उत्तर देता है, "मैं अमुक हूँ।" आचार्य पूछता है, "तुम किसके छात्र हो?" ब्रह्मचारी कहता है, "आपका"। आचार्य समाधान करता है, "तुम इंद्र के ब्रह्मचारी हो; अग्नि तुम्हारा गुरु है; मैं तुम्हारा आचार्य हूँ।" इसके अनंतर आचार्य ब्रह्मचारी को आचार संबंधी आदेश देता है। तदुपरांत सर्वप्रसिद्ध सावित्री (गायत्री) मंत्र का उपदेश करता है : "सविता (सबको उत्पन्न करनेवाले) के सर्वश्रेष्ठ प्रकाश का हम ध्यान करें; वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे।" गायत्री मंत्र के उपदेश के पश्चात् ज्ञान और तपस्या के प्रतीक पवित्र अग्नि को नित्य हवन के लिये प्रदीप्त करता है। उपनीत ब्रह्मचारी को अपना पोषण समाज में भिक्षाचरण के द्वारा करना चाहिए। आजकल उपनयन के दिन केवल औपचारिक रूप से ब्रह्मचारी भिक्षा माँगता है। संस्कार में जो परवर्ती परिवर्तन हुआ है उसके अनुसार एक और अभिनय होता है। ब्रह्मचारी विद्याध्ययन के लिये काशी अथवा काश्मीर जाने का स्वाँग करता है। उसके मामा वा बहनोई उसको विवाह का प्रलोभन देकर वापस लाते हैं।

इस संस्कार के अंत में त्रिरात्र व्रत का अनुष्ठान होता है। यह व्रत तीन रात्रि के बदले कभी बारह दिन अथवा बारह मास तक चलता है। आधुनिक युग में तो यह विधान मात्र है; इसका पालन नहीं होता। किंतु नियमतः ब्रह्मचारी का कठोर जीवन यहीं से प्रारंभ होता है। इस व्रत का अवसान मेधाजनन नामक कृत्य में होता है। मेधाजनन का उद्देश्य है, ब्रह्मचारी में मेधा अथवा प्रतिभा उत्पन्न करना। इस संबंध में शौनक का कथन है, "जगत् को धारण करनेवाली सावित्री (सूर्य की पुत्री) स्वयं मेधारूपिणी है; विद्या में सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले द्वारा मेधा पूजनीया है (या सावित्री जगद्धात्री सैव मेधास्वरूपिणी। मेधा प्रसिद्धये पूज्या विद्या सिद्धिमभीप्सिता ॥ शौनक)।

शैक्षणिक परिस्थितियों के बदलने के कारण उपनयन के प्रयोजनों और आदर्शों में भी परिवर्तन होता आया है। आजकल यह संस्कार औपचारिक रूप में ही सुरक्षित है। परंतु प्राचीन काल में यह वास्तविक था और ब्रह्मचर्याश्रम के प्रारंभ में एक बहुत ही अनुकूल वातावरण उत्पन्न करता था। संसार के सभी धर्मों और जातियों में यह संस्कार किसी न किसी रूप में पाया जाता है। परंतु जहाँ अन्यत्र किसी न किसी शारीरिक कार्य—अंगच्छेदन, बलपरीक्षा आदि—के बिना जाति के अधिकारों में प्रवेश पाना असंभव है, हिंदुओं में जातीय जीवन में प्रवेश के लिये प्रवेशपत्र शैक्षणिक है। (विस्तृत विवरण के लिये 'संस्कार' देखिए)।

सं०ग्रं०—म० म० पी० वी० काणे : हिस्ट्री आव हिंदू धर्मशास्त्र; राजबली पांडेय : हिंदू संस्कार : सामाजिक धार्मिक अध्ययन; श्रीमती स्टेवेंसन : राइट्स ऑव दि ट्वाइस बॉर्न। [रा० ब० पां०]

उपनिवेश (कालोनी) किसी राज्य के बाहर की उस दूरस्थ बस्ती को कहते हैं जहाँ उस राज्य की जनता निवास करती है। किसी पूर्ण प्रभुसत्ता संपन्न राज्य (सावरेन स्टेट) के लोगों के अन्य देश की सीमा में जाकर बसने के स्थान के लिये भी इस शब्द का प्रयोग होता है। इस अर्थ में अधिकतर यूरोपीय देशों के 'उपनिवेश' लंदन में स्थित हैं। परंतु साधारणतः अधिक संकुचित अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग होता है, विशेषकर निम्नलिखित दशाओं में : (क) एक राज्य के निवासियों की अपने राज्य की भौगोलिक सीमाओं के बाहर अन्य स्थान पर बसी बस्ती को तब उपनिवेश कहते हैं, जब वह स्थान उस राज्य के ही प्रशासकीय क्षेत्र में आता हो, अथवा (ख) कोई स्वतंत्र राष्ट्र, जो किसी अन्य (प्रधान) राष्ट्र की राष्ट्रीयता, प्रशासन, तथा आर्थिक एकता से घनिष्ट संबंध रखता हो। उदाहरणार्थ, प्रथम श्रेणी के अंतर्गत त्यूतनिक उपनिवेश हैं जो वाल्टिक प्रांतों में स्थित हैं तथा इसी प्रकार के उपनिवेश बालकन प्रायद्वीप में भी

हैं। दूसरी श्रेणी के उपनिवेश—और यही अधिक प्रचलित प्रयोग है—अफ्रीका अथवा आस्ट्रेलिया में अंग्रेजों के हैं।

उपनिवेश बनाने अथवा बसाने की प्रवृत्ति तथा ढंग अनेक प्रकार के हैं, जैसे, राज्य की सीमा बढ़ाने का लोभ, व्यापार बढ़ाने की इच्छाएँ, धन-वृद्धि का लोभ, दुष्कर कार्य करने की प्रवृत्ति, बढ़ती हुई जनसंख्या के भार को कम करने की इच्छा, राजनीतिक पदलोलुपता, विवशता, विद्रोहियों को देश से दूर रखने तथा प्रधानतः सांघातिक एवं भीषण अपराधियों को देश से निष्कासित करने की आवश्यकता आदि मुख्य कारण ही उपनिवेश-वाद को प्रोत्साहन देते रहे हैं। साधारण रूप में यह एक प्रवासी प्रवृत्ति का ही विकसित रूप है तथा उपनिवेश को एक प्रकार से प्रवासियों का स्थायी तथा व्यवस्थित रूप कहा जा सकता है। [श्या० सुं० श०]

इतिहास—उपनिवेशों की स्थापना ने विभिन्न समयों एवं क्षेत्रों में विभिन्न रूप धारण किए हैं। फिनीशियाइयों द्वारा भूमध्यसागर के तटवर्ती भागों में स्थापित उपनिवेश अपनी मातृभूमि के व्यापारकेंद्रों के रूप में कार्य करते थे। विभिन्न ग्रीक समुदायों को उपनिवेश की स्थापना करने के लिये आर्थिक समस्याओं ने बाध्य किया जो सब, एथेंस के उपनिवेशों को छोड़कर, मातृभूमि से स्वतंत्र थे। रोम ने साम्राज्यरक्षा के लिये अपने नागरिकों के छोटे छोटे उपनिवेशों की स्थापना विजित विदेशियों के बीच की थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया के भूभाग भारतीय बस्तियों से भरे पड़े थे, किंतु हिंदेशिया ऐसे क्षेत्र, जो किसी समय बृहद् भारत के अंग थे, मातृभूमि से सर्वथा स्वतंत्र थे।

१४वीं शताब्दी तथा उसके अनंतर यूरोप एशिया से आगे बढ़ गया तथा वाणिज्य एवं अन्वेषण द्वारा अटलांटिक, हिंद और प्रशांत महासागरों के आर पार उसने अपना अधिकार बढ़ा लिया। १६वीं शताब्दी में मध्य तथा दक्षिण अमेरिका में स्पेन के साम्राज्य की स्थापना हुई। पुर्तगाल ने ब्राजील, भारत के पश्चिमी समुद्रतट तथा मसालोंवाले पूर्वी द्वीपसमूहों में अपना अड्डा जमाया। इन्हीं का अनुकरण कर, फ्रांस, इंग्लैंड एवं हालैंड ने उत्तरी अमेरिका तथा पश्चिमी द्वीपसमूह में उपनिवेशों की तथा अफ्रीका के समुद्रतट पर, भारत तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में व्यापारिक केंद्रों की स्थापना की। डेनमार्क तथा स्वीडन निवासी भी, इन लोगों से पीछे नहीं रहे। किंतु मुख्य औपनिवेशिक शक्तियाँ इंग्लैंड, फ्रांस तथा हालैंड की ही सिद्ध हुईं। इन तीनों के साम्राज्य में 'सूर्य कभी नहीं अस्त होता था' तथा एशिया और अफ्रीका, मानव सभ्यता के आदि देश, के अधिकांश भागों पर, इनका अधिकार हो गया।

औद्योगिक क्रांति तथा आर्थिक रीतियों के नवीनतम रूपों के ढूँढ़ निकालने के साथ ही पश्चिम के राष्ट्रों में साम्राज्य के लिये छीना झपटी चलती रही। यह एक लंबी कहानी है जिसका वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता। किंतु इसका ज्ञान आवश्यक है कि जहाँ कहीं भी विस्तार की संभावना थी, पूँजीवाद अपने नए साम्राज्यवादी रूप में सामने आया। इसीलिये जर्मनी, १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, संसार में अपने अस्तित्व के लिये भूमि चाहता था, अर्थात् दूसरे शब्दों में, उपनिवेश की लूट खसोट में हिस्सा बँटाना चाहता था। इटली ने भी इस दौड़ में भाग लिया। रूस, सारे उत्तरी तथा मध्य एशिया में फैलकर, ब्रिटेन को भयभीत करने लगा। संयुक्त राज्य अमरीका तक प्रत्यक्ष रूप से, जैसे फिलीपाइंस में तथा अन्य बहुत से क्षेत्रों पर, अप्रत्यक्ष रूप से शासन करने लगा। जापान ने पश्चिमी साम्राज्यवादियों से शिक्षा प्राप्त की तथा पहले कोरिया फिर संपूर्ण पूर्वी एशिया पर, अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहा। महान् देश भारत, जो अंग्रेजों के प्रत्यक्ष अधिकार में था, तथा चीन, जो नाममात्र के लिये स्वतंत्र किंतु वस्तुतः कई शक्तियों की गुलामी में जकड़ा हुआ था, उपनिवेश प्रथा के मूर्त उदाहरण हैं। इतिहास के इस रूप की अन्य विशेषताएँ अफ्रीका के भीतरी भागों में प्रवेश, लाभदायक दासव्यापार की विभीषिका, उसकी भूमि का बँटवारा और प्रतिस्पर्धी साम्राज्यवादियों द्वारा उसके साधनों का निर्दय शोषण आदि हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भौगोलिक अनुसंधान तथा उपनिवेशों की स्थापना के लिये बहुत से लोगों में दुस्साहसिक कार्य के प्रति अनुराग तथा इसकी क्षमता आवश्यक थी, किंतु उपनिवेशस्थापन के पीछे दुस्साहस ही प्रमुख शक्तिस्रोत के रूप में नहीं था। व्यापारिक लाभ सबसे बड़ा कारण था तथा राज्यविस्तार के साथ व्यापार का विस्तार होने के कारण क्षेत्रीय विजय आवश्यक थी। बहुधा दूरस्थ उपनिवेशों के लिये यूरोप में युद्ध होते थे। इस तरह हालैंड ने पुर्तगाल को दक्षिण-पूर्वी एशिया के पूर्वी द्वीपसमूह से निकाल बाहर किया। इंग्लैंड ने कैनाडा, भारत तथा अन्य स्थानों से फ्रांस को निकाल बाहर किया। जर्मन युद्धविशेषज्ञ फान मोल्तके ने एक बार कहा था कि "पूर्वी बाजार ने इतनी शक्ति संचय कर ली है कि वह युद्ध में सैन्य संचालन करने में भी समर्थ है।" जब मैक्सिम द्वारा बंदूक का प्रसिद्ध आविष्कार हुआ, अन्वेषक स्टैन्ली (जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती डा० लिविंग्स्टन का पता अफ्रीका में लगाया) ने कहा था, "यह एक आग्नेयास्त्र है जो मूर्तिपूजकों को दबाने में अमूल्य सिद्ध होगा।" साम्राज्य के समर्थकों, (यथा रुडयार्ड किपलिंग) द्वारा "श्वेतों की जिम्मेदारी" के रूप में एक पुराण-रुड दर्शन (मिथ्) ही प्रस्तुत कर लिया गया। 'नेटिव' शब्द का प्रयोग "नियम-रहित निम्नतर जाति" जिनका भाग्य ही श्वेतों द्वारा शासित होना था, के अपमानजनक अर्थ में होने लगा।

विकासशील पूँजीवादी शक्तियों को विस्तार एवं संचय के लिये निकास की आवश्यकता थी। अविकसित देशों के कच्चे मालों की उन्हें आवश्यकता थी। उन्हें ऐसे देशों की आवश्यकता अपने उत्पादित मालों के बाजार के रूप में भी, और ऐसे क्षेत्रों के रूप में थी जहाँ अतिरिक्त पूँजी लगाई जा सके तथा उससे अकल्पित लाभ, अधीन देशों के मजदूरों का सरलता से शोषण हो सकने के कारण, निश्चित किया जा सके। प्रत्येक शक्तिस्रोत ऐसे क्षेत्रों के एकमेव संनियंत्रक और एकाधिकारी होना चाहते थे। कभी कभी उपनिवेश खरीदे भी गए, कभी तलवार के बल तथा धोखे से, जैसे भारत में, जीते गए, कभी ऋण वसूलनेवाले अभियान का अंत, अधिकार के रूप में हुआ, कभी धर्मप्रचारकों के ऊपर आक्रमण अथवा हत्या ही, जैसे चीन में, विदेशी बस्ती की स्थापना का कारण बतलाई गई। कारण शक्तियों के बीच उपनिवेश के लिये आपसी स्पर्धा एवं ईर्ष्या के विभिन्न असंख्य युद्ध विश्वयुद्ध से भी दुगुने व्यापक रूप में हुए हैं।

१९वीं शताब्दी में, उपनिवेशों की स्वतंत्रता का आंदोलन प्रारंभ हुआ तथा कनाडा ऐसे 'श्वेत' उपनिवेशों ने, स्वशासन का अधिकार प्राप्त कर लिया। किंतु इससे यह सोचना गलत होगा कि सब ब्रिटिश उपनिवेशों का अंत, धीरे धीरे अहिंसात्मक संघर्ष अथवा अन्य विधियों द्वारा होकर, भारत ऐसे देशों की स्वतंत्रता प्राप्त हुई। अभी भी ब्रिटेन साइप्रस तथा केनिया ऐसे क्षेत्रों में कट्टरता के साथ जमा हुआ है। अलजीरिया पर अपना नियंत्रण बनाए रखने के लिये फ्रांस औपनिवेशिक युद्ध में संलग्न है तथा पुर्तगाल गोआ छोड़ने से इनकार कर रहा है। वस्तुतः औपनिवेशिक आकांक्षाएँ अभी भी किसी प्रकार मृत नहीं हैं तथा एशिया एवं अफ्रीका में, अंतर्राष्ट्रीय दाँव घातों में स्पष्टतः लक्षित हैं। इन्हीं छलप्रपंचों के विरुद्ध एशिया तथा अफ्रीका के राष्ट्रों द्वारा पंचशील का प्रायः समर्थन किया जाता है, जिसकी घोषणा बांडुंग संमेलन (१९५५) में की गई थी। स्वशासन का स्थान ले सकने योग्य कोई अन्य समतुल्य व्यवस्था राजनीति में नहीं है और आज उपनिवेश तथा उपनिवेशवाद पूर्णतः असामयिक तथा अग्राह्य हो चुके हैं। [ही० ना० मु०]

उपनिषद्

उपनिषद् उपनिषद् भारतीय तत्वज्ञान तथा धर्म का वह मूल स्रोत है जहाँ से नाना ज्ञानधाराएँ प्रवाहित होती हैं। उपनिषद् वेद का अंतिम भाग है और साथ ही वेद के मौलिक रहस्यों का प्रतिपादक भी और इसीलिये वह 'वेदांत' के नाम से भी प्रख्यात है। वैदिक धर्म के मौलिक सिद्धांतों के प्रतिपादक तीन प्रमुख ग्रंथ माने जाते हैं जो 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से सुविख्यात हैं। इसमें उपनिषद् ही मुख्य हैं, क्योंकि इसके अन्य दोनों ग्रंथ, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषदों के ऊपर आश्रित होने के कारण ही इतने मान्य समझे जाते हैं। उपनिषदों को प्रातिभ-चक्षु-संपन्न भारतीय मनीषियों की विमल प्रतिभा तथा अपरोक्ष दृष्टि से साक्षात्कृत आध्यात्मिक तथ्यों की विशाल राशि कहा जा सकता है।

१७वीं सदी में दाराशिकोह ने अनेक उपनिषदों का मूल संस्कृत से फारसी में अनुवाद कराया था तथा १९वीं सदी के मान्य जर्मन तत्ववेत्ता

शोपेनहावर ने अपनी गुरुत्रयी में अफ़लातून तथा कांट के साथ ही उपनिषदों को स्थान दिया और अपने दार्शनिक तत्वों का प्रासाद इन्हीं के आधार पर खड़ा किया। आजकल समस्त सभ्य भाषाओं में उपनिषदों के अनुवाद, व्याख्यान तथा अनुशीलन सैकड़ों की संख्या में उपलब्ध हैं।

नाम तथा संख्या—उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु से निष्पन्न होता है। सद् धातु के तीन अर्थ होते हैं : विवरण=नाश होना, गति=पाना या जानना तथा अवसादन=शिथिल होना। उपनिषद् मुख्यतः 'ब्रह्मविद्या' का द्योतक है, क्योंकि इस विद्या के अभ्यास से मुमुक्षुजनों की संसार उत्पन्न करनेवाली अविद्या नष्ट हो जाती है (विवरण), वह ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है (गति), जिससे मनुष्यों के गर्भवास आदि सांसारिक दुःख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं (अवसादन)। गौण रूप में उपनिषद् ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रंथों का वाचक माना जाता है। फलतः उपनिषद् वे तत्वप्रतिपादक ग्रंथ हैं जिनके अभ्यास से मनुष्य को 'ब्रह्म' तथा परमात्मा का साक्षात् अनुभव प्राप्त होता है।

उपनिषदों की पूर्ण संख्या के निश्चय में मतभेद है। 'मुक्तिकोपनिषद्' (प्रथम अध्याय) में उपलब्ध उपनिषदों की संख्या १०८ बतलाई गई है जिनमें १० उपनिषद् ऋग्वेद से संबद्ध हैं, १९ शुक्लयजुर्वेद से, ३२ कृष्णयजुर्वेद से, १६ सामवेद से तथा ३१ अथर्ववेद से। नारायण, नृसिंह, रामतापनी तथा गोपाल—इन चार उपनिषदों में पूर्व तथा उत्तर भेद से दो-दो खंड हैं। इस प्रकार उपनिषदों की संख्या ११२ है। अडयार लाइब्रेरी (मद्रास) ने लगभग ६० नवीन उपनिषदों का एक संग्रह प्रकाशित किया है जिसमें छागलेय, वाष्कल, आर्षेय तथा शौनक नामक चार उपनिषदों का भी समावेश है जो दाराशिकोह के अध्यवसाय से फारसी में अनूदित हुए थे। विषय की गंभीरता तथा विवेचन की विशदता के कारण १३ उपनिषद् विशेष मान्य तथा प्राचीन माने जाते हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, (५) मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य, (१०) बृहदारण्यक, इन दस के ऊपर आदि शंकराचार्य ने अपने भाष्य का निर्माण किया। इनके अतिरिक्त श्वेताश्वतर, कौषीतकि तथा मैत्रायणी उपनिषद् भी शंकर के द्वारा प्रमाण कोटि में रखे जाने तथा शारीरिक भाष्य में उद्धृत किए जाने के कारण प्रामाणिक माने जाते हैं। अन्य उपनिषद् तत्तद् देवता विषयक होने के हेतु तांत्रिक माने जा सकते हैं। ऐसे उपनिषदों में शैव, शाक्त, वैष्णव तथा योग विषयक उपनिषदों की प्रधान गणना है। रचना की दृष्टि से कुछ उपनिषद् गद्यात्मक हैं, कुछ पद्यात्मक और कतिपय गद्यपद्यात्मक।

रचनाकाल—उपनिषदों के कालक्रम, विकास तथा पारस्परिक संबंध को दिखलाने के लिये अनेक विद्वानों ने गहरी छानबीन की है जिनमें जर्मन विद्वान् डा० डॉसन तथा भारतीय विद्वान् डा० बेल्वेलकर और रानडे के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। डा० डॉसन ने उपनिषदों के विकासक्रम में चार स्तरों का पता लगाया है—१. गद्यात्मक उपनिषद् जिनका गद्य ब्राह्मणों के गद्य के समान सरल, लघुकाय तथा प्राचीन है—बृहदारण्यक, छांदोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकि तथा केन, २. पद्यात्मक उपनिषद् जिनका पद्य वैदिक मंत्रों के अनुरूप सरल, प्राचीन तथा सुबोध है—कठ, ईश श्वेताश्वतर तथा महानारायण, ३. अवांतर गद्योपनिषद्—प्रश्न, मैत्री (=मैत्रायणी) तथा मांडूक्य, ४. आथर्वण उपनिषद्—ब्रह्मविद्या, योगतत्व, आत्मबोध आदि अनेक अवांतरकालीन उपनिषदों की गणना इस श्रेणी में है।

डा० बेल्वेलकर तथा रानडे ने उपनिषदों के विभाजन के लिये एक नई पद्धति निकाली है। भाषा तथा प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से उपनिषदों को तीन श्रेणी में विभक्त करना उपयुक्त प्रतीत होता है—१. प्राचीनतम श्रेणी जिसके भीतर छांदोग्य, बृहदारण्यक, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुंडक एवं मांडूक्य रखे जा सकते हैं जो तत्तत् वेदों के आरण्यकों के अंश होने से निःसंदेह प्राचीन हैं, २. अवांतरकालीन—श्वेताश्वतर, कौषीतकि तथा मैत्री, और इन दोनों के बीच की श्रेणी में ३. कठ उपनिषद् को रखना उचित है। उपनिषदों की भौगोलिक स्थिति मध्यदेश के कुरु पांचाल से लेकर विदेह (मिथिला) तक फैली हुई है। उपनिषत्काल का आरंभ बुद्ध से पर्याप्त पूर्व है।

तत्वज्ञान—उपनिषदों के ऋषियों ने जीव, जगत् तथा ईश्वर के विषय में बड़ी ही मौलिक स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। ब्रह्म या परमात्मा का साक्षात्कार ही साधक के जीवन का मुख्य लक्ष्य है। अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक सतत परिवर्तनशील अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान शाश्वत सत्तात्मक पदार्थ का अन्वेषण तात्विक दृष्टि से किया। यह मौलिक तत्व 'ब्रह्म' शब्द के द्वारा संकेतित किया जाता है। ब्रह्म के दो रूप हैं—१. सविशेष अथवा सगुण रूप तथा २. निर्विशेष अथवा निर्गुण रूप जिनमें प्रथम रूप को 'अपर ब्रह्म' (या ईश्वर) तथा द्वितीय को 'परब्रह्म' नाम से अभिहित करते हैं। सगुण ब्रह्म के लिये पुंलिंग विशेषणों का प्रयोग किया गया है जैसे सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगंधः सर्वरसः आदि। निर्गुण ब्रह्म के लिये नपुंसक लिंगी निषेधात्मक विशेषणों का प्रयोग किया गया है जैसे बृहदारण्यक (३।८।८) में गार्गी को उपदेश देते समय वह अक्षर ब्रह्म अस्थूलं, अनणु, अह्रस्वं, अदीर्घं, अस्नेहं, अच्छायं आदि विशेषणों के द्वारा वर्णित है। 'नेति नेति' का भी यही तात्पर्य है कि वह परब्रह्म निषेधमुखेन ही वर्णित किया जा सकता है। उपनिषद् के मत में इस विश्व में अद्वैत सत्ता का ही पूर्ण साम्राज्य है तथा उस तत्व को छोड़कर नानात्मक जगत् का नितांत अभाव है (**नेह नानास्ति किञ्चन**)। आत्मा तथा परब्रह्म में पूर्ण ऐक्य है और इस ऐक्य का प्रतिपादक महनीय मंत्र है—**तत्त्वमसि** जिसे आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को नाना दृष्टांतों की सहायता से व्यावहारिक रूप में समझाया था (छांदोग्य)। केनोपनिषद् (१।५) ने निष्प्रपंच ब्रह्म का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है : जिसे वाणी कह नहीं सकती, परंतु जिसकी शक्ति से वाणी बोलती है, उसे ही ब्रह्म जानो। यह नहीं, जिसकी तुम उपासना करते हो—

> यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
> तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

इस परब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति उपनिषदों का लक्ष्य है। ब्रह्म का ज्ञान योग के साधनों के द्वारा भली भाँति हो सकता है और तब साधक अनंत आनंद का अनुभव कर अपने जीवन को धन्य बनाता है। यही 'रहस्यवाद' उपनिषदों का हृदय है और अन्य सिद्धांत साधन मात्र हैं।

सं० ग्रं०—डॉसन : फिलॉसफी ऑव उपनिषद्स, अंग्रेजी अनुवाद, १९०६; गफ़ : फिलॉसफी ऑव उपनिषद्स, लंदन, १८८२; बेल्वेलकर तथा रानडे : हिस्ट्री ऑव इंडियन फिलॉसफी, भाग २, पूना; रानडे : कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलॉसफी, पूना, १९२६; राधाकृष्णन् : इंडियन फिलॉसफी, भाग १, लंदन १९३०; दासगुप्त : हिस्ट्री ऑव इंडियन फिलॉसफी, खंड १, कैंब्रिज, १९२५। [ब० उ०]

उपन्यास

अर्नेस्ट ए० बेकर ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए उसे गद्यबद्ध कथानक के माध्यम द्वारा जीवन तथा समाज की व्याख्या का सर्वोत्तम साधन बताया है। यों तो विश्वसाहित्य का प्रारंभ ही संभवतः कहानियों से हुआ और वे महाकाव्यों के युग से आज तक के साहित्य का मेरुदंड रही हैं, फिर भी उपन्यास को आधुनिक युग की देन कहना अधिक समीचीन होगा। साहित्य में गद्य का प्रयोग जीवन के यथार्थ चित्रण का द्योतक है। साधारण बोलचाल की भाषा द्वारा लेखक के लिये अपने पात्रों, उनकी समस्याओं तथा उनके जीवन की व्यापक पृष्ठभूमि से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करना आसान हो गया। जहाँ महाकाव्यों में कृत्रिमता तथा आदर्शोन्मुख प्रवृत्ति की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है, आधुनिक उपन्यासकार जीवन की विशृंखलताओं का नग्न चित्रण प्रस्तुत करने में ही अपनी कला की सार्थकता देखता है।

यथार्थ के प्रति आग्रह का एक अन्य परिणाम यह हुआ कि कथा साहित्य से अपौरुषेय तथा अलौकिक तत्व, जो प्राचीन महाकाव्यों के विशिष्ट अंग थे, पूर्णतया लुप्त हो गए। कथाकार की कल्पना अब सीमाबद्ध हो गई। यथार्थ की परिधि के बाहर जाकर मनचाही उड़ान लेना उसके लिये प्रायः असंभव हो गया। उपन्यास का आविर्भाव और विकास वैज्ञानिक प्रगति के साथ हुआ। एक ओर जहाँ विज्ञान ने व्यक्ति तथा समाज को सामान्य धरातल से देखने तथा चित्रित करने की प्रेरणा दी वहीं दूसरी ओर उसने जीवन की समस्याओं के प्रति एक नए दृष्टिकोण का भी संकेत किया। यह दृष्टिकोण मुख्यतः बौद्धिक था। उपन्यासकार के ऊपर कुछ नए उत्तरदायित्व आ गए थे। अब उसकी साधना कला की समस्याओं तक ही सीमित न रहकर व्यापक सामाजिक जागरूकता की अपेक्षा रखती थी। वस्तुतः आधुनिक उपन्यास सामाजिक चेतना के क्रमिक विकास की कलात्मक

अभिव्यक्ति है। जीवन का जितना व्यापक एवं सर्वांगीण चित्र उपन्यास में मिलता है उतना साहित्य के अन्य किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं।

सामाजिक जीवन की विशद व्याख्या प्रस्तुत करने के साथ ही साथ आधुनिक उपन्यास वैयक्तिक चरित्र के सूक्ष्म अध्ययन की भी सुविधा प्रदान करता है। वास्तव में उपन्यास की उत्पत्ति की कहानी यूरोपीय पुनरुत्थान (रिनैसांस) के फलस्वरूप अर्जित व्यक्तिस्वातंत्र्य के साथ लगी हुई है। इतिहास के इस महत्वपूर्ण दौर के उपरांत मानव को, जो अब तक समाज की इकाई के रूप में ही देखा जाता था, वैयक्तिक प्रतिष्ठा मिली। सामंतवादी युग के सामाजिक बंधन ढीले पड़े और मानव व्यक्तित्व के विकास के लिये उन्मुक्त वातावरण मिला। यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों ने मानव चरित्र के अध्ययन के लिये भी एक नया दृष्टिकोण दिया। अब तक के साहित्य में मानव चरित्र के सरल वर्गीकरण की परंपरा चली आ रही थी। पात्र या तो पूर्णतया भले होते थे या एकदम गए गुजरे। अच्छाइयों और त्रुटियों का संमिश्रण, जैसा वास्तविक जीवन में सर्वत्र देखने को मिलता है, उस समय के कथाकारों की कल्पना के परे की बात थी। उपन्यास में पहली बार मानव चरित्र के यथार्थ, विशद एवं गहन अध्ययन की संभावना देखने को मिली।

अंग्रेजी के महान् उपन्यासकार हेनरी फ़ील्डिंग ने अपनी रचनाओं को गद्य में लिखे गए व्यंग्यात्मक महाकाव्य की संज्ञा दी। उन्होंने उपन्यास की इतिहास से तुलना करते हुए उसे अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण कहा। जहाँ इतिहास कुछ विशिष्ट व्यक्तियों एवं महत्वपूर्ण घटनाओं तक ही सीमित रहता है, उपन्यास प्रदर्शित जीवन के सत्य, शाश्वत और सर्वदेशीय महत्व रखते हैं। साहित्य में आज उपन्यास का वस्तुतः वही स्थान है जो प्राचीन युग में महाकाव्यों का था। व्यापक सामाजिक चित्रण की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त साम्य है। लेकिन जहाँ महाकाव्यों में जीवन तथा व्यक्तियों का आदर्शवादी चित्र मिलता है, उपन्यास, जैसा कि फ़ील्डिंग की परिभाषा से स्पष्ट है, समाज की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है। उपन्यासकार के लिये कहानी साधन मात्र है, साध्य नहीं। उसका ध्येय पाठकों का मनोरंजन मात्र भी नहीं। वह सच्चे अर्थ में अपने युग का इतिहासकार है जो सत्य और कल्पना दोनों का सहारा लेकर व्यापक सामाजिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है।

सं० ग्रं०—ई० एम० फोर्स्टर : ऐस्पेक्ट्स ऑव दि नावेल; राल्फ फॉक्स : दि नावेल ऐंड दि पिपुल; पर्सी कुवक : दि क्राफ्ट ऑव फिक्शन; एडविन म्योर : दि स्ट्रक्चर ऑव दि नावेल। [तु० ना० सिं०]

उपपत्ति

प्रकरण से प्रतिपादित अर्थ के साधन में जो युक्ति प्रस्तुत की जाती है उसे 'उपपत्ति' कहते हैं—'प्रकरण प्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिः उपपत्तिः'। ज्ञान के साधन में उपपत्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। आत्मज्ञान की प्राप्ति में जो तीन क्रमिक श्रेणियाँ उपनिषदों में बतलाई गई हैं उनमें मनन की सिद्धि उपपत्ति के ही द्वारा होती है। वेद के उपदेश को श्रुतिवाक्यों से प्रथमतः सुनना चाहिए (श्रवण) और तदनंतर उनका मनन करना चाहिए (मनन)। युक्तियों के सहारे ही कोई तत्व दृढ़ और हृदयंगम बताया जा सकता है। बिना युक्ति के मनन निराधार रहता है और वह आत्मविश्वास नहीं उत्पन्न कर सकता। मनन की सिद्धि के अनंतर निदिध्यासन करने पर ही आत्मा की पूर्ण साधना निष्पन्न होती है। 'मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः' की व्याख्या में माथुरी उपपत्ति को हेतु का पर्याय मानती है। [ब० उ०]

उपपुराण

जो ग्रंथ पंचलक्षणात्मक महापुराणों से विषयों के विन्यास तथा देवीदेवताओं के वर्णन में न्यून हैं, परंतु उनसे बहुशः साम्य रखते हैं वे 'उपपुराण' नाम से अभिहित किए जाते हैं। इनकी यथार्थ संख्या तथा नाम के विषय में बहुत मतभेद है। उपपुराणों की सूची कूर्म पुराण (१।१३-२३), गरुड पुराण (१।२२३।१७-२०), देवीभागवत (१।३), पद्मपुराण (१।११५), ब्रह्मवैवर्त (४।१३३), स्कंद (५।३।१; ७।१।२) तथा सूतसंहिता (१।१३।१८) में दी गई है। इन सूचियों की तुलना करने पर अत्यंत अव्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। बहुत से मान्य महापुराण भी (जैसे कूर्म, स्कंद, ब्रह्म, ब्रह्मांड तथा श्रीमद्भागवत) तथा रामायण भी उपपुराणों में गिने गए हैं। ऐसी स्थिति में उपपुराणों की निश्चित संख्या तथा अभिधान गंभीर गवेषणा की अपेक्षा रखते हैं। पूर्वोक्त सूचियों को मिलाने से उपपुराणों की संख्या ३२ तक पहुँच जाती है, परंतु बहुमत उपपुराणों की संख्या को १८ तक सीमित रखने के पक्ष में है। लोकप्रिय उपपुराणों के नाम ये हैं—(१) आदित्य (या सौर), (२) उशनस् (या औशनस), (३) कपिल, (४) कालिका, (५) कुमार, (६) गणेश, (७) गौतम, (८) दुर्वासा, (९) देवीभागवत, (१०) नंदी, (११) नृसिंह, (१२) महेश्वर, (१३) मारीच, (१४) शिवधर्म, (१५) सांब, (१६) सनत्कुमार, (१७) विष्णुधर्मोत्तर तथा (१८) कल्कि।

महापुराण तथा उपपुराण की विभेदक रेखा इतनी क्षीण है कि कभी कभी किसी पुराण के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करना नितांत कठिन होता है। सांप्रदायिक आग्रह भी किसी निश्चय पर पहुँचने में प्रधान बाधक सिद्ध होते हैं। शक्ति के उपासक 'देवीभागवत' को और विष्णु के भक्त 'श्रीमद्भागवत' को महापुराण के अंतर्गत मानते हैं, परंतु मत्स्य आदि पुराणों में निर्दिष्ट विषयसूची का अनुशीलन श्रीमद्भागवत को ही महापुराण के अंतर्निविष्ट सिद्ध करता है। शिवपुराण तथा वायुपुराण के स्वरूप के विषय में भी इसी प्रकार मतभेद है। कतिपय आलोचक एक ही पुराण को प्रतिपाद्य विषय की अपेक्षा से शिवपुराण और वक्ता की अपेक्षा से 'वायुपुराण' मानते हैं, परंतु अन्यत्र वायुपुराण को महापुराणों के अंतर्गत मानकर 'शिवपुराण' को निश्चित रूप से उपपुराण माना गया है। शिवपुराण भी दो प्रकार का उपलब्ध है। एक लक्षश्लोकात्मक तथा द्वादश संहिताओं में विभक्त बतलाया जाता है। परंतु श्री वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित 'शिवपुराण' में केवल ७ संहिताएँ और २४ सहस्र श्लोक उपलब्ध होते हैं। गणपति की उपासना के प्रतिपादक 'गणेशपुराण' के अतिरिक्त 'मुद्गलपुराण' भी 'गणेशाथर्वशीर्ष' के भाष्यानुसार उपपुराण है। सांबपुराण सूर्य की उपासना का प्रतिपादक है तथा कालिकापुराण भगवती काली के नाना अवतारों तथा पूजा अर्चना का विवरण प्रस्तुत करता है। 'विष्णुधर्मोत्तर' में पुराण के सामान्य विषयों के अतिरिक्त नृत्य, संगीत, स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, मूर्तिविधान तथा मंदिरनिर्माण का भी विवरण मिलता है जो कला की दृष्टि से नितांत रोचक, उपयोगी तथा उपादेय है।

सं० ग्रं०—ज्वालाप्रसाद मिश्र : अष्टादश पुराणदर्पण (वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई); विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, भाग १, कलकत्ता १९२७; हजारा : दि उपपुराणाज, प्रथम भाग, कलकत्ता। [ब० उ०]

उपमन्यु

उपनिषद् काल के जिन ऋषियों के नाम वैदिक साहित्य में मिलते हैं उनमें आरुणि, उद्दालक, याज्ञवल्क्य के समान ही उपमन्यु का नाम भी विख्यात है। वे गोत्र के प्रवर्तक थे और कुछ वैदिक मंत्रों के ऋषि भी थे जिससे उनके बृहत् ज्ञान का पता चलता है। [चं० म०]

उपमान

किसी अज्ञात वस्तु को किसी ज्ञात वस्तु की समानता के आधार पर किसी नाम से जानना। जैसे किसी को मालूम है कि नीलगाय गाय जैसी होती है; कभी उसने जंगल में गाय जैसा पशु देखा और समझ गया कि यही नीलगाय है। यह ज्ञान गाय के ज्ञान से हुआ। किंतु शब्दज्ञान से इसमें भेद है। शब्दज्ञान में शब्द सुनकर बोध होता है, उपमान में समानता से बोध होता है। न्यायशास्त्र में इसे अलग प्रमाण माना गया है किंतु बौद्ध, वैशेषिक आदि दर्शन इसे अनुमान के अंतर्गत मानते हैं। [रा० चं० पा०]

उपयोगितावाद

एक आचार सिद्धांत, जिसकी एकांतिक मान्यता है कि आचरण एकमात्र तभी नैतिक है जब वह अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की अभिवृद्धि करता है। राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों में इसका संबंध मुख्यतः बेंथम (१७४८-१८३२) तथा जान स्टुअर्ट मिल (१८०६-७३) से रहा है। परंतु इसका इतिहास और प्राचीन है, ह्यूम जैसे दार्शनिकों के विचारों से प्रभावित, जो उदारता को ही सबसे महान् गुण मानते थे तथा व्यक्तिविशेष के व्यवहार से दूसरों के सुख में वृद्धि ही उदारता का मापदंड समझते थे।

उपयोगितावाद के संबंध में प्रायः कुछ अस्पष्ट ओछी धारणाएँ हैं। इसके आलोचकों का कहना है कि यह सिद्धांत सुंदरता, शालीनता एवं विशिष्टता की उपेक्षा कर केवल उपयोगिता को महत्व देता है। पूर्वपक्ष का इसपर यह आरोप है कि यह केवल लौकिक स्वार्थ को महत्व देता है। किंतु ऐसी आलोचना सर्वथा समुचित नहीं कही जा सकती।

उपयोगितावाद अनेक सापेक्ष विचारों को महत्व देता है। जैसे, आनंद ही सबसे वांछनीय वस्तु है, और यह जितना अधिक हो उतना ही श्रेयस्कर है। इसका एक भ्रामक निष्कर्ष यह है कि दुःख ही सबसे अवांछनीय वस्तु है, और यह जितना कम भोगना पड़े उतना ही अच्छा है। इससे यह निर्दिष्ट है कि नैतिक अभिकर्ता का किसी भी परिस्थिति में ऐसा ही आचरण सदाचार माना जायगा जो स्वेच्छया किया गया हो, जो संबंधित लोगों के लिये महत्तम सुख की सृष्टि करता हो अथवा कर सकने की संभावना रखता हो और जहाँ पर दुःख अवश्यंभावी है वहाँ उसे यथासंभव कम से कम करने का प्रयत्न करता हो।

ऐसे विचारों में निहित भावों की विवेचना एकपक्षीय नहीं हो सकती, फिर भी आनंद भी तुच्छ तथा दुःख भी महान् हो सकता है और कोई यह सिद्ध नहीं कर सकता कि आनंद नित्य श्रेय तथा दुःख नित्य हेय है। यह भी स्पष्ट है कि 'सुख' की ठीक ठीक परिभाषा करना, यदि असंभव नहीं तो, कठिन अवश्य है। जर्मन दार्शनिक नीत्शे ने एक बार प्रसिद्ध घोषणा की कि 'सुख कौन चाहता है ? केवल अंग्रेज।' अधिकांश भारतीय विचारों में जोर निरासक्ति पर ही दिया गया है, जिससे आनंद का माप क्षणस्थायी एवं सुख कुछ निःसार प्रतीत होता है। वास्तव में उपयोगितावाद का पूर्णतः तर्कसंमत एवं स्थायी अनुयायी होना कुछ सरल नहीं, फिर भी सिद्धांत तथा व्यवहार में सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न के कारण और जीव-तत्व के लिये स्वस्थ तथा नैतिक अच्छाई का मार्ग निर्दिष्ट करनेवाले आनंद को मनुष्य के स्वाभाविक मार्गदर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करने के कारण उपयोगितावाद कुछ आकर्षण रखता है, और एतदर्थ संमान्य भी है।

बेंथम ने लिखा है, "प्रकृति ने मनुष्य को दो प्रभुओं, सुख एवं दुःख, के शासन में रखा है। केवल इन्हीं को यह सूचित करने की शक्ति प्राप्त है कि हमें क्या करना चाहिए तथा हम क्या करेंगे। इनके सिंहासन के एक ओर उचितानुचित निर्धारण का मान बँधा है दूसरी ओर कार्य कारण का चक्र।" कोई भी इस कथन में त्रुटि निकाल सकता है। वस्तुतः उपयोगितावादियों की सबसे बड़ी त्रुटि उनकी दार्शनिक पकड़ की कमजोरी में ही रही है। परंतु उनके द्वारा वास्तविक सुधारों को जो महत्व दिया गया, तत्कालीन परिस्थितियों में वह सामाजिक चिंतन के क्षेत्र में निःसंदेह नया कदम था। दूरदर्शी तथा कुशल व्यवस्थापकों द्वारा ही समाजकल्याण संपन्न हो सकता है, ऐसी कल्पना की गई। बेंथम के शब्दों में, व्यवस्थापक ही बुद्धि तथा विधि (कानून) द्वारा सुख रूपी पट बुन सकता है।

बेंथम ने न केवल इंग्लैंड वरन् यूरोप के अन्य देशों के विचारों को भी अत्यंत प्रभावित किया। जेलों के सुधार में, न्यायव्यवहार को सरल करने में अमानुषिक परिणामहीन दंड व्यवस्था हटाने में, बेंथम से बड़ी सहायता प्राप्त हुई। जब उसे निश्चय हो गया कि संसदीय सुधार के बिना वैधानिक सुधार असंभव है तब वह उस ओर आकर्षित हुआ। उपयोगितावाद के आर्थिक उद्देश्यों का निरूपण, जो मुख्यतः निर्बंध व्यापार पर वैधानिक नियंत्रणों की समाप्ति से संबंधित है, रिकार्डो के साहित्य में अत्यंत सुंदर ढंग से हुआ है। सिद्धांत निरूपण की अपेक्षा, जो उपयोगितावादियों का विशेष इष्ट कभी न रहा, आजकल राजनीतिक कार्यक्रमों को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। किंतु इस दर्शन की स्थायी देन नैतिकता तथा सामाजिक अंगों के कार्य में प्रत्यक्ष संबंध का सिद्धांत है। [ही० ना० मु०]

उपरिगामी पुल

जब रेल या सड़क के दो रास्ते एक दूसरे को काटकर पार करते हैं तब सुविधा और सुरक्षा के लिये एक रास्ते के ऊपर पुल बनाकर दूसरे रास्ते को उसके ऊपर से ले जाया जाता है। ऐसे पुल को उपरिगामी पुल या ऊपर का पुल कहते हैं। रेलवे लाइन पार करने के लिये तो बहुत स्थानों में उपरिगामी पुल बने रहते हैं, क्योंकि इस प्रबंध से लाइन पार करनेवालों के कारण रेलगाड़ियों को रुकना नहीं पड़ता।

आधुनिक परिवहन में यह आवश्यक हो गया है कि गाड़ियाँ बिना चाल धीमी किए अपनी यात्रा जारी रखें। इसलिये विदेशों में साधारण सड़कों के चौराहों पर भी अब उपरिगामी पुल अधिकाधिक संख्या में बनाए जाते हैं। ऐसे पुलों की अभिकल्पना (डिजाइन) में कई कठिन और विशेष प्रकार की समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं; उदाहरणतः सड़कों की ढाल कितनी रखी जाय, नीचेवाली सड़क से पुल कितना ऊँचा रहे, भविष्य में सड़क चौड़ी करनी पड़े तो उसके लिये अभी से कैसी व्यवस्था रखी जाय, कितनी दूर तक सड़क स्पष्ट दिखाई पड़ती रहे, एक सड़क से आड़ी सड़क पर पहुँचने का क्या उपाय किया जाय, मुड़ने के लिये सड़क में वक्रता कितनी रखी जाय, इत्यादि। फिर इसपर भी ध्यान रखना पड़ता है कि वास्तुकला की दृष्टि से संरचना सुंदर दिखाई पड़े।
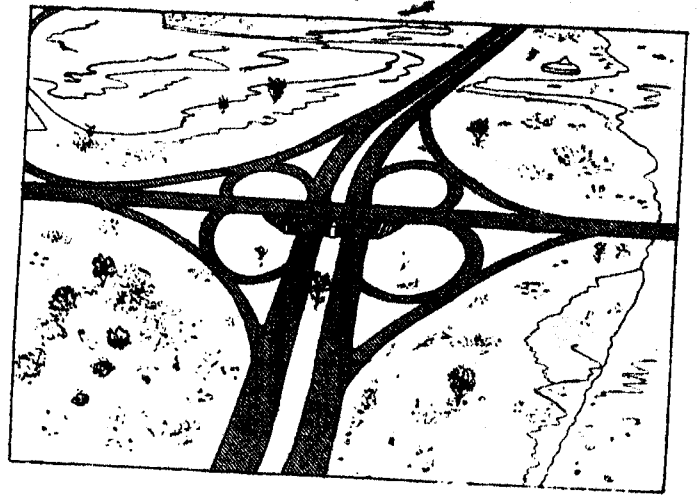
जलेब चौराहा

वाशिंगटन (अमरीका) में माउंट वर्नन मेमोरियल हाइवे और यूनाइटेड स्टेट्स रूट नंबर १ (१४वीं सड़क) का चौराहा अच्छी अभिकल्पना का सुंदर उदाहरण है। प्रत्येक ओर से गाड़ी बिना रोक टोक के सीधे जा सकती है, या चौराहे से पहले ही बाईं ओर जानेवाली शाखा पकड़कर बाएँवाली सड़क पर पहुँच सकती है, या चौराहे के आगे बढ़कर बाईं ओर जानेवाली शाखा पकड़कर और प्रायः गोल चक्कर लगाकर दाहिनी ओर की सड़क पर पहुँच सकती है (चित्र देखें)। इस प्रबंध से बगल से आनेवाली गाड़ियों के भिड़ जाने का डर बिलकुल नहीं रहता। चारो कोनों पर चार गोल चक्कर पड़ने के कारण चौराहा जलेब (क्लवर) की तरह जान पड़ता है और इसीलिये इसे जलेब चौराहा (क्लवर लीफग्रेड सेपरेशन) कहते हैं। [सी० बा० जो०]

उपलेता

गुजरात राज्य के मध्य सौराष्ट्र जिले में उपलेता सब डिवीजन का प्रमुख नगर है (पहले गोंडल राज्य के गोंडल इलाके का नगर था)। (स्थिति : २१° ४४' उ० अक्षांश एवं ७०° २०' पूर्वी देशांतर) यह जूनागढ़ से १६ मील उत्तर-पश्चिम एवं धोराजी नगर से १० मील दूर, भादर नदी की सहायक मोज नदी के पश्चिमी तट पर, अत्यंत सुरम्य स्थान पर स्थित है। यहाँ के निवासियों में मेहमान जाति एवं बनिए मुख्य हैं जिनका धंधा साधारणतः व्यापार है। अतः यह नगर गुजरात के संपत्तिशाली नगरों में गिना जाता है। भावनगर-गोंडल-पोरबंदर रेलवे का एक स्टेशन भी यहाँ है, अतः व्यापारिक सुविधाएँ यहाँ प्राप्त हैं। इस नगर की जनसंख्या १९०१ ई० में ९,४२९ थी जो १९५१ ई० में बढ़कर २२,७३६ हो गई। यहाँ के निवासियों में लगभग ४० प्रति शत लोग व्यापार में लगे हैं। [का० ना० सिं०]

उपवास

भोजन किए बिना रह जाने को उपवास कहते हैं; यह कई प्रकार का होता है। एक प्रकार का उपवास धार्मिक होता है, जो एकादशी, संक्रांति तथा ऐसे ही पर्वों के दिनों पर किया जाता है। ऐसे उपवासों में दोपहर को दूध की बनी हुई मिठाई तथा शुष्क और हरे

दोनों प्रकार के फल खाए जा सकते हैं। कुछ निर्जल उपवास होते हैं। इनमें दिन भर न तो कुछ खाया जाता है और न जल पिया जाता है। रोगों में भी उपवास कराया जाता है, जिसको लंघन कहते हैं। आजकल राजनीतिक उपवास भी किए जाते हैं जिन्हें 'अनशन' कहते हैं। इनका उद्देश्य सरकार की दृष्टि को आकर्षित करना और उससे वह कार्य करवाना होता है जिसके लिये उपवास किया जाता है। कभी कभी भोजन न मिलने पर परवश होकर भी उपवास करना पड़ता है।

इन सब प्रकार के उपवासों का शरीर पर समान प्रभाव पड़ता है। एक बार भोजन ग्रहण करने पर कुछ घंटों तक तो शरीर को खाए हुए आहार से शक्ति मिलती रहती है, किंतु उसके पश्चात् शरीर में संचित आहार के अवयवों—प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और स्नेह या वसा—का शरीर उपयोग करने लगता है। वसा और कार्बोहाइड्रेट परिश्रम करने की शक्ति उत्पन्न करते हैं। प्रोटीन का काम शरीर के टूटे फूटे भागों का पुनर्निर्माण करना है। किंतु जब उपवास लंबा या अधिक काल तक होता है तो शक्ति उत्पादन के लिये शरीर प्रोटीन का भी उपयोग करता है। इस प्रकार प्रोटीन ऊतकनिर्माण (टिशू फॉर्मेशन) और शक्त्युत्पादन दोनों काम करता है।

शरीर में कार्बोहाइड्रेट दो रूपों में वर्तमान रहता है : ग्लूकोस, जो रक्त में प्रवाहित होता रहता है, और ग्लाइकोजेन्, जो पेशियों और यकृत में संचित रहता है। साधारणतया कार्बोहाइड्रेट शरीर को प्रति दिन के भोजन से मिलता है। उपवास की अवस्था में जब रक्त का ग्लूकोस खर्च हो जाता है तब संचित ग्लाइकोजेन ग्लूकोस में परिणत होकर रक्त में जाता रहता है। उपवास की अवस्था में यह संचित कार्बोहाइड्रेट दो चार दिनों में ही समाप्त हो जाता है; तब कार्बोहाइड्रेट का काम वसा को करना पड़ता है और साथ ही प्रोटीन को भी इस कार्य में सहायता करनी पड़ती है।

शरीर में वसा विशेष मात्रा में त्वचा के नीचे तथा कलाओं में संचित रहती है। स्थूल शरीर में वसा की अधिक मात्रा रहती है। इसी कारण दुबले व्यक्ति की अपेक्षा स्थूल व्यक्ति अधिक दिनों तक भूखा रह सकता है। शरीर को दैनिक कर्मों और उष्मा के लिये कार्बोहाइड्रेट, वसा और प्रोटीन, तीनों पदार्थों की आवश्यकता होती है, जो उसको अपने आहार से प्राप्त होते हैं। आहार से उपलब्ध वसा यकृत में जाती है और वहाँ पर रासायनिक प्रतिक्रियाओं से वसाम्ल और ऐसिटो-ऐसीटिक-अम्ल में परिवर्तित होकर रक्त में प्रवाहित होती है तथा शरीर को शक्ति और उष्मा प्रदान करती है। उपवास की अवस्था में शरीर की संचित वसा का यकृत द्वारा इसी प्रकार उपयोग किया जाता है। यह संचित वसा कुछ सप्ताहों तक कार्बोहाइड्रेट का भी स्थान ग्रहण कर सकती है। अंतर केवल यह है कि जब शरीर को आहार से कार्बोहाइड्रेट मिलता रहता है तब ऐसिटो-ऐसीटिक-अम्ल यकृत द्वारा उतनी ही मात्रा में संचालित होता है जितनी की आवश्यकता शरीर को होती है। कार्बोहाइड्रेट की अनुपस्थिति में इस अम्ल का उत्पादन विशेष तथा अधिक होता है और उसका कुछ अंश मूत्र में आने लगता है। इस अंश को कीटोन कहते हैं। कीटोन का मूत्र में पाया जाना शरीर में कार्बोहाइड्रेट की कमी का चिह्न है और उसका अर्थ यह होता है कि कार्बोहाइड्रेट का कार्य अब संचित वसा को करना पड़ रहा है। यह उपवास की प्रारंभावस्था में होता है। रुग्णावस्था में जब रोगी भोजन नहीं करता तब शरीर के कार्बोहाइड्रेट के चयापचय को जानने के लिये मूत्र में किटोन की जाँच करते रहना आवश्यक है।

उपवास की लंबी अवधि में संचित वसा के समाप्त हो जाने पर उष्मा और शक्ति के उत्पादन का भार प्रोटीन पर आ पड़ता है। शरीर के कोमल भाग का प्राय: ७५ प्रति शत अंश प्रोटीन से बना हुआ रहता है। उपवास की अवस्था में यही प्रोटीन ऐमिनो-अम्लों में परिवर्तित होकर रक्त में प्रवाहित होता है। सभी अंगों के प्रोटीनों का संचालन समान मात्रा में नहीं होता है। लंबे उपवास में जब तक मस्तिष्क और हृदय का भार प्राय: ३ प्रति शत कम होता है, तब तक पेशियों का ३० प्रति शत, यकृत का ५५ प्रति शत और प्लीहा का ७० प्रति शत भार कम हो जाता है। शारीरिक ऊतकों (टिशूज) से प्राप्त ऐमिनो-अम्लों के मुख्य दो कार्य हैं : (१) अत्यावश्यक अंगों को सुरक्षित रखना और (२) रक्त में ग्लूकोस की अपेक्षित मात्रा को स्थिर रखना।

प्रोटीन नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ होते हैं। अतएव जब शरीर के प्रोटीन को उपर्युक्त काम करने पड़ते हैं तब मूत्र का नाइट्रोजनीय अंश बढ़ जाता है। उपवास के पहले सप्ताह में यह अंश प्रति दिन मूत्र के साथ लगभग १० ग्राम निकलता है। दूसरे और तीसरे सप्ताह में इसकी मात्रा कुछ कम हो जाती है। यदि इस नाइट्रोजनीय अंश को बाहर निकालने में वृक्क असमर्थ होते हैं तो वह अंश रक्त में जाने लगता है और व्यक्ति में मूत्ररक्तता (यूरीमिया) की दशा उत्पन्न हो जाती है। इसको व्यक्ति की अंतिम अवस्था समझना चाहिए।

शरीर में कार्बोहाइड्रेट और वसा के समान प्रोटीन का संचय नहीं रहता। शरीर एक जीवित यंत्र है। इसकी रचना का आधार प्रोटीन है। इस यंत्र की यह विशेषता है कि इसके सामान्य भागों के प्रोटीन उपवास-काल में भी आवश्यक अंगों की रक्षा करते रहते हैं। शारीरिक यंत्र का सुचारु रूप से कार्य करते रहना शरीर में बननेवाले रसायनों, किण्वों (एनज़ाइम्स) और हार्मोनों पर निर्भर रहता है। ये उपवास की अवस्था में भी बनते रहते हैं। इनके निर्माण के लिये शरीर के सामान्य भाग अपना प्रोटीन ऐमिनो-अम्ल के रूप में प्रदान करते रहते हैं, जिससे ये रासायनिक पदार्थ बनते रहें और शरीर की क्रिया में बाधा न पड़े।

स्वस्थ शरीर के लिये प्रोटीन की दैनिक मात्रा प्राय: निश्चित है। एक युवक के लिये प्रति दिन प्रत्येक किलोग्राम शारीरिक भार के अनुपात में लगभग एक ग्राम प्रोटीन आवश्यक है और यह आहार से मिलता है। गर्भवती स्त्री तथा बढ़ते हुए शिशु, बालक अथवा तरुण को ५० प्रति शत अधिक मात्रा में प्रोटीन की आवश्यकता होती है। इससे अधिक प्रोटीन आहार में रहने से शरीर को उसका विश्लेषण करके बहिष्कार करना पड़ता है, जिससे यकृत और वृक्क का कार्य व्यर्थ ही बढ़ जाता है। प्रोटीन शारीरिक यंत्र की मरम्मत के काम में आता है। अतएव रोगोत्तर तथा उपवासोत्तर काल में आहार में प्रोटीन बढ़ा देना चाहिए। इन सब बातों का पता नाइट्रोजन संतुलन के लेखे जोखे से लगाया जा सकता है। यह काम जीव-रसायन-प्रयोगशाला में किया जाता है। यदि मूत्र के नाइट्रोजन की मात्रा भोजन के नाइट्रोजन के बराबर हो तब इसे नाइट्रोजन-संतुलन-अवस्था कहते हैं। यदि मूत्र का नाइट्रोजन भोजन के नाइट्रोजन से कम हो तब इसको 'धनात्मक नाइट्रोजन संतुलन' कहते हैं। इससे यह समझा जाता है कि आहार के नाइट्रोजन (अर्थात् प्रोटीन) में से शरीर केवल एक विशिष्ट मात्रा को ग्रहण कर रहा है। यदि, इसके विपरीत, मूत्र का नाइट्रोजन अधिक हो, तो इसका अर्थ यह है कि शरीर अपने प्रोटीन से बने नाइट्रोजन का भी बहिष्कार कर रहा है। इस अवस्था को 'ऋणात्मक नाइट्रोजन संतुलन' कहते हैं। उपवास की अवस्था में 'ऋणात्मक प्रोटीन संतुलन' और उपवासोत्तर काल में, आहार में प्रोटीन पर्याप्त मात्रा में रहने पर, 'धनात्मक प्रोटीन संतुलन' रहता है।

रोग के दिनों में हमारे देश में भोजन प्राय: बंद करके बार्ली, साबूदाना आदि ही दिया जाता है। इससे रोगी को तनिक भी प्रोटीन नहीं मिलता, जिससे अंगों के ह्रास की पूर्ति नहीं हो पाती। अतएव शीघ्र पचनेवाली प्रोटीन भी किसी न किसी रूप में रोगी को देना आवश्यक है। बढ़ते हुए बालकों और बच्चों में प्रोटीन और भी आवश्यक है।

उपवास में कुछ दिनों तक शारीरिक क्रियाएँ संचित कार्बोहाइड्रेट पर, फिर विशेष संचित वसा पर और अंत में शरीर के प्रोटीन पर निर्भर रहती हैं। मूत्र और रक्त की परीक्षा से उन पदार्थों का पता चल सकता है जिनका शरीर उस समय उपयोग कर रहा है। उपवास का प्रत्यक्ष लक्षण है व्यक्ति की शक्ति का निरंतर ह्रास। शरीर की वसा घुल जाती है, पेशियाँ क्षीण होने लगती हैं। उठना, बठना, करवट लेना आदि व्यक्ति के लिये दुष्कर हो जाता है और अंत में मूत्ररक्तता (यूरीमिया) की अवस्था में चेतना भी जाती रहती है। रक्त में ग्लूकोस की कमी से शरीर क्लांत तथा क्षीण होता जाता है और अंत में शारीरिक यंत्र अपना काम बंद कर देता है।

१९४३ की अकालपीड़ित बंगाल की जनता का विवरण बड़ा ही भयावह है। इस अकाल के सामाजिक और नैतिक दृष्टिकोण बड़े ही रोमांचकारी हैं। किंतु उसका वैज्ञानिक अध्ययन बड़ा शिक्षाप्रद था। बुभुक्षितों के संबंध में जो अन्वेषण हुए उनसे उपवास विज्ञान को बड़ा लाभ हुआ। एक दृष्टांत यह है कि इन अकालपीड़ित भुखमरों के मुँह में दूध डालने से

वह गुदा द्वारा जैसे का तैसा तुरंत बाहर हो जाता था। जान पड़ता था कि उनकी अँतड़ियों में न पाचनरस बनता था और न उनमें कुछ गति (स्पंदन) रह गई थी। ऐसी अवस्था में शिराओं (वेन) द्वारा उन्हें भोजन दिया जाता था। तब कुछ काल के बाद उनके आमाशय काम करने लगते थे और तब भी वे पूर्वपाचित पदार्थों को ही पचा सकते थे। धीरे धीरे उनमें दूध तथा अन्य आहारों को पचाने की शक्ति आती थी।

इसी प्रकार गत विश्वयुद्ध में जिन देशों में खाद्य वस्तुओं पर बहुत नियंत्रण था और जनता को बहुत दिनों तक पूरा आहार नहीं मिल पाता था उनमें भी उपवासजनित लक्षण पाए गए और उनका अध्ययन किया गया। इन अध्ययनों से आहार विज्ञान और उपवास संबंधी ज्ञान में विशेष वृद्धि हुई। ऐसी अल्पाहारी जनता का स्वास्थ्य बहुत क्षीण हो जाता है। उसमें रोग प्रतिरोधक शक्ति नहीं रह जाती। गत विश्वयुद्ध में उचित आहार की कमी से कितने ही बालक अंधे हो गए, कितने ही अन्य रोगों के ग्रास बने।

उपवास पूर्ण हो या अधूरा, थोड़ी अवधि के लिये हो या लंबी अवधि के लिये, चाहे धर्म या राजनीति पर आधारित हो, शरीर पर उसका प्रभाव अवधि के अनुसार समान होता है। दीर्घकालीन अल्पाहार से भी शरीर में वे ही परिवर्तन होते हैं जो पूर्ण उपवास में कुछ ही समय में हो जाते हैं। उपवास तोड़ने के भी विशेष नियम हैं। अनशन प्रायः फलों के रस से तोड़ा जाता है। रस भी धीरे धीरे देना चाहिए, जिससे पाचकप्रणाली पर विशेष भार न पड़े। दो तीन दिन थोड़ा थोड़ा रस लेने के पश्चात् आहार के ठोस पदार्थों को भी ऐसे रूप में प्रारंभ करना चाहिए कि आमाशय आदि पर, जो कुछ समय से पाचन के अनभ्यस्त हो गए हैं, अकस्मात् विशेष भार न पड़ जाय। आहार की मात्रा धीरे धीरे बढ़ानी चाहिए। इस अवधि में शरीर विशेष अधिक मात्रा में प्रोटीन ग्रहण करता है, इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है।

सं०ग्रं०—सैमसन राइट : अप्लायड फ़िज़िऑलॉजी (ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस); सी० एच० बेस्ट और एन० बी० टेलर : दि फ़िज़िऑलॉजिकल बेसिस ऑव मेडिकल प्रैक्टिस (बेलियर, टिंडल और कॉक्स, लंदन)।

[ब० ना० प्र०]

उपवेद

प्रत्येक वेद के साथ एक उपवेद का संबंध प्राचीन ग्रंथों में स्थापित किया गया है, परंतु इस तथ्य के विषय में कि कौन उपवेद किस वेद के साथ यथार्थतः संबद्ध है, विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थानभेद' के अनुसार वेदों के समान ही उपवेद भी क्रमशः चार हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, संगीतवेद तथा अर्थशास्त्र। इनमें (१) **आयुर्वेद** ऋग्वेद का उपवेद माना जाता है, परंतु सुश्रुत इसे अथर्ववेद का उपवेद मानते हैं। आयुर्वेद के आठ स्थान माने जाते हैं—सूत्र, शारीर, ऐंद्रिय, चिकित्सा, निदान, विमान, विकल्प तथा सिद्धि एवं इसके प्रवक्ता आचार्यों में मुख्य हैं—ब्रह्मा, प्रजापति, अश्विन्, धन्वंतरि, भरद्वाज, आत्रेय, अग्निवेश। आत्रेय द्वारा प्रतिपादित तथा उपदिष्ट, अग्निवेश द्वारा निर्मित संहिता को चरक ने प्रतिसंस्कृत किया। इसलिये 'चरकसंहिता' को दृढ़बल ने 'अग्निवेशकृत तथा चरक प्रतिसंस्कृत तंत्र' अंगीकार किया है। चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट आयुर्वेद के त्रिमुनि हैं। कामशास्त्र का अंतर्भाव आयुर्वेद के भीतर माना जाता है।

यजुर्वेद का उपवेद **धनुर्वेद** है जिसका सर्वप्राचीन ग्रंथ विश्वामित्र की रचना माना जाता है। इसमें चार पाद हैं—दीक्षापाद, संग्रह पाद, सिद्धि पाद तथा प्रयोगपाद ('प्रस्थानभेद' के अनुसार)। इस उपवेद में अस्त्र-शस्त्रों के ग्रहण, शिक्षण, अभ्यास तथा प्रयोग का सांगोपांग वर्णन किया गया है। 'कोदंडमंडन' धनुर्विद्या का बड़ा ही प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है।

संगीतवेद सामवेद का उपवेद है जिसमें नृत्य, गीत तथा वाद्य के सिद्धांत एवं प्रयोग, ग्रहण तथा प्रदर्शन का रोचक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस वेद के प्रधान आचार्य भरतमुनि हैं जिन्होंने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य के साथ संगीत का भी प्रामाणिक वर्णन किया है। कोहल ने संगीत के ऊपर एक मान्य ग्रंथ लिखा था जिसका एक अंश 'तालाध्याय' आज उपलब्ध है। मातंग के 'बृहद्देशी', नारद के 'संगीतमकरंद', शार्ङ्गदेव के 'संगीतरत्नाकर' आदि ग्रंथों की रचना के कारण यह उपवेद अत्यंत समृद्ध है।

अर्थशास्त्र अथर्ववेद का उपवेद है। राजनीति तथा दंडनीति इसी के नामांतर हैं। बृहस्पति, उशना, विशालाक्ष, भरद्वाज, पराशर आदि इसके प्रधान आचार्य हैं। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' नितांत प्रसिद्ध है। 'शिल्पशास्त्र' की भी गणना इसी उपवेद के अंतर्गत है।

सं०ग्रं०—मधुसूदन सरस्वती : प्रस्थानभेद आनंदाश्रम, पूना, १९०६।

[ब० उ०]

उपसंहार (पुश्तलेख, अंत्यलेख)

सामान्यतः किसी रचना (विशेष रूप से गद्य अथवा नाटकीय) के अंत में प्रस्तुत किया जानेवाला वह हिस्सा जिसमें संपूर्ण कृति का सार, उसका अभिप्राय और स्पष्टीकरण (कभी कभी निबंध के लिये प्रसंगेतर लेकिन तत्संबंधी आवश्यक, अतिरिक्त सूचनाएँ) समाविष्ट हो। मूलतः इसका उपयोग नाटकों में होता था जिनमें प्रायः नाटक के अंत में नाटक का सूत्रधार अथवा कोई पात्र नाटक के बारे में श्रोताओं की धारणा को अनुकूल बनाने के लिये एक संक्षिप्त वक्तव्य करता था। शेक्सपियर के एकाध नाटकों में इसका उपयोग क्षमायाचना के रूप में भी हुआ है। बेन जानसन के नाटकों में इस प्रकार के उपसंहारों का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके नाटकों में इस पद्धति के नियमित व्यवहार का एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि वह प्रायः श्रोताओं के सामने नाटक के दोषों को छुपाने के लिये ही इनकी योजना करता था। १६६० तक आते आते जब नाटकों की परंपरा का ह्रास होने लगा तो इनका महत्व बहुत ज्यादा हो गया—यहाँ तक कि प्रायः नाटककार अथवा नाट्यनिर्देशक प्रसिद्ध कवियों से यह भाग लिखवाने लगे। इस स्थिति की अच्छी समीक्षा ड्राइडन ने अपने विख्यात निबंध 'डिफ़ेंस ऑव एपीलोग' में की है। वर्तमान समय के नाटककारों ने इसे इतना महत्व नहीं दिया। वर्तमान साहित्य में इसने नाटकों की अपेक्षा विचारात्मक और विवेचनात्मक गद्य साहित्य में अपनी उपयोगिता अधिक सिद्ध की है। अध्ययनात्मक और गवेषणात्मक निबंधों में वैज्ञानिकों, दार्शनिकों और अन्य विचारकों ने इसका पर्याप्त उपयोग किया है। कोश साहित्य और वैधानिक अथवा गणनाप्रधान आलेखों में नए तथ्यों को बिना समूची पुस्तक को बदले अतिरिक्त पृष्ठों में सामग्री का आकलन कर सकना सहज हो गया है। सामान्यतः उपसंहार का उपयोग विवेचनात्मक साहित्य में अधिक होता है और अंत्यलेख अथवा पुश्तलेख का उपयोग कोश अथवा अन्य तकनीकी साहित्य में। [मु० रा०]

उपसाला

स्वीडेन का एक प्रदेश है तथा उस प्रदेश की राजधानी का भी यही नाम है। उपसाला नगर मालर झील की जलयातायात योग्य एक शाखा के तट पर, जिसका नाम फ़ैरिस नदी है, स्टॉकहोम नगर से ४१ मील उत्तर की ओर स्थित है। इस नगर का फ़ैरिस नदी तथा मालर झील की जलप्रणाली द्वारा स्टॉकहोम से सीधा संबंध है। यहाँ की जनसंख्या सन् १९४३ ई० में ४०,०५३ थी। आधुनिक नगर उस प्राचीन उपसाला से संबद्ध है जो आधुनिक नगर से प्रायः दो मील उत्तर की ओर बसा हुआ था। नगर का यह प्राचीन भाग नदी के पश्चिमी किनारे की ढाल पर स्थित है। इस उपसाला नगर का वर्णन नवीं शताब्दी के लेखों में मिलता है; उस समय के लोगों के स्वर्णजटित मंदिर के लिये यह विख्यात था। यहाँ स्वीडेन के गिरजाघरों के एकमात्र प्रधान धर्माचार्य का निवास स्थान है। सन् १७०२ ई० में विनाशकारी अग्नि द्वारा नगर के अधिकांश भाग नष्ट हो गए थे।

उपसाला प्रदेश का क्षेत्रफल २,०५९ वर्ग मील है। इसकी जनसंख्या सन् १९५० ई० में १,५४,७६१ थी। यह स्वीडेन के मध्य-पूर्व में स्टॉकहोम से दक्षिण में सटा हुआ है। इसकी तटीय सीमा बाल्टिक सागर तथा बोथीनिया की खाड़ी द्वारा प्रक्षालित होती रहती है। यह प्रदेश खनिज पदार्थों की दृष्टि से धनी है। यहाँ की अधिकांश जनसंख्या कृषि करने, जंगल काटने, मत्स्य उद्योग तथा लौह उद्योग में संलग्न है।

[श्या० सुं० श०]

उपादान किसी वस्तु की तृष्णा से उसे ग्रहण करने की जो प्रवृत्ति होती है, उसे उपादान कहते हैं। प्रतीत्यसमुत्पादन की दूसरी कड़ी तण्हापच्चया उपादानं—इसी का प्रतिपादन करती है। उपादान से ही प्राणी के जीवन की सारी भाग दौड़ होती है, जिसे भव कहते हैं।

तृष्णा के न होने से उपादान भी नहीं होता, और उपादान के निरोध से भव का निरोध हो जाता है। यही निर्वाण के लाभ की दिशा है।

[भि० ज० का०]

उपाधि न्यायशास्त्र के पारिभाषिक शब्द अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर साथ रहनेवाली वस्तुओं में एक को हेतु और दूसरे को साध्य माना जाता है। कभी कभी अन्वय-व्यतिरेक में दोष हो जाने के कारण हम वास्तविक हेतु की जगह दूसरे को हेतु मान लेते हैं। ऐसा हेतु उपाधि कहलाता है। पारिभाषिक शब्दों में जो हेतु साध्य का व्यापक हो और साधन का व्यापक न हो उसे उपाधि कहते हैं। पर्वत में धुआँ है क्योंकि वहाँ आग है, यहाँ आग से धुएँ का अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि धुएँ के बिना भी आग संभव है। यदि यहाँ आग से गीली लकड़ी से युक्त आग का तात्पर्य हो तो धुएँ के अनुमान में आग की जगह वास्तविक हेतु "गीली लकड़ी से युक्त आग" होगी। गीली लकड़ी से युक्त होना साध्यभूत धूम का व्यापक है और साधनभूत वह्नि का व्यापक नहीं है, अतः यही उपाधि है। क्योंकि उपाधिभूत हेतु के कारण ही आग और धुएँ का संबंध हो सकता है, आग के कारण नहीं, इसलिये सोपाधिक हेतु से साध्य का अनुमान नहीं किया जा सकता। हेतु का सोपाधिक होना व्याप्यत्वासिद्ध दोष कहलाता है।

वेदांतशास्त्र में शुद्ध और अनंत चैतन्य को दूषित और सीमित करनेवाले माया, अविद्या, प्रकृति आदि तत्व को उपाधि कहते हैं। [रा० चं० पां०]

उपाध्याय (संस्कृत—उप+अधि+इण घञ्) इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—"उपेत्य अधीयते अस्मात्" जिसके पास जाकर अध्ययन किया जाय, वह उपाध्याय होता है। उपाध्याय ब्राह्मणों के एक वर्ग की संज्ञा भी है। मनुस्मृति के अनुसार वेद के एक भाग एवं वेदांग को वृत्ति लेकर पढ़ानेवाले शिक्षक को उपाध्याय कहते थे। "एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः। योऽध्यापयति वृत्त्यर्थ उपाध्यायः स उच्यते (मनु २:१४१)। यह आचार्य की अधीनता में शिक्षण कार्य किया करता था। संभवतः एक आचार्य के अधीन दस उपाध्याय शिक्षण कार्य करते थे ('उपाध्यायान् दशाचार्य : मनु २,१४६)। याज्ञवल्क्य (१,३५), वशिष्ठ (३,२१) और विष्णु (२८,२) के अनुसार भी वृत्ति लेकर अध्यापन करनेवाले शिक्षक की 'उपाध्याय' संज्ञा थी। वृत्ति लेकर पढ़ाना ब्राह्मणों के आदर्श के अनुरूप नहीं समझा जाता था, इसलिये संभवतः उपाध्याय के संबंध में नीतिकार ने कहा है—'उपाध्यायश्च वैद्यश्च ऋतुकाले वरस्त्रियः। सूतिका दूतिका नौका कार्यान्ते ते च शष्पवत्।"

बौद्ध साहित्य में भी उपाध्याय (उपज्झाय) के संबंध में अनेक निर्देश उपलब्ध हैं। महावग्ग (१–३१) के अनुसार उपसंपन्न भिक्षु को बौद्ध ग्रंथों की शिक्षा उपाध्याय द्वारा दी जाती थी। पढ़ने का प्रार्थनापत्र भी उसी की सेवा में प्रस्तुत किया जाता था (महावग्ग १–२५. ७)। इत्सिंग के विवरण से ज्ञात होता है कि जब उपासक प्रव्रज्या लेता था, तब उपाध्याय के संमुख ही उसे श्रम की दीक्षा दी जाती थी। दीक्षाग्रहण के पश्चात् ही उसे 'त्रिचीवर' भिक्षापात्र और निशीदान (जलपात्र) प्रदान करता था। उपसंपन्न भिक्षु को 'विनय' की शिक्षा उपाध्याय द्वारा ही दी जाती थी। केवल पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी उपाध्याय होती थीं। पतंजलि ने उपाध्याया की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'उपेत्याधीयते अस्याः सा उपाध्याया।'

उपाध्याय संस्था का विकास संभवतः इस प्रकार हुआ। धार्मिक संस्कार करने तथा धर्मतत्व का उपदेश देने का कार्य पहले कुल का मुख्य पुरुष वा कुलवृद्ध करता था। यही उपाध्याय होता था। प्रायः सब जातियों में यही पाया जाता है। भारतीय आर्यों में कुलपति ही उपाध्याय होता था। यहूदियों में 'अब्राहम आइजे' आदि कुलपति उपाध्याय का काम करते थे। अरब लोगों में शेख यह काम करता था। आज भी वह उस समाज का नेता तथा धार्मिक कृत्यों और मामलों में प्रमुख होता है। रोमन कैथोलिक और ग्रीक संप्रदाय में उपाध्याय का अधिकार मानने की प्रथा है।

[अ० कु० वि०]

उपासना परमात्मा की प्राप्ति का साधनविशेष। 'उपासना' का शब्दार्थ है अपने इष्टदेवता के समीप (उप) स्थिति या बैठना (आसन)। आचार्य शंकर की व्याख्या के अनुसार 'उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्त विधि से बुद्धि का विषय बनाकर उसके समीप पहुँचकर तैलधारा के समान समानवृत्तियों के प्रवाह से दीर्घकाल तक उसमें स्थिर रहने को उपासना कहते हैं' (गीता १२।३ पर शांकर भाष्य)। उपासना के लिये व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों आधार मान्य हैं, परंतु अव्यक्त की उपासना में अधिकतर क्लेश होता है और इसीलिये गीता (१२।५) व्यक्तोपासना को सुलभ, सद्यः फलदायक तथा सुबोध मानती है। जीव वस्तुतः शिव ही है, परंतु अज्ञान के कारण वह इस प्रपंच के पचड़े में पड़कर भटकता फिरता है। अतः ज्ञान के द्वारा अज्ञान की ग्रंथि का उन्मीलन कर स्वशक्ति की अभिव्यक्ति करना ही उपासना का लक्ष्य है जिससे जीव की दुःख प्रपंच से सद्यः मुक्ति संपन्न होती है (अज्ञान ग्रंथिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः—परमार्थसार, कारिका ६०)। उपासना के साधारणतया दो मार्ग उपदिष्ट हैं—ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग। ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश कर जब परमतत्व का साक्षात्कार संपन्न होता है, तब उस उपासना को ज्ञानमार्गीय संज्ञा दी जाती है। भक्तिमार्ग में भक्ति ही भगवान् के साक्षात्कार का मुख्य साधन स्वीकृत की जाती है। भक्ति ईश्वर में सर्वश्रेष्ठ अनुरक्ति (सा परानुरक्तिरीश्वरे—शांडिल्यसूत्र) है। सर्वसाधारण के लिये ज्ञान मार्ग कठिन, दुर्गम तथा दुर्बोध होता है (क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति—कठ० १।३।१४)। भागवत (१०।१४।४) ने ज्ञानमार्गीय उपासना को भूसा कूटने के समान विशेष क्लेशदायक बतलाया है। अधिकारी भेद से दोनों ही मार्ग उपादेय तथा स्वतंत्र रूप से फल देनेवाले हैं।

उपासना में गुरु की बड़ी आवश्यकता है। गुरु के उपदेश के अभाव में साधक अकर्णधार नौका के समान अपने गंतव्य स्थान पर पहुँचने में कथमपि समर्थ नहीं होता। गुरु 'दीक्षा' के द्वारा शिष्य में अपनी शक्ति का संचार करता है। दीक्षा का वास्तविक अर्थ है उस ज्ञान का दान जिससे जीव का पशुत्वबंधन कट जाता है और वह पाशों से मुक्त होकर शिवत्व प्राप्त कर लेता है। अभिनवगुप्त के अनुसार दीक्षा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है :

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुबंधना।
दान-क्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता।

(तंत्रालोक, प्रथम खंड, पृ० ८३)।

श्रीवैष्णवों की उपासना पाँच प्रकार की मानी गई है—अभिगमन (भगवान् के प्रति अभिमुख होना), उपादान (पूजार्थ सामग्री), इज्या (पूजा), स्वाध्याय (आगम ग्रंथों का मनन) तथा योग (अष्टांग योग का अनुष्ठान)।

[ब० उ०]

उपेंद्र भंज उड़िया साहित्य के ये महान् कवि सन् १६८५ ई० से १७२५ ई० तक जीवित रहे। उनके पिता का नाम नीलकंठ एवं दादा का नाम धनंजय भंज था। दो साल राज्य करने के बाद नीलकंठ अपने भाई घनभंज के द्वारा राज्य से निकाल दिए गए। नीलकंठ के जीवन का अंतिम भाग नयागढ़ में व्यतीत हुआ था। उपेंद्र भंज के बारे में यह कहा जाता है कि इसने नयागढ़ के निवासकाल में 'ओड़गाँव' के मंदिर में विराजित देवता श्रीरघुनाथ जी को 'रामतारक' मंत्रों से प्रसन्न किया था और उनके ही प्रसाद से उन्होंने कवित्वशक्ति प्राप्त की थी। संस्कृत भाषा में न्याय, वेदांत, दर्शन, साहित्य तथा राजनीति आदि सीखने के साथ ही उन्होंने व्याकरण और अलंकार शास्त्र का गंभीर अध्ययन किया था। नयागढ़ के राजा लड़ुकेश्वर मांधाता ने उन्हें 'वीरवर' उपाधि से भूषित किया था। पहले उन्होंने बाणपुर के राजा की कन्या के साथ विवाह किया था, किंतु थोड़े ही दिनों बाद उनके मर जाने के कारण नयागढ़ के राजा की बहन को उन्होंने पत्नी रूप में ग्रहण किया। उनका दांपत्य जीवन पूर्ण रूप से अशांत रहा। उनके जीवन काल में ही द्वितीय पत्नी की भी मृत्यु हो गई। कवि स्वयं चालीस वर्ष की आयु में निःसंतान अवस्था में मरे।

उपेंद्र भंज रीति युग के कवि हैं। वह लगभग पचास काव्यग्रंथों के निर्माता हैं। इनमें से बीस ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। उनके लिखित काव्यों में लावण्यवती, कोटिब्रह्मांडसुंदरी, और वैदेहीशविलास सुप्रसिद्ध हैं। उड़िया साहित्य में रामचंद्र छोटराय से लेकर यदुमणि तक २०० वर्ष पर्यंत

जिस रीतियुग का प्राधान्य रहा उपेंद्र भंज उसी के सर्वाग्रगण्य कवि माने जाते हैं। उनकी रचनाओं में महाकाव्य, पौराणिक तथा काल्पनिक काव्य, संगीत, अलंकार और चित्रकाव्य अंतर्भुक्त हैं। उनके काव्यों में वर्णित विवाहोत्सव, रणसज्जा, मंत्रणा तथा विभिन्न त्यौहारों की विधियाँ आदि उत्कल की बहुत सी विशेषताएँ मालूम पड़ती हैं। उनकी रचनाशैली नैषध की सी है जिसमें उपमा, रूपकादि अलंकारों का प्राधान्य है। अक्षर-नियम और शब्दपांडित्य से उनकी रचना दुर्बोध लगती है। उनके काव्यों में नारी-रूप-वर्णन में बहुत सी जगहों पर अश्लीलता दिखाई पड़ती है। परंतु वह उस समय प्रचलित विधि के अनुसार है। उस समय के काव्यों में शृंगार का ही प्राचुर्य रहता था।

दीनकृष्ण, भूपति पंडित और लोकनाथ विद्याधर आदि विशिष्ट कविगण उपेंद्र के समकालीन थे। उन सब कवियों ने राजा दिव्यसिंह के काल में ख्याति प्राप्त की थी। उपेंद्र के परवर्ती जिन कवियों ने उनकी रचनाशैली का अनुसरण किया उनमें अभिमन्यु, कविसूर्य बलदेव और यदुमणि प्रभृति माने जाते हैं। आधुनिक कवि राधानाथ और गंगाधर ने भी बहुत हद तक उनकी वर्णनशैली अपनाई।

उड़िया साहित्य में उपेंद्र एक प्रमुख संस्कारक थे। संस्कृतज्ञ पंडितों के साथ प्रतियोगिता में उतरकर उन्होंने बहुत से आलंकारिक काव्यों की भी रचना की। धर्म और साहित्य के बीच एक सीमा निर्धारित करके उन्होंने धर्म से सदैव साहित्य को अलग रखा। उनकी रचनाओं में ऐसे बहुत से देवताओं का वर्णन मिलता है पर प्रभु जगन्नाथ का सबसे विशेष स्थान है। वैदेहीश विलास उनका सबसे बड़ा काव्य है जिसमें प्रत्येक पंक्ति का प्रथम अक्षर 'व' ही है। इसी प्रकार 'सुभद्रा परिणय' और 'कला कउतुक' काव्यों की प्रत्येक पंक्ति यथाक्रम 'स' और 'क' से प्रारंभ हुई है। उनके रस-पंचक काव्य में साहित्यिक रस, दोष और गुणों का विवेचन किया गया है। अवनारसतरंग एक ऐसा काव्य है जिसमें किसी भी स्थान पर मात्रा का प्रयोग नहीं हुआ है। शब्दप्रयोग के इस चमत्कार के अतिरिक्त उनकी इस रचना में और कोई मौलिकता नहीं है। उनके काव्यों में वर्णन की एकरूपता का प्राधान्य है। पात्रपात्रियों का जन्म, शास्त्राध्ययन, यौवनागम, प्रेम, मिलन और विरह सभी काव्यों में प्रायः एक से हैं। उनके काल्पनिक काव्यों में वैदेहीश विलास सर्वश्रेष्ठ है।

उन्होंने 'चौपदीभूषण', 'चौपदीचंद्र' प्रभृति कई संगीतग्रंथ भी लिखे हैं जो उड़ीसा प्रांत में बड़े जनप्रिय हैं। उनकी संगीत पुस्तकों में आदिरस और अलंकारों का प्राचुर्य है। कवि की कई पुस्तकें मद्रास, आंध्र, उत्कल और कलकत्ता विश्वविद्यालयों में पाठ्य रूप में गृहीत हैं। वैदेहीश विलास, 'कोटिब्रह्मांडसुंदरी', लावण्यवती, प्रेमसुधानिधि, अवनारसतरंग, कलाकउतुक, गीताभिधान, छंदमंजरी, बजारबोली, चउपदी हारावली, छांद भूषण, रसपंचक, रामलीलामृत, चौपदीचंद्र, सुभद्रापरिणय, चित्रकाव्य-बंधोदय, दशपोइ, यमकराज चउतिशा और पंचशायक प्रभृति उनकी कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। [गो० वि० ध०]

उपोसथ बौद्ध भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों की पाक्षिक दोष-स्वीकार-सभा को 'उपोसथ' कहते हैं (संस्कृत उपवसथ=सोमयाग का दिन)। प्रारंभ में बौद्ध संघ में उपोसथ के चार दिन हुआ करते थे—प्रत्येक पक्ष की अष्टमी तथा चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा और अमावास्या। पीछे चार से घटाकर दो दिन नियत कर दिए गए—पूर्णिमा और अमावास्या। उस दिन विहार की सीमा के भीतर रहनेवाले भिक्षुओं को उपोसथ सभा में उपस्थित होना पड़ता था। सभा का सभापति 'पातिमोक्ख-सुत्त' का पाठ करता था और प्रत्येक भिक्षु को अपने विहित दोषों को प्रख्यापित करने की आज्ञा देता था। यदि प्रख्यापनों के द्वारा दोष साधारण कोटि के सिद्ध होते, तो दोष के स्वीकार मात्र से वह भिक्षु दोषमुक्त माना जाता था। अन्यथा उसे सभा छोड़ना तथा भिक्षुसमिति के द्वारा विहित दंड भोगना पड़ता था। उपासकों (बौद्ध गृहस्थों) को इन दिनों अष्टशीलों का पालन करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती और भिक्षुओं को भोजन कराना पड़ता था। पातिमोक्खसुत्त विनयपिटक के अंतर्गत है और इसमें भिक्षुओं के पालन के निमित्त २२७ नियमों का वर्णन है। 'भिक्षुणी-पातिमोक्ख' में भिक्खुणियों के पालनार्थ ऐसे ही नियमों का निर्देश है तथा कतिपय नियम और भी जोड़े गए हैं। [ब० उ०]

उबांगी अथवा मोबांगी विषुवत रेखीय अफ्रीका में बहनेवाली कांगो की सहायक नदी है। इसकी अधिकतम लंबाई १,४०० मील है। यह कई धाराओं में ०°२२' एवं ०°३०' दक्षिण अक्षांशों और १७° ४०' एवं १७° ५०' पूर्व देशांतरों के भीतर कांगो में मिलती है। बोमू तथा यूले नामक नदियों के मिलने से उबांगी बनती है। आगे चलकर कूमा नदी उबांगी में आकर मिलती है। संगम से नीचे दक्षिण की ओर उबांगी में एक बड़ा घुमावदार मोड़ है, उसके बाद जहाँ नदी पर्वतों के मध्य से होकर निकलती है वहाँ जोंगो या ग्रेनफेल नामक लघु जलप्रपात (रैपिड्स) हैं। इस कारण यातायात के लिये उबांगी अयोग्य है, केवल बाढ़ के दिनों में छोटी छोटी नौकाएँ चल सकती हैं। जोंगो से ऊपर की ओर यूले, बोमू संगम तक नदी यातायात के योग्य है। [श्या० सुं० श०]

उभयचर (ऐंफ़िबिया) यह पृष्ठवंशीय प्राणियों का एक बहुत महत्वपूर्ण वर्ग है जो वर्गीकरण के अनुसार मत्स्य और सरीसृप वर्गों के बीच की श्रेणी में आता है। इस वर्ग के कुछ जंतु सदा जल पर, कुछ थल पर तथा कुछ जल और थल दोनों पर रहते हैं। यह पृष्ठवंशियों का प्रथम वर्ग है, जिसने जल के बाहर रहने का प्रयास किया था। फलस्वरूप नई परिस्थितियों के अनुकूल इनकी रचना में प्रधानतया तीन प्रकार के अंतर हुए—(१) इनका शारीरिक ढाँचा जल में तैरने के अतिरिक्त थल पर भी रहने के योग्य हुआ। (२) क्लोम दरारों के स्थान पर फेफड़ों का उत्पादन हुआ तथा रक्तपरिवहन में भी संबंधित परिवर्तन हुए। (३) ज्ञानेंद्रियों में यथायोग्य परिवर्तन हुए, जिससे ये प्राणी जल तथा थल दोनों परिस्थितियों का ज्ञान कर सकें। उभयचर के कुछ विशेष लक्षण निम्नलिखित हैं: इनकी त्वचा पर किसी प्रकार का बाह्य कंकाल, जैसे शल्क, बाल इत्यादि नहीं होते और त्वचा आर्द्र होती है। मीनपक्षों के स्थान पर दो जोड़ी पाद होते हैं। इनमें दो नासाद्वार होते हैं, जो मुखगुहा द्वारा फेफड़ों से संबद्ध रहते हैं। हृदय में तीन वेश्म होते हैं। ये असमतापी जीव होते हैं। इनमें एक विशेष प्रकार का मध्यकर्ण पाया जाता है जिससे इन्हें वायुध्वनियों का ज्ञान होता है।

उभयचर वर्ग में लगभग २,५०० प्रकार के विभिन्न प्राणी संमिलित हैं, जिनको चार गणों में विभाजित किया जाता है: सपुच्छा (कॉडेटा); विपुच्छा (सेलियंशिया); अपादा (ऐपोडा) और आवृतशीर्ष (स्टीगोसिफेलिया)।

सपुच्छा—इसके अंतर्गत न्यूट तथा सैलामैंडर आते हैं। इनका शरीर लंबा और सिर तथा धड़ के अतिरिक्त पूँछ भी होती है। बहुधा अग्र तथा पश्चपाद लगभग बराबर होते हैं। अधिकतर जलक्लोम तथा क्लोम दरारें आजीवन रहती हैं, परंतु कुछ में ये वयस्क अवस्था में लुप्त हो जाती हैं और श्वसन केवल फेफड़ों द्वारा ही होता है। ये प्राचीन काल में खटी युग (क्रिटेशस) तक पाए गए हैं। यद्यपि इनका साधारण आकार इनके पूर्वजों से मिलता जुलता है, फिर भी इनकी उत्पत्ति पर अधिक प्रकाश अभी तक संभव नहीं हो सका है।

नेकट्यूरस—यह एक प्रकार का सपुच्छा है जिसको पानी का कुत्ता भी कहते हैं। यह लगभग १२ इंच तक लंबा होता है और अमरीका की नदियों में पाया जाता है। इसमें फेफड़े तथा तीन चौड़ी जलश्वसनिकाएँ
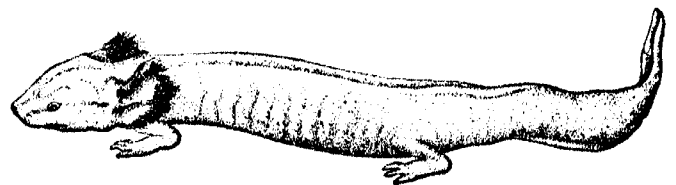
प्लव पुच्छ (नेकट्यूरस)

पाई जाती हैं तथा दोनों ही स्थायी रूप से आजीवन रहती हैं। छोटी छोटी मछलियाँ, शंख तथा पानी के अन्य कीड़े मकोड़े इसका मुख्य आहार हैं। इसकी एक विशेषता यह भी है कि मादा पत्थरों के नीचे अंडे देती है और उनकी देखभाल स्वयं करती है। **प्रोटियस** भी नेकट्यूरस से मिलता जुलता

जीव है जो यूरोप में पानी की गहरी खाइयों इत्यादि में रहता है। इसी कारण इसकी त्वचा में रंगों का अभाव रहता है। इसकी आँखें त्वचा से ढकी रहती हैं।
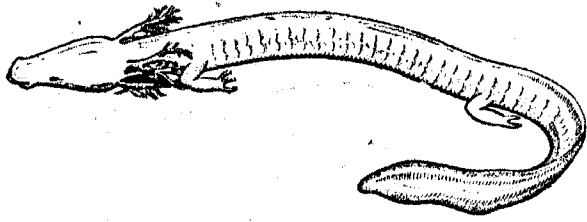
गुहासर्पिका (प्रोटियस)

सैलामैंडरों में ऐंफ़ियूमा को छोड़कर क्रिप्टोब्रैंकस, एंबीस्टोमा, ट्राइटन और प्लीथोडोन इत्यादि में प्रौढ़ अवस्था में किसी में जलश्वसनिकाएँ नहीं होती हैं। क्रिप्टोब्रैंकस लगभग २ फुट लंबा साँड़े के आकार का उत्तरी अमरीका की नदियों में पाया जानेवाला जीव है। अन्य सैला-

उभयतःश्वासी (ऐंफ़ियमा)

मैंडरों की अपेक्षा इसके शरीर की त्वचा में अनेक झुर्रियाँ सी होती हैं। पूर्वी चीन तथा जापान में पाई जानेवाली इसकी जाति, मेगालोबैट्रैकस ५३ फुट से भी अधिक लंबी होती है। एंबीस्टोमा उत्तरी अमरीका का एक सैलामेंडर है जो प्रौढ़ अवस्था में थल पर ही रहता है। इसमें यह विशेषता है कि इसके डिंभ, जिनको ऐक्स्लॉट्ल कहते हैं और जिनमें बाह्य जल-

नर सरटिका (ट्राइट्यूरस)
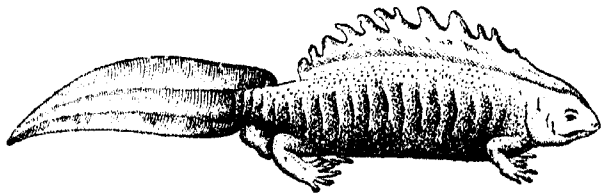
श्वसनिकाएँ रहती हैं, वयस्क अवस्था के पहुँचने के पहले ही लैंगिक रूप से पूर्णतया परिपक्व हो जाते हैं। प्राणियों के इस प्रकार वयस्क अवस्था में लैंगिक रूप से परिपक्व होने की क्रिया को नियोटनी कहते हैं। ट्राइट्यूरस, जिसको साधारणतया न्यूट भी कहते हैं, उत्तरी अमरीका, यूरोप और

मुस्सर्पिका (साइरिन)

पूर्वी एशिया में मिलता है। यह अधिकतर सदा स्थल पर ही रहता है और थलीय जीवन का इतना आदी हो जाता है कि किसी समय भी जल में नहीं जाता। इसी कारण इसमें जलश्वसनिकाएँ तथा क्लोम दरारें नहीं होती और इसका श्वसन केवल फेफड़ों द्वारा ही होता है। कुछ मादा न्यूट्स का

रंग जननकाल में बहुत चटकीला हो जाता है और पीठ पर एक लंबी शिखर-रूपी त्वचा की पट्टी बढ़ जाती है। ऐंफियूमा कांगो के दलदलों तथा धान के खेतों में पाया जाता है। यह लगभग ३ फुट तक लंबा, ईल मछली से मिलता जुलता प्रतीत होता है। इसी कारण वहाँ के निवासी इसको कांगो की ईल भी कहते हैं। परंतु इनमें गलफड़ों के अतिरिक्त फेफड़े, जलश्वसनिका तथा पाद वर्तमान रहते हैं। केवल प्लीथोडोन, जो आकार में छिपकली के समान ६ इंच लंबा होता है, स्थलीय होने पर भी फेफड़ा रहित होता है। प्लीथोडोन में बहुधा मादा अपने अंडों की रक्षा करती है। सपुच्छा समूह के कुछ जीव पतले, लंबे तथा पश्चपाद अथवा पलकरहित होते हैं। इनको साइरेन कहते हैं। ये मध्य अमरीका के गंदे तालाबों तथा गड्ढों में पाए जाते हैं और तीन जोड़ी जलश्वसनिकाओं द्वारा साँस लेते हैं।
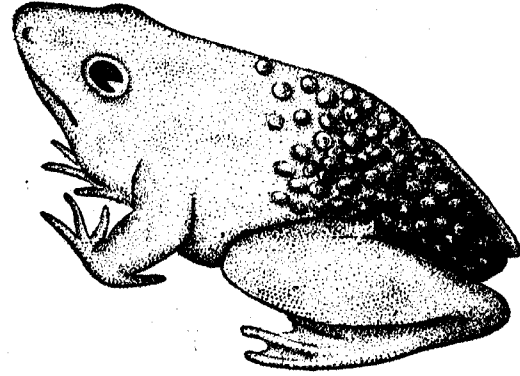
पाइपा मेढक की मादा

विपुच्छा पुच्छरहित उभयचर हैं। इनके अंतर्गत मेढकों तथा भेकों (बड़े मेढकों) की १,७०० से भी अधिक जातियाँ संमिलित हैं। इनमें ग्रीवा नहीं होती। अग्रपाद छोटे तथा पश्चपाद लंबे होते हैं, जो इनके तैरने तथा छलाँग मारने में सहायक होते हैं। इस समूह के कुछ प्राणी केवल जल या थल और कुछ दोनों में रहते हैं; कुछ, जैसे हाइला, पेड़ों पर भी पाए जाते हैं। वे जो सदा थल पर रहते हैं; अंडे देने के समय पानी में अवश्य चले जाते हैं। डिंभ अवस्था में पूँछ होती है जो वयस्क होने पर लुप्त हो जाती है। पुच्छ-कशेरुकों के जुड़ने से एक पुच्छदंड बनता है, जो धड़ के पीछे के भाग में स्थापित रहता है। विपुच्छों में संसेचन क्रिया केवल न्यूज़ीलैंड के साँड़ भेक (बुल-फ्रॉग) को छोड़कर शरीर के बाहर ही होती है और इनके भ्रूण-विकास में एक महत्वपूर्ण रूपांतर होता है।
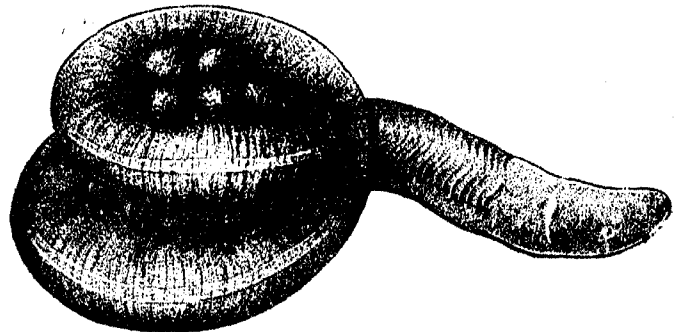
इकथियोपिस

पुच्छरहित उभयचर दुनिया के लगभग प्रत्येक भाग में पाए जाते हैं, परंतु बहुत अधिक गर्मी तथा सर्दी होने पर मिट्टी के भीतर घुस जाते हैं और तब इनके शरीर की सारी क्रियाएँ शिथिल हो जाती हैं। जीवन के इस विभेदन को ग्रीष्म या शीतनिष्क्रियता कहते हैं। ये जीव बहुधा २ से लेकर ५ इंच तक लंबे होते हैं, परंतु पश्चिमी अफ्रीका का **राना गोलिअथ** नामक भेक लगभग १२ इंच तथा दक्षिणी अमरीका का साँड़ भेक ८ इंच लंबा होता

है। इसके विपरीत क्यूबा देश का पेड़ पर रहनेवाला भेक (फाइलोबेटिस) केवल ½ इंच का ही होता है। कुछ विपुच्छों में अंडों की रक्षा करने के अनेक साधन पाए जाते हैं। यूरोप का नर ऐलिटीज मेडक अंडों को अपने पश्चपाद में चिपकाकर इधर उधर लिए फिरता है तथा अफ्रीका के पाइपा की मादा अंडों को अपनी पीठ की त्वचा पर छोटे छोटे गड्ढों में रखकर उनकी रक्षा करती है।

अपादा—इनको सिसिलिअंस अथवा जिमनोफाइओना भी कहते हैं। ये अधिकतर उष्ण कटिबंध में पाए जाते हैं। ये पादरहित, लगभग एक फुट लंबे, कृमि रूपी उभयचर हैं, जो भूमि के अंदर बिलों में रहते हैं। कदाचित् इन परिस्थितियों के कारण इनमें पादों के साथ पादमेखला का भी लोप हो जाता है और नेत्र अत्यंत छोटे तथा कार्यहीन हो जाते हैं। अन्य उभयचरों से ये इस बात में भिन्न होते हैं कि इनमें त्वचा के नीचे छोटे छोटे शल्क होते हैं। पूँछ बहुत छोटी तथा श्वसन केवल फेफड़ों द्वारा और संसेचन आंतरिक होता है। इकथियोफिस भारतवर्ष में तथा साइफ़ोनॉप्स अमरीका में पाए जाते हैं और अंडे देने के उपरांत उनके चारों ओर लिपटकर उनकी रक्षा करते हैं।

स्टीगोसिफेलिया—उभयचरों की कुछ जातियाँ, जो आज से लाखों वर्ष पूर्व पाई जाती थीं परंतु अब नहीं मिलतीं, इस समुदाय में संमिलित हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनके कपाल और हनु भी अस्थियों से ढके रहते थे। कुछ प्राणी, जैसे डिपलोकॉलस, छोटे सैलामैंडरों के समान तथा इओग्राइनस १५ फुट तक लंबे होते थे। ये सदा जल में ही रहा करते थे। स्टीगोसिफेलिया के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उभयचर वर्ग की उत्पत्ति संभवतः किसी प्राचीन मत्स्यरूपी प्राणी से हुई होगी, जो पहले जल में रहते रहे होंगे। परंतु खटी युग में जल के जगह जगह पर सूख जाने के कारण इन प्राणियों को थल पर चलने तथा वायु में श्वास लेने का प्रयास करना पड़ा। फलस्वरूप इनमें अनेकानेक शारीरिक परिवर्तन हुए और एक नए वर्ग का प्रारंभ हुआ। [ह० शं० चौ०]

उभयलिंगी

जीव या पादप उसे कहते हैं जो एक ही समय अथवा विभिन्न समयों पर स्त्री तथा पुरुष दोनों प्रकार की प्रजनन-कोशिकाएँ उत्पन्न करता है। इसके स्पष्ट उदाहरण जंतुओं तथा पादपों, दोनों में मिलते हैं, जैसे केंचुओं में तथा कई प्रकार की काइयों में। यहाँ नर और मादा प्रजनन अंग एक ही व्यक्ति में काम करते हैं। यद्यपि जंतुओं और पौधों के जीवनचक्रों में महान् अंतर है तब भी उन पौधों को उभयलिंगी कहते हैं, जिनमें नर और मादा दोनों प्रकार के फूल लगते हैं, जैसे कुम्हड़ा, खीरा इत्यादि में। जंतु संसार में नर और मादा अंग अधिकतर विभिन्न व्यक्तियों में रहते हैं।

जंतुओं में उभयलिंगी दो प्रकार के होते हैं—(१) कार्यकारी तथा (२) अकार्यकारी। अकार्यकारी उभयलिंगत्व कई रूपों का होता है। नर भेक (टोड) में अंडकोष के अतिरिक्त एक अविकसित अंडाशय भी होता है। कुछ कठिनियों (क्रस्टेशिया) या तिलचट्टों के अंडकोषों में अकार्यकारी अंडे भी रहते हैं। मीनवेधियों (हैगफ़िश) में ऐसे व्यक्तियों से लेकर जिनके कपूरा में एक अंड होता है, ऐसे व्यक्ति तक होते हैं जिनके अंडाशय के भीतर कपूरा का एक भाग होता है।

कार्यकारी उभयलिंगत्व के उदाहरण ऐसे व्यक्ति हैं जो प्रजनन के विचार से (जेनेटिकली) एक लिंग (सेक्स) के हैं, परंतु उनके जननपिंड (गोनैड्स) से निकली हुई उपज बदलती रहती है, उदाहरणतः कुछ घोंघों (स्नेल्स) और शुक्तियों (आयस्टर्स) में ऐसे मादा जीव होते हैं जो पहले शुक्राणु उत्पन्न करते हैं और पीछे अंडे।

लाइमैक्स मैक्सिमस नामक मृदु मंथर प्रथम मादा, फिर क्रमानुसार उभयलिंगी, नर उभयलिंगी और फिर मादा का कार्य करता है। अभी तक पता नहीं चल सका है कि किस कारण इस प्रकार लिंगपरिवर्तन होता है। कुछ समूहों में पूरा जीव ही बदल जाता है; उदाहरणतः कुछ समपाद (आइसोपाड) क्रस्टेशिया के डिंभ (लार्वा), जब तक वे स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते हैं, नर रहते हैं, परंतु अन्य क्रस्टेशिया पर परोपजीवी होने के पश्चात् वे मादा हो जाते हैं। दूसरी ओर, परिस्थिति में बिना कोई उल्लेखनीय परिवर्तन दिखाई पड़े ही, ट्राइसोफिस ऑरेटस नामक सामुद्रिक मछली पारी पारी से शुक्राणु और डिंभाणु उत्पन्न करती है।

उभयलिंगियों में स्वयंसेचन अत्यंत असाधारण है, जिसका कारण यह होता है कि नर तथा मादा युग्मक (गैमीट) विभिन्न समयों पर परिपक्व होते हैं, या उनके शरीर की आंतरिक संरचना ऐसी होती है कि स्वयंसेचन असंभव होता है।

कार्यकारी उभयलिंगत्व प्रजीवों (प्रोटोज़ोआ) से लेकर आद्य रज्जुमंतों (कारडेट्स) तक, अर्थात् केवल निम्न कोटि के जंतुओं में, होता है, परंतु उच्च कोटि के कशेरुक-दंडियों में यह गुणधर्म प्रायः अज्ञात है। ऐसा संभव जान पड़ता है कि विशेष परिस्थितियों से उभयलिंगत्व उत्पन्न होता है। यह भी अनुमान किया जाता है कि उभयलिंगत्व वंशनाश से सुरक्षा करता है।

मनुष्यों में वास्तविक उभयलिंगी नहीं देखे गए हैं, यद्यपि अंगों का कुविकास यदाकदा दोनों लिंगों की विद्यमानता का आभास उत्पन्न करता है। कभी कभी तो परिस्थिति ऐसी रहती है कि नवजात शिशु के लिंग (सेक्स) का पता ही नहीं चलता।

सं०ग्रं०—आर० गोल्डश्मिट : मिकैनिज्म ऐंड फिज़िऑलोजी ऑव सेक्स डिर्टमिनेशन (१९२३); एम० जे० डी० ह्वाइट : ऐनिमल साइटॉलोजी ऐंड एवोल्यूशन (१९४५)।

उभाड़दार छपाई

ऐसी छपाई जिसमें अक्षर उभड़े हुए रहते हैं उभाड़दार छपाई या समुद्भरण (एमबॉसिंग) कहलाती है। यह छपाई पीतल के ठप्पे से होती है जिसमें अक्षर धँसे रहते हैं। छपाई साधारणतः हाथ से चालित, पेच के प्रयोग से दाब उत्पन्न करनेवाले, छोटे प्रेसों से की जाती है। ठप्पे को अपने नियत स्थान पर नीचे कस दिया जाता है। ठप्पे पर आकर पड़नेवाली पीठिका पर गत्ता चिपका दिया जाता है। फिर प्रेस के हैंडल को जोर से चलाया जाता है। इससे ठप्पे और पीठिका के बीच गत्ता इतने बल से दबता है कि उसका कुछ भाग ठप्पे के गड्ढों में घुस जाता है और गत्ता ठप्पे के अनुसार रूप ले लेता है। अंतर इतना ही होता है कि जहाँ ठप्पे में गड्ढा रहता है वहाँ गत्ता उभड़ा रहता है। अब छपाई हो सकती है। इसके लिये ठप्पे पर विशेष (बहुत गाढ़ी) स्याही लगा दी जाती है और फिर उसे कागज से रगड़कर पोंछ दिया जाता है। इस प्रकार ठप्पे का सपाट भाग पूर्णतया स्वच्छ हो जाता है, केवल गड्ढे में स्याही लगी रह जाती है। फिर उस कागज को जिसपर छपाई करनी रहती है ठप्पे पर उचित स्थान पर रखकर प्रेस के हैंडल को जोर से चलाया जाता है। जब गत्ता ऊपर से कागज को दबाता है तो गत्ते के उभड़े भाग कागज को ठप्पे के गड्ढों में धँसा देते हैं। हैंडल को उलटा घुमाकर कागज को सँभालकर उठा लेने पर उसपर उभाड़दार छपाई दिखाई देती है। इसी प्रकार एक एक करके सब कागज छाप लिए जाते हैं। जहाँ इस प्रकार की छपाई बहुत करनी होती है वहाँ ऐसी मशीन का उपयोग किया जाता है जिसमें स्याही लगाने, पोंछने और गत्तेवाली पीठिका को चलाने का काम अपने आप होता रहता है।

जलचालित शक्तिशाली प्रेसों में पुस्तक के मोटे आवरणों पर इसी सिद्धांत पर उभड़ी या धँसी और स्याहीदार या बिना स्याही की छपाई की जाती है। समुद्भरण के अंतर्गत केवल छपाई ही नहीं है; धातु की चादर, प्लैस्टिक, कपड़े आदि पर भी उभड़ी हुई आकृतियाँ इसी सिद्धांत पर बनी विशेष मशीनों द्वारा छापी जाती हैं। एक बेलन पर छिछला उत्कीर्णन खुदा रहता है। दूसरे बेलन पर गत्ता या नमदा रहता है, या उसपर पहले के अनुरूप ही उभड़ा उत्कीर्णन रहता है। मशीनों में ये दोनों बेलन एक दूसरे को छूते हुए घूमते रहते हैं। इन दोनों के बीच डाली गई चादर आदि पर उभाड़दार आकृतियाँ बन जाती हैं।

सोने के आभूषणों पर उभाड़दार उत्कीर्णन करने के लिये सोने के पत्र को लाख (चपड़ा) और तारपीन आदि के रूपद (अर्ध-लचीले) मिश्रण पर रखकर पीठ की ओर से विविध यंत्रों द्वारा ठोकते हैं। फिर पत्र को उलटकर आवश्यक स्थानों पर सामने से उत्कीर्णन करते हैं।

[स० ला० गु०]

उमर खय्याम

संगीतमय फ़ारसी रुबाइयों के प्रसिद्ध रचयिता अबुल फ़तह उमर बिन इब्राहीम अल खय्यामी अथवा खय्याम (खेमा सीनेवाले) के विषय में यद्यपि यूरोप एवं एशिया के अनेक उच्च कोटि के विद्वान् लगभग १०० वर्ष से शोधकार्य में संलग्न हैं किंतु अभी